माँ और बाबूजी के लिये

जिन्होंने इतना सुन्दर संसार

मुझे सौंपा

और यह समझ दी

कि उद्यम और प्रयत्न से

सुन्दरता उपजती है

यह पुस्तक

यह पुस्तक 'कथादेश' (मासिक) में मार्च 2005 से अप्रैल 2007 तक धारावाहिक रूप से प्रकाशित स्तम्भ 'कहानी की उपस्थिति' के अन्तर्गत लिखी टिप्पणियों का संग्रह है। ये टिप्पणियाँ हमारे जीवन में इतिहास की नई शक्तियों के आविर्भाव और उनकी दुस्साहसिक सक्रियता के चलते घटित हो रहे परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी कहानी के स्वरूप में इधर हुए बदलाव को जानने-समझने की कोशिश में लिखी गयी हैं। इन्हें इस आग्रह के साथ यहाँ संकलित किया गया है कि इन्हें विधिवत आलोचना समझ कर पढ़ने की बजाये पाठकीय जिज्ञासा की फलश्रुति के रूप में देखा जाये।

जिज्ञासा यही है कि कहानी और यथार्थ के बीच विकसित सहज सम्बन्ध और उनके मान्य समीकरण में किस तरह से विक्षेप उत्पन्न हुआ है। इसे जानने की कोशिश में कहानी के गहरे अतीत की थाह होने की चेष्टा भी की गई है, जब सदियों पहले वह अपने मूलतः वाचिक प्रारूप में आविर्भूत हुई थी और कालान्तर में आधुनिक देहकल्प प्राप्त कर उसने मुद्रित पाठ में अपनी सज-धज संजोयी थी। तब से आज तक वह निरन्तर बदलती चली गयी है।

हिन्दी में आधुनिक कहानी का चलन सौ बरस से अधिक समय से है। इस दौरान वह न सिर्फ़ लोकप्रिय विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुई है, बल्कि उसे रूप-गठन, चाल-चलन, स्वभाव में भी ख़ासा बदलाव हुआ है। जीवन-यथार्थ के साथ रिश्ता बनाते हुए कहानी ने उसे एक ख़ास तरह के सर्जनात्मक गठन में प्रस्तुत करने का जतन किया है और इस प्रक्रिया में स्वयं अपना यथार्थ अर्जित किया है, जो समाज में निर्मित यथार्थ का कोरा अनुवाद नहीं, बल्कि एक स्वायत्त निर्मिति है। कहानी के इस स्वायत्त संसार के भीतर दाख़िल होकर पाठक अपने ही संसार और उसमें सुगबुगाते यथार्थ को नये सिरे से पहचानता और चकित होता है।

कभी कहानी विस्मय और जिज्ञासा की जादुई छुअन से इस कदर उत्तेजित हुआ करती थी कि अपने चारों तरफ़ फैली वास्तविकता की सरहद को लाँघ कर अयथार्थ के इंद्रजाल में कूद पड़ती थी, और फँतासी या फ़ेबल बन जाया करती थी। यह आधुनिकता के आगमन के पूर्व का समय था जब जीवन आज की तरह जटिल न था। यथार्थ इतना खुला-प्रकट, इतना स्व-प्रमाणित और सरल था कि कहानी उसे सत्यापित करने या उसे तथ्यात्मक ब्योरों में सहेजने की झंझट से मुक्त होकर अपने कल्प-लोक में सैर करने को स्वतंत्र थी। यहाँ वह देर तक ठहर कर, तल्लीन होकर अपना निजी संसार और अपना स्वप्न गढ़ सकती थी। उसे यथार्थ के साथ रोमांस की भरपूर

स्वतंत्रता थी जो उसकी अनौपचारिक और उन्मुक्त देह-छवि से भी प्रकट होती थी।

मगर आधुनिक चेतना का शाप लगते ही कहानी अहल्या की तरह लिखित-मुद्रित पाठ में—अपनी अर्वाचीन गद्य-देह में—शिलीभूत हो गयी। आज तक वह शापमुक्त नहीं हो सकी है।

आज सभ्यता की उन्नत अवस्था में जीवन-यथार्थ अत्यन्त जटिल हो चुका है। पूँजी, प्रविधि और बाज़ार के संयुक्त उद्यम से निर्मित यह आधुनिकोत्तर यथार्थ व्यक्ति के मनोलोक में प्रवेश कर मायावी रूप धरता है। समाज-विज्ञान और मानविकी के आधुनिक ज्ञानानुशासनों की पकड़ में वह नहीं आ रहा। विज्ञान की तर्क-दृष्टि हो, या सृजनात्मक कलाओं की कल्प-सृष्टि, आज के यथार्थ को उसकी समग्रता में सहेज पाने में सक्षम नहीं हैं। अपने अस्थिर, असंयत, प्रपंची और मायावी चरित्र के चलते यथार्थ एक तरफ़ कला और साहित्य को चुनौती देता है, दूसरी तरफ़ वह निरन्तर अपने को अप्रामाणिक बनाये रखने की जुगत भी करता है।

कहानी यथार्थ की चुनौती को स्वीकार कर उसे जानने-समझने का जोखिम मोल लेती है। कभी कहानी के स्वैराचरण से उसके यथार्थ की बनावट बदल गयी थी। आज यथार्थ के स्वैराचरण से स्वयं कहानी बदल गयी है; फिर एक बार उसका यथार्थ बदल गया है। यह बदलाव ऐसा संक्रामक है कि कहानी अपनी पुरानी पहचान खो बैठी है। यहाँ तक कि नये रूप-कल्प में वह कहानी ही नहीं रह गई है। यह पुस्तक इसी चिन्ता को केन्द्र में रखती है।

'कथादेश' के सम्पादक हरिनारायण जी के आग्रह पर ये टिप्पणियाँ लिखी गईं। वरिष्ठ आलोचक डॉ॰ राजेन्द्र मिश्र के स्नेहाग्रह पर इन टिप्पणियों को पुस्तक-रूप में संकलित किया जा सका है। कथाकार मित्र आनन्द हर्षुल ने 'कथादेश' के स्तम्भ का शीर्षक सुझाया था। इन सबके प्रति आभार।

—जय प्रकाश

कहानी : विगत और वर्तमान

(1)

किसी जंगली जानवर से डर कर आदिम मनुष्य जब गुफा में लौटा होगा तब उसने अपने भीतर घुमड़ते भावों को व्यक्त करने के प्रयत्न में गुफा की दीवार पर उस जानवर का चित्र बनाया होगा। यही संसार की पहली कहानी थी—मनुष्य और जानवर की मुठभेड़ की कहानी, जिसने मनुष्य के भीतर अभिव्यक्ति की अकुलाहट के चलते जब आकार लिया होगा तो चीख़ बन कर वह फूट पड़ी होगी लेकिन चीख़ में पूरी तरह मूर्त न हो पाने के कारण चित्र में अपनी आदिम देह को समेटा होगा। पहली कहानी इस प्रकार शब्दों में नहीं रची गयी, बल्कि चित्र-भाषा में उकेरी गयी। तब से अनगिन कहानियाँ रची जा चुकी हैं किन्तु मालूम पड़ता है, इन तमाम कहानियों का मूल सरोकार लगभग ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। यह सरोकार है—परिवेश के साथ मनुष्य के सम्बन्धों का निरूपण। परिवेश को अपने भीतर स्वायत्त करने का प्रयत्न ही मनुष्य का जीवन-संघर्ष है, जिसका बखान करते युग बीत गये, मगर कहानी थकी नहीं। उसने सभ्यता के लगातार बदलते सन्दर्भों के साथ अपने को बदलने की कोशिश में अनेक रूप धरे और जिजीविषा की धार को अपने वजूद की चमक के साथ बचाये रखा। कथा, आख्यान, पुराण, रूपक, इतिवृत्त, गल्प, इतिहास, मिथक, आख्यायिका, गाथा, निजंधर, लोकवार्ता, परीकथा, बोधकथा, दृष्टान्त, रोमान्स, उपन्यास आदि कितने ही रूपों में कहानी ने कल्पान्तरण पाते हुए अपनी काया सँजोयी, किन्तु बार-बार रूप बदलते हुए भी उसने अपना मूल प्रयोजन नहीं बदला। वह आज तक मनुष्य और उसके परिवेश के बीच द्वन्द्व के नये-नये अर्थ की तलाश में जुटी हुई है। आज भी जब हम कहानी को आधुनिक गद्य-विधा के तौर पर एक ख़ास तरह के भाषिक विन्यास में अपनाते हैं तब उसमें अपने संसार को या संसार में मनुष्य की नियति को परिभाषित होते ही तो देखना चाहते हैं। कहानी आज भी संसार के होने का वृत्तान्त है—एक ऐसा वृतान्त जो अपने घटित होने की निरन्तरता में बराबर हमारे कुतूहल को जगाये रखता है। कुतूहल की इस अखण्ड लौ में कहानी संसार की छाया की तरह स्पन्दित होती रहती है, यथार्थ के झोकों से काँपती हुई। यह घट्यमान संसार की छाया है। मनुष्य की चेतना में यह तब तक स्पन्दनशील रहेगी, जब तक स्वयं जीवन की रोशनी मौजूद रहेगी। मनुष्य के जीवन में कहानी की उपस्थिति उसके अपने संसार की छाया ही तो है। आज भी यह संसार उस जंगली जानवर की तरह खड़ा है जिससे घबरा कर हमारे किसी आदिम पुरखे ने गुफा की दीवार पर चित्र उकेरा था। हर कहानीकार सृजन के

क्षणों में अपने परिवेश को उसी बनैले पशु की तरह देखता है और अपने भीतर की गुफा में लौट कर दीवार पर उसे चित्रित करता है। यह चित्र ही कहानी बन कर बाहर आता है और शब्दों की देह धारण कर खड़ा हो जाता है।

आदिम गुफा-चित्रों के सृजनाभिप्राय पर ग़ौर करें तो सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि उनमें मनुष्य का संघर्ष ही नहीं, बल्कि उसकी आकांक्षाएँ भी व्यक्त होती हैं। क्या आखेट के चित्रण में निहित अभिप्राय को जीवन के वृहत्तर साभ्यतिक अभिप्राय के रूप में नहीं पढ़ा जा सकता? क्या यह प्रकृति पर विजय की आकांक्षा की आदिम अभिव्यक्ति नहीं है जो हज़ारों बरस बाद सभ्यता के नृ-केन्द्रिक विकास की परिस्थितियों में ढलती चली गयी? कहानियाँ सभ्यता के संघर्ष-चिह्न हैं—उसकी देह पर लगी खरोंचें हैं। भाषा इन खरोंचों के चित्र ही तो खींचती है और उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी सहेज कर रखती है। मनुष्य का संघर्ष और उसकी आकांक्षाएँ आज चाहे जितनी ही क्यों न बदल जायें, भाषा में आयत्त हुए बिना नहीं रह पातीं; कथा-रूप में संघटित होना उनकी नियति है। क्या यह सच नहीं कि व्यक्ति और समाज के बीच लगातार बढ़ते द्वैत और संवादहीनता के बावजूद कहानी और उपन्यास-जैसे नये कथा-रूप अन्ततः मानवीय जिजीविषा—जिसमें संघर्ष और आकांक्षाएँ, यथार्थ और स्वप्न, दोनों मिले-जुले होते हैं—को ही अभिव्यक्त करते हैं।

(2)

हर कहानी संसार के, और उसके भीतर मनुष्य के, बनने-बिगड़ने की दास्तान है। वह दरअसल समय का आत्म-साक्ष्य है; सम्भवतः यही वजह है कि कथा कहने की पारम्परिक पद्धतियों में एक अनिवार्य क़िस्म का साक्षीभाव बराबर मौजूद रहा है या व्यक्तिवाद के साँचे में निर्मित आधुनिक कथा-रूपों में एक तरह की आत्मवृत्तात्मकता का दबाव अकसर दिखाई दे जाता है। बदलती हुई यह दुनिया जैसे लगातार अपने को कहानियों में देखने और पहचानने की कोशिश करती है। इस तरह दुनिया के पैरों के निशान खोजती कथाएँ इतिहास के कंधे पर हाथ रखकर चलती आयी हैं। दूर छोर पर मनुष्य के आदिम अकेलेपन की ही नहीं, बल्कि ठेठ आज के समय में उसकी जनाकीर्ण सामाजिकता की भी पहचान करने का उद्यम कहानी ने किया हे। इसलिए सभ्यता की बदलती अन्तर्वृत्तियों को अथवा सभ्यता की प्रगति के साथ मनुष्य के बदलते मन को पढ़ना हो तो कहानी उसका अन्तरंग साक्ष्य दे सकती है। अगर संसार-भर की कहानियों को काल-क्रम के अनुसार एक लड़ी में पिरोया जा सके तो शायद सभ्यता की विकास-यात्रा का ठीक-ठीक ब्योरा हासिल किया जा सकता है। ऐसा होने पर शायद हम पायेंगे कि कहानी इतिहास के गले में बाँहें डाले हमारे समय की देहरी पर आ खड़ी हुई है।

लेकिन कहानी क्या सचमुच काल के साथ इस तरह से सन्नद्ध है कि उसके बीच नियतिपरक सम्बन्ध की पहिचान की जा सके? क्या कहानी को इतिहास का

उत्पाद माना जाना चाहिए? कया कहानी काल की अनुकृति या उसका एक परिणाम-भर है? देश और काल के हाथों प्रतिमा की भाँति गढ़ी गयी कहानी की काया क्या देश और काल से इतर किसी अन्य कारक की निर्णायक उपस्थिति में अपनी गढ़न पाती है—मसलन वह मिट्टी जिसमें प्रतिमा गढ़ी जाती है, उसका रूपाकार तय करने में कितनी कारगर होती है? क्या भाषा अपनी ख़ास साभ्यतिक अवस्था और उसमें मानव-चेतना के विशिष्ट स्तर के अनुरूप कहानी के रूप-कल्प और उसके स्वभाव को भी तय नहीं करती? या कोई ऐसी ऊर्जा स्वयं उसके भीतर से पैदा होती जान पड़ती है जो कहानी को देश-काल के नियत ढाँचे से बाहर ला खड़ा करती है और अनायास ही उसका एक स्वायत्त संसार निर्मित होने लगता है? यदि कहानी मनुष्य के संघर्ष और उसकी आकांक्षा को मूर्त करती है तो क्या स्वयं कहानी की आकांक्षा अपने चरम क्षणों में उस कल्प-लोक को पा लेने में चरितार्थ नहीं होती, जो उसके आत्म-संघर्ष का परिणाम होता है, और जहाँ देश-काल की ज्ञात रेखाएँ मिट जाती हैं? इस कल्प-लोक में पहुँच कर कहानी, कहना न होगा कि मिथक में रूपांतरित होती है। इतिहास का कसाव ढीला पड़ जाता है; वह एक आभासी देश-काल में अपना विन्यास ढूँढने लगता है। इस तरह कहानी वास्तविकता की अनुकृति नहीं, उसका अनुसृजन बन जाती है। इस सन्दर्भ में जल-प्रलय के मिथक का स्मरण किया जा सकता है जो मानव-जाति की वृहत्तर साभ्यतिक स्मृति का अंग होने के नाते लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं के स्मृति-लोक में स्वायत्त हुआ, किन्तु हर सभ्यता ने अपनी विशिष्ट सर्जनात्मक कल्पना के मुताबिक उसे मिथकीय स्पर्श दिया और उसकी अकाट्य ऐतिहासिकता को एक कल्प-संसार में घुला दिया।

कहानी मानवीय जिजीविषा की दो अर्थ-छवियों—संघर्ष और आकांक्षा को स्मृति के धरातल पर उतार कर जीवन के गतिमान बिम्ब बनाती है। संयोगवश संघर्ष और आकांक्षा इतिहास की चालक शक्तियाँ भी हैं। संघर्ष उसकी गति और उसकी लय को निर्धारित करता है तो आकांक्षा उसके स्वप्न-लोक की तरफ़ इंगित करती है। इसी स्वप्न-लोक में इतिहास को पहुँचना है। यह उसका लक्ष्य है। यूटोपिया, राम-राज्य, बैकुण्ठ, एल डोरेडो या राज्यविहीन समाज अन्ततः इस स्वप्नलोक के अलग-अलग रूप ही तो हैं। ये सभी कल्प-सृष्टियाँ हैं। इनमें मानवीय आकांक्षा साकार होती है। ग़ौर किया जाना चाहिये कि इनमें से राम-राज्य, यूटोपिया, बैकुण्ठ या एल डोरेडो तो कथात्मक कल्पना की सृष्टियाँ हैं, किन्तु राज्यविहीन समाज अपनी कल्प-परिणति में भी अन्ततः एक विचार है जिसे इतिहास का तर्क अपने विशिष्ट बौद्धिक गठन में निर्मित करता है। राज्यविहीन समाज वस्तुतः ज्ञानोदय का स्वप्न-लोक है, इतिहास की सम्भावित चरमता का ठौर है, किन्तु राम-राज्य, यूटोपिया, बैकुण्ठ या एल डोरेडो पूर्व-ज्ञानोदयी कल्प-रचनाएँ हैं। ये गल्प हैं, जबकि राज्यविहीन समाज यथार्थ की ही एक सम्भाव्य तर्कान्विति। ज़ाहिर है, राज्यविहीन समाज की अवधारणा इतिहासाश्रित है जबकि शेष अवधारणाएँ निपट अनैतिहासिक हैं।

यदि इनमें इतिहास की चालक शक्तियों—संघर्ष और स्वप्न, की सक्रियता की जाँच करें तो क्या ऐसा नहीं लगता कि राज्यविहीन समाज की अवधारणा में ज़ोर संघर्ष पर ज़्यादा है, न कि आकांक्षा और स्वप्न पर? बल्कि यहाँ स्वप्न को संघर्ष की अनिवार्य फलश्रुति माना गया है; यानी संघर्ष उस स्वप्न तक पहुँचने को, इतिहास की आकांक्षा-पूर्ति का रास्ता-भर है। रास्ता और मंज़िल, दोनों पहले से तय हैं, इसलिए कथात्मक कल्पना के लिये कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि वह समाजवादी यूटोपिया की अनिश्चयता का लाभ लेकर उसे गल्प-रचना में तब्दील कर सके। वह मूलतः वैचारिक-सृष्टि होकर रह जाता है और इस रूप में मानवीय संघर्ष का, या कि इतिहास का उत्पाद जान पड़ता है।

यूटोपिया, राम-राज्य, बैकुण्ठ या एल डोरेडो में इतिहास के संघर्ष की बजाय उसकी आकांक्षा मूर्त होती है। पूर्व-ज्ञानोदय युग की ये कल्पकृतियाँ किसी-न-किसी महाकाव्यात्मक या पौराणिक या अनौपन्यासिक कल्पना की देन है। इनके पीछे इतिहास की कार्य-कारणता सक्रिय नहीं है, बल्कि उन तक पहुँच कर इतिहास-दृष्टि का अन्त हो जाता है, देश-काल का लय हो जाता है, कल्पना स्वायत्त हो उठती है। इस प्रकार एक कहानी, एक गल्प की रचना होती है जो मानवीय संघर्ष को स्मृति की रोशनी में उद्घाटित करते हुए इतिहास की प्रक्रिया का स्थान ले लेती है। चूँकि संघर्ष इतिहास की ही नहीं, कहानी की भी प्रक्रिया को प्रेरित करता है, इसलिये इतिहास का तर्क एक सीमा तक कहानी पर भी लागू होता है। वह पूर्णतः इतिहास-मुक्त नहीं हो सकती। इसलिये इतिहास को स्मृति में स्वायत्त करती है। स्मृतिपरक होने की वजह से गल्प एक आभासी देश-काल में मूर्त होता है। वह स्मृति का उत्पाद है।

आधुनिक कहानी भी अपनी चरम परिणति में एक कल्प-कृति होना चाहती है—ज्ञानोदय की कल्प-कृति। यही उसका लक्ष्य है। किन्तु कठिनाई यह है कि ज्ञानोदय की इतिहास-दृष्टि ने उसे इस क़दर जकड़ लिया है कि वह गल्प होने की बजाय यथार्थ की अनुकृति बन जाने को विवश है। वह इतिहास की हमसफ़र है। सच तो यह है कि ज्ञानोदय की यथार्थ-चेतना किसी भी तरह के आख्यान को कल्प-कृति या यूटोपिया बनने से रोकती है, बल्कि उसे दुःस्वप्न या डिस्टोपिया में तब्दील हो जाने देती है। उत्तर-ज्ञानोदयी स्वप्न वस्तुतः एक भयावह स्वप्न की तरह आगे खड़ा दिखाई देता है। अकारण नहीं कि आज के विज्ञान-गल्प का स्वभाव दुःस्वप्नमूलक जान पड़ता है।

(3)

कहानी सम्भवतः यथार्थ की गर्भनाल के सहारे काल-चेतना से जुड़ी रही है। गर्भनाल टूटते ही जैसे वह अनैतिहासिक काल के धरातल पर गिर पड़ती है और अपनी राह लेती है। वह मिथक बन कर मानव-चेतना की अँदरूनी तहों में डुबकी लगाती चली आयी है। इस कोशिश में उसने इतिहास के भीतर खर-पतवारों को छाँटने का काम भी किया है। कभी-कभी तो उसने इतिहास से बाहर उठ कर खुले आसमान में

उड़ने की स्वतंत्रता का स्वाद भी लिया है। इसलिए कहा जा सकता है कि कहानी का अपना संसार बुनियादी तौर पर एक स्वैर संसार है जिसकी उपस्थिति मनुष्य के भीतर उसके यथार्थ-संसार की मर्म-छवि बन कर अंकित होती है। कहानी जब तक वाचिक भाषा की काया में प्राण धरे रही, कल्पना के पंख खोल कर उन्मुक्त पक्षी की तरह लगातार उड़ान लेती रही। कभी वह मनुष्य की चेतना की भूमि पर उगे यथार्थ-बोध की दरख़्त पर ठहर कर विश्राम करती और कभी आसमान में उड़ जाती। धरती की तरफ़ देखती और उड़ती जाती—और इंसान था कि कहानी की इस विलक्षण उड़ान को देख सकने वाली आँखें खो बैठा था। ऐसे में कुतूहल उसकी आँख बन गयी जो उस उड़ान का पीछा करती हुई भटकती थी। उड़ान भरती हुई और मानवीय कुतूहल को अपनी अपूर्व अनिश्चयता में अपनी तरफ़ खींचती हुई कल्प-काया में कहानी गल्प थी, परी-कथा थी—रूपक, अन्योक्ति, दन्तकथा या मिथक थी। अपनी अननुमेय बहुरूपात्मकता में वह मनुष्यता की जीवन-कथा थी।

लेकिन कब तक कहानी इस तरह आकाश में उड़ती रह सकती थी? संसार में आधुनिकता के प्रवेश के साथ ही जैसे उसके पंख टूट गये। तर्कवाद और आधुनिकता के गुरुत्वाकर्षण ने उसे धरती पर उतार दिया। इतिहास की नोंक से उसकी देह बिन्ध गयी। उसकी घायल उड़ान को अब सिर्फ़ यथार्थ की सतह पर थाह मिल सकती थी। आधुनिक कहानी पूरी तरह से यथार्थ, बल्कि यथार्थवाद की गिरफ़्त में है—इस तथ्य से आज भला कौन इनकार करेगा?

अब यदि कहानी पूर्णतः यथार्थ-निर्भर है तो उसके प्रामाणिक होने के आग्रह को झुठलाना भी मुमकिन नहीं। आधुनिक कहानी जैसे-जैसे वयस्क होती गयी, यथार्थवाद उसकी क़ामयाबी का पैमाना बनता गया। आज कहानी की चरितार्थता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि यथार्थ को वह किस तरह हू-ब-हू रच सकती है और उसे किस हद तक ऐंद्रिक प्रामाणिकता प्रदान कर सकती है। कहानी कार्य-कारण सम्बन्धों के फलितार्थ को अपनी पहचान का सन्दर्भ बनाती है। आधुनिक मनुष्य की चेतना जिस हद तक प्रत्यक्ष-प्रमाणवाद और बुद्धिवाद से प्रेरित-प्रभावित हुई है, उस हद तक कहानी भी यथार्थवाद का शिकार हुई है। बल्कि कहानी यथार्थ-वृत्ति से कुछ अधिक ही नियन्त्रित होती जान पड़ती है। आधुनिक संसार में व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता और आत्मचेतना के बावजूद इंद्रियेतर, तर्केतर और आदिम संवेगों से संचालित मनोलोक में जब-तब जा पहुँचता है, किन्तु कहानी से बराबर अपेक्षा की जाती है कि वह 'रहस्य-लोक' की छाया से भी दूर रहे; तर्क और विवेक की दुनाली लेकर आत्मरक्षा के लिये चाक्स रहे। यह अपेक्षा एकबारगी ठीक ही मालूम पड़ती है या उसे निपट ऐतिहासिक हो चुके समय में मनुष्य की काल-चेतना में आये परिवर्तन का नतीजा मान कर भी स्वीकार किया जा सकता है। कहानी अब प्राक्-आधुनिक मनोलोक से बाहर निकल आयी है और वह आस्था-केन्द्रिक संसार के रहस्य-विभोर मनुष्य की कृति नहीं, बल्कि आधुनिक व्यक्ति के तर्ककेन्द्रिक संसार की रचना है। विश्वसनीय होना उसकी

विवशता-भर नहीं, बल्कि उसके अस्तित्व की लगभग अनिवार्य शर्त है। उसके सरोकार महज़ मनोरंजन तक सीमित नहीं हैं, बल्कि समय की धड़कनों को दर्ज़ करना भी उसका दायित्व समझा गया है। वह लोक-समुदाय की नहीं, शिक्षित पाठक-समाज की चीज़ है। वह 'कही-सुनी' जाने वाली कथा नहीं, 'पढ़ी-लिखी' जाने वाली आधुनिक गद्य-विधा है।

आधुनिक गद्य अर्थात् कहानी-उपन्यास के रूप में कथा के इस कायान्तरण को, जो दरअसल भाषा की वाचिक परम्परा से लिखित-मुद्रित भाषा के नये माध्यम में उसके अपसरण के कारण सम्भव हुआ, उसकी सभ्यतागत नियति की तरह देखा जा सकता है। मानवेतर सृष्टि के साथ अखण्ड सम्पृक्ति के जिस वृहत्तर बोध में मनुष्य जीता था, उसके बिखर जाने के साथ उसकी अस्मिता की—उसके आत्म-बोध की उठान शुरू हुई। आधुनिक व्यक्तिवाद इसका अनिवार्य परिणाम था। समग्रता की चेतना को व्यक्ति की आत्म-चेतना ने विस्थापित कर दिया। समग्र और अखण्ड के प्रति जिस क़िसम की शिशु-जिज्ञासा का भाव सभ्यता के मनोलोक में कभी विद्यमान था, उसकी परिणति कथा की गल्प-वृत्ति और रहस्य-बोध में होती थी। किन्तु व्यक्ति की आत्म-चेतना अभेद्य रहस्य या कुतूहल की नहीं, विश्लेषण की वस्तु बन गयी थी। विश्लेषण की अनिवार्यता उसे तार्किकता के औज़ारों के क़रीब ले गयी। अन्ततः इन औज़ारों से सँवर कर कथा आधुनिक गद्य की सीमाओं दाख़िल हुई जहाँ यथार्थ पूर्णतः तर्कगम्य और ऐंद्रिक था; देशकाल के बन्धनों में कसा हुआ, प्रायः यथातथ्य था। यहाँ आकर कहानी का स्वैर-लोक झर चुका था। शिशु-जिज्ञासा और किशोर-रोमेंटिकता से भरे जिस उच्छल भाव-बोध के भीतर कहानी अपने समय और उसमें स्पंदित हो रहे यथार्थ को समेटती थी, वह एक वयस्क सभ्यता की विश्लेषक बुद्धि की पकड़ में आ गया। कहानी सिर्फ़ गल्प न रही, गद्य बन गयी। वाचिक परम्परा की पुरानी कहानियाँ, लोक-कथाएँ या उनसे प्रेरित संस्कृत-प्राकृत की कथा-रचनाएँ यदि हमारी सभ्यता के कैशोर्य के वृत्तान्त हैं तो आधुनिक युग का कथा-गद्य प्रौढ़ सभ्यता का आत्मचरित है। हमारे समय में कथा कुछ इसी रूप में प्रकट हुई। वह सभ्यता के आत्म-बोध में पगी हुई है।

(4)

आधुनिक जीवन-दृष्टि और आचरण-प्रणाली का अनिवार्य नतीजा था कि मानवीय बोध की समग्रता खो कर कहानी जब कथात्मक गद्य में अवतरित हुई तो जीवन के तात्कालिक प्रश्नों से जूझना उसकी विवशता बन गयी। सनातन प्रश्न कहानी की प्राथमिकताओं से लगभग बाहर हो गये। उसे जीवन के प्रकट संघर्ष पर एकाग्र होना पड़ा। आधुनिक कथा के केन्द्र में वह 'व्यक्ति' स्थापित हुआ, जिसके लिये जीने का अर्थ संघर्ष करना था। उसके लिये आत्मलोक और समाज, दोनों संधर्ष-क्षेत्र थे। वह एक जगह या दोनों जगह संघर्षरत था। इन्हीं दोनों जगहों पर जीवन के तात्कालिक प्रश्न उठा खड़े हुए थे। इस तरह मनोजगत और सामाजिक जगत का अभूतपूर्व द्वैत

निर्मित हो चला था और सृजनशीलता भी इससे अप्रभावित नहीं रह सकी थी। इसलिये यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि मानवेतर सृष्टि अब कहानी का विषय नहीं रह गयी और सम्पूर्ण संसार को समग्र रूप में समेटने वाली सृजनात्मक कल्पना का क्षरण होने लगा। कहानी का मुख्य विषय अब समाज और उसमें व्यक्ति का जीवन रह गया। दूसरा फ़र्क़ यह दीखता है कि कहानी अब लोकजीवन के व्यापक भाव-क्षेत्र से स्खलित हो कर मध्यवर्गीय भाव-बोध के भीतर सक्रिय हुई है। भारतीय समाज में पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों के दौरान कहानी-उपन्यास का जिस ढंग से विकास हुआ है, उससे कथा की सामाजिक उपस्थिति का एक नया इलाक़ा ज़रूर निर्मित हुआ है, किन्तु लोकजीवन पर आधुनिकता के लगातार बढ़ते दबाव के कारण पारम्परिक कथा-रूपों का विघटन भी प्रारम्भ हो चुका है जो निश्चय ही चिंताजनक है। विडम्बना है कि क़िस्सागोई जीवन से ग़ायब होने जा रही है और अब हम उस लेखक से उसे बचाने का आग्रह कर रहे हैं, जिसका काम क़िस्सा 'कहना' नहीं, क़िस्सा 'लिखना' है। 'कहने' और 'लिखने' में सिर्फ़ माध्यम बदल जाने के कारण उत्पन्न फ़र्क़ की तरफ़ इशारा करना यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है; दरअसल माध्यम में आया यह बदलाव गहरे अर्थ में सभ्यता के स्वभाव में हुए परिवर्तन का नतीजा है। दूसरे, यह सचाई तो अपनी जगह है ही कि माध्यम बदल जाने से यथार्थ की प्रकृति भी कमोबेश बदल जाया करती है। नये यथार्थ का रूप जटिल था किन्तु उसे व्यक्त करने के लिये उपलब्ध कथा-रूप अपेक्षया सरल-सहज थे; इसलिए यथार्थ की जटिलता को व्यक्त करने के लिये कथा की ऐसी प्रविधियों की खोज आवश्यक थी, जिनसे न सिर्फ़ जटिलता को खोलना सम्भव हो सके बल्कि यथार्थ एक नये ढंग की स्वायत्तता भी हासिल कर पाये। आधुनिक युग के परिवर्तित काल-बोध के अनुसार कथा-प्रविधि का अनुकूलन अनिवार्य था। यह नई कथा-प्रविधि यथार्थवाद की प्रविधि थी, जिसने उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों में अपनी सफलता के शीर्ष मानदण्ड क़ायम किये। दूसरी ओर उपन्यास ने औद्योगिक संस्कृति के दबाव तले विकसित हो रहे इतिहास-बोध के मानवीय चेतना पर आरोपण की अनिवार्यता पर भी जैसे मुहर लगा दी।

काल के एकरैखिक विकास की अवधारणा से प्रेरित यथार्थ-बोध के फलस्वरूप जिस औपन्यासिक यथार्थ का सृजन हुआ, वह औद्योगिक समाज में मनुष्य की नियति की पड़ताल सामाजिक वास्तविकता के धरातल पर तो करता था लेकिन उसके मनोजगत में हो रही उथल-पुथल को व्यक्त करना उसके लिये एक नयी चुनौती थी। यह चुनौती इस मायने में विकट थी कि यथार्थवाद के ढाँचे के भीतर व्यक्ति के जटिल अन्तःसंसार को स्वायत्त कर सकना आसान न था। कथात्मक कल्पना की स्वायत्तता को नये सिरे से अर्जित करने की गुंजाइश इस चुनौती में मौजूद थी, किन्तु मनोविज्ञान की आँच में यह गुंजाइश सूख गयी। नतीजा यह हुआ कि आधुनिक व्यक्ति के अँदरूनी संसार की रहस्यमयता मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के ढाँचे में क़ैद हो गई। इतिहास-बोध इतना प्रबल था और यथार्थवाद ऐसा सर्वाश्लेषी साबित हुआ कि मानवीय अनुभव के तमाम स्वैर-

कल्पों को काट-छाँट कर उसने अपने भीतर समायोजित कर लिया। इस प्रकार यथार्थवाद ने अपने तरह-तरह के संस्करण गढ़ लिये। इन संस्करणों ने कथा-सृजन की प्रक्रिया में 'अनुभव की कंडिशनिंग' की कोशिश भी की और कथा को, पूर्व-नियत नहीं तो, एक अनुमित संरचना में बदल दिया। अब कथा के रूपाकार में नवीनता, जो कि सृजन का अनिवार्य घटक है, लाने के रास्ते सीमित हो गये इसलिये नये रूपाकारों की खोज में कथाकारों ने अनुभव के नये क्षेत्रों को टटोलने की बजाय अपने सारे प्रयत्न कथा की प्रविधि में एकाग्र कर लिये। इसलिये अब पारम्परिक कथा-पद्धतियों का पुनराविष्कार किया जाने लगा—हालाँकि वे अपनी मूल सृजन-चेतना की ज़मीन से उखाड़ कर आधुनिक कथा की सतह पर रोप दी गई थीं। अपनी जैविकता से वंचित होकर ये कथा-पद्धतियाँ इस तरह प्रविधि-मात्र रह गयीं। उनका प्रयोजन प्रायः यही रह गया कि कथा के प्रयोगधर्मी उद्यम को चरितार्थ करने के लिए उन्हें उपकरण की तरह इस्तेमाल में लाया जा सके।

लेकिन पुरानी देह खो कर कहानी ने कुछ नये देह-कल्प भी प्राप्त किये हैं—मसलन विज्ञान-गल्प या रहस्य-कथाएँ लिखी गयी हैं जिनमें आधुनिक कथा की क्षीण होती कुतूहल-वृत्ति को नया पुनर्वास प्राप्त होता है और यथार्थवाद की जकड़बंदी से यदा-कदा उसकी मुक्ति के साक्ष्य प्रकट होते हैं। कथा यदि सचमुच लोकरंजन का पुरातन माध्यम है तो उसकी रंजकता का एक नया संस्कार इन कथाओं में होता है। दिलचस्प यह है कि विज्ञान के तर्कबोध और गल्प की स्वैर-वृत्ति का विलक्षण संतुलन इनमें सम्भव होता है और कल्पना का मुक्त कौतुक कथा की आदिम रंजकता को एक नयी भंगिमा देता है। लिखित-मुद्रित भाषा की परम्परा में बाल-कथाएँ भी रची गयी हैं जो बच्चों की उत्सुकता जगाये रख कर न सिर्फ़ उनका मनोरंजन करता है, बल्कि उन्हें शिक्षित-संस्कारित भी करती हैं। यह शिक़ायत ज़रूर है कि हिन्दी रहस्य-रोमांच कथा, विज्ञान-गल्प और बाल-कथा का प्रायः अभाव है। यह कुछ विचित्र और विडम्बनापूर्ण भी जान पड़ता है कि हिन्दी क्षेत्र की लोकभाषाओं में तो वाचिक और लोककथाओं की अत्यन्त समृद्ध परम्परा मौजूद है जिसमें कल्पना का उन्मोचन और फ़ैंटेसी का अद्‌भुत उन्मेष दिखाई पड़ता है, लेकिन यहाँ के शिक्षित मध्यवर्ग की भाषा-संवेदना में उसका सर्वथा अभाव है। ग़ौर किया जाना चाहिये कि आधुनिक शिक्षा ने जातीय-बोध करने में चाहे कितनी भी सकारात्मक भूमिका निभाई हो, उसने परम्परा से विलगाव उत्पन्न करने और कथात्मक कल्पना के क्षरण को प्रोत्साहित करने का अवसर भी जुटाया है। उसके चलते परम्परा को रूढ़ि और अन्धविश्वास समझ लेने की प्रवृत्ति भी फैली है। शिक्षित होने का अर्थ लोक-परम्पराओं से अपसरण मान लिया गया। इस समझ के कारण ही पढ़े-लिखे लोगों के भाषिक व्यवहार में लोकजीवन की स्वैर-कल्पक-संस्कृति का अभाव प्रकट हुआ है और यथार्थवाद का प्रत्यक्षवाद का बोलबाला बढ़ा है। लोक और आधुनिक का, परम्परा और नवीनता का जैसा अलगाव विकसित हुआ है, वह अभूतपूर्व है। इसलिये हम सहज ही मान बैठे हैं कि समकालीन जीवन की जटिलता

को चित्रित करने की क्षमता केवल आधुनिक कथा-रूपों में है, पारम्परिक गल्प अथवा फँतासी में नहीं।

कहानी की हर नयी काया किसी-न-किसी तरह से समाज में हो रहे उन परिवर्तनों का परिणाम होती है जो प्रविधिजन्य परिवर्तनों से प्रेरित होते हैं। कथा के प्राक्-आधुनिक रूप या उसकी वाचिक परम्परा प्राक्-आधुनिक तकनीकी के प्रभाव से बने समाज में ही अपनी समूची जैविकता और आध्यात्मिक के साथ सम्भव थे। आधुनिक तकनीकी से निर्मित समाज के रचनात्मक मानस ने उसकी वाचिक प्रकृति को मुद्रित पाठ के निबद्ध प्रारूप में ढाल दिया। इतना ही नहीं, आधुनिक तकनीकी ने अपने विकास के शिखर पर पहुँच कर कुछ ऐसे माध्यम विकसित किये, जहाँ संतरित होकर कथा ने स्वयं अपने स्वभाव को ही बदल डाला। यह उसका आधुनिकीकरण या आधुनिक सन्दर्भों में नवीकरण था। उदाहरण के लिये सिनेमा या टेलीविज़न के पर्दे पर उतर कर कथा ने सिर्फ़ एक नये सम्प्रेषण-माध्यम को अर्जित नहीं किया, बल्कि इससे यथार्थ और कल्पना का ऐसा अप्रत्याशित संयोजन सम्भव हुआ कि कहानी का देश-काल बिलकुल नये विन्यास में फैल गया। यथार्थ अब चाक्षुष हो गया—पूरी तरह अनुभवगम्य और निपट ऐंद्रिक। इस यथार्थ के क़रीब पहुँच कर भावक की कल्पना स्तब्ध हो जाती है, क्योंकि यथार्थ अब बने-बनाये रूप में मौजूद है और कल्पना की कीमियागिरी से उसे बदलने या संशोधित करने की गुंजाइश नहीं रह जाती। इसके विपरीत मुद्रित या वाचिक कथा में श्रोता या पाठक अपनी कल्पना के सहारे यथासम्भव कथा-सत्य की पुनर्रचना करने को स्वतन्त्र होता है। शायद यही वजह है कि कुछ रचनाकार अब ऐसी कथा-रचना को कथा-मात्र की उत्तरजीविता के लिये ज़रूरी मानने लगे हैं, जिसे अपनाने में दृश्य-श्रव्य माध्यम को कठिनाई पेश आये, अर्थात् शब्द का चित्र में अनुवाद असम्भव हो जाये।

लेनिक दृश्य-श्रव्य माध्यम में उच्च तकनीकी—ख़ास कर डिजिटल तकनीकी का प्रवेश होने से उसमें कथा रचने की जादुई क्षमता पैदा हुई है। वह यथार्थ को अविश्वसनीय बारीक़ी के साथ, बहुत सूक्ष्म ब्यौरों में प्रस्तुत कर सकती है और उसे विलक्षण ढंग से स्वैर-कल्पित भी कर सकती है। वह वीडियो-रिपोर्टिंग को कथा का विकल्प बना कर पेश करती है—आख़िर इधर कुछ वर्षों में दुनियाभर में युद्ध की नृशंसता को कथा के-से कुतूहल के साथ परदे पर उतरते हुए साँस थाम कर देखा ही गया है। इस वास्तविकता को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता कि दृश्य-श्रव्य माध्यम अब तक की सर्वोत्कृष्ट सम्प्रेषण-विधि है। उसकी पहुँच पढ़े-लिखे मध्यवर्ग तक ही नहीं, उस विशाल ग्रामीण आवादी तक भी है, जिसके मनोरंजन का मुख्य साधन अभी कुछ समय पहले तक कथा-कहानी या नाच-गाना था। अब तक के मानवीय इतिहास में इससे अधिक पहुँच रखने वाला सम्प्रेषण-माध्यम दूसरा नहीं हुआ। यह सृजन को सम्प्रेषण में समेट लेने वाला माध्यम है। दरअसल यह अपनी चरितार्थता में इस मैकलुहानियन प्रतिज्ञा से बँधा है कि माध्यम ही संदेश है। इस तर्ज पर उसके तईं

'सम्प्रेषण ही सृजन है'। यह अपनी दुर्दांत तकनीकी शक्ति के चलते कथा के अब तक विकसित वाचिक या लिखित रूपों को पीछे छोड़ कर उसकी दुर्गति करने पर उतारू है और कथा की नियति यह है कि वह इस माध्यम में प्रवेश करने से बच नहीं सकती। कहानी अब 'सुनी' नहीं जाती, न वह उतनी 'पढ़ी' जाती है, बल्कि वह 'देखी' जाये, इसका आग्रह बढ़ चला है। वह श्रुति नहीं, पाठ नहीं, बल्कि दृश्य है।

दुर्भाग्य से दृश्य-श्रव्य माध्यम की क्रान्ति व्यवसायवाद की छत्र-छाया में सम्पन्न हुई है। कथा का आविर्भाव ही यहाँ सोप ऑपेरा के रूप में—साबुन बनाने वाली एक कम्पनी के प्रायोजन में हुआ है। बाज़ार की गति-मति से कथा रची जाती है। ज़ाहिर है, लोकप्रियतावाद के बाज़ारू असर से बच पाना उसके लिये नामुमकिन है। अब तो यह सम्भावना भी शेष नहीं है कि टेलीविज़न पर कुछ इस तरह का सृजनात्मक उद्यम सम्पन्न होगा जैसे कि प्रिंट-माध्यम की उठान के साथ आधुनिक उपन्यास-कहानी का जन्म हुआ था। कोई ऐसा टेलि-सीरियल शायद अब तक नहीं बन सका है, जिसकी श्रेष्ठता किसी उत्कृष्ट साहित्यिक कृति के समतुल्य हो। सीरियलों के नाम पर ज़्यादातर अपराध, हिंसा या अनैतिक सम्बन्धों पर केन्द्रित सस्पेंस कथाएँ हैं, या फिर पौराणिक आख्यानों की दृष्टिहीन प्रस्तुतियाँ। यह माध्यम सरासर दुरुपयोग का शिकार है; अन्यथा टेलीविज़न वह माध्यम बन सकता था, जिसमें उत्तर-औद्योगिक समाज के 'मध्यवर्ग की महागाथा' रची जानी थी, जैसे कि उपन्यास के रूप में औद्योगिक समाज के मध्यवर्ग की महागाथा मुद्रित शब्द के माध्यम में रची गयी।

माध्यम-क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि माध्यम अब हमारे सामाजिक बोध को भी नियन्त्रित करते हैं। वे यथार्थ को एक तरह के विक्षेप में गढ़ कर 'हाइपर-रिअलिटी' में तब्दील कर देते हैं। यह माध्यम-पारित यथार्थ होता है, जिसकी लीला-धार्मिता उसे वास्तविकता से न्यूनतम दूरी पर सक्रिय बनाये रखती है। यहाँ यथार्थ एक छवि में ढल जाता है, मायावी हो उठता है। कहानी की वाचिक-मुद्रित प्रविधियाँ उसकी जटिल बुनावट को खोल नहीं सकतीं। खोलने का प्रयत्न करने पर स्वयं से खेलने लगती हैं और यथार्थ को भी कौतुक बना डालती हैं; पैरोडी या खिलंदड़-कथा बन जाती हैं। इस यथार्थ को खोलने में हाई-टेक माध्यम की रुचि नहीं है, क्योंकि वह स्वयं इसे उत्पादित (मैनुफ़ैक्चर) करता है। यही नहीं, बल्कि वह तो कथा-लेखकों को ही मटियामेट कर देना चाहता है, जो आधुनिकता की ज्ञान-परम्परा के भीतर मानो अज्ञानवश लिखे जा रहे हैं और यथार्थ का मंत्र-जाप कर रहे हैं। कथा-सृजन की सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वह मानवीय बोध की विश्वसनीयता को फिर से क़ायम करे। यथार्थ आज जितने बड़े पैमाने पर मासिफ़िकेशन का शिकार हुआ है, उसके अनुरूप कथा का प्राविधिक अनुकूलन नहीं हो सका है, यह एक विडम्बना है। यथार्थ तो हमारे चारों तरह उपस्थित है, लेकिन उसे भली-भाँति जानने और बताने वाली कहानी ज़रा हिचकती हुई-सी खड़ी है। छपे हुए पृष्ठपर कहानी से ज़्यादा उसकी नाक़ामयाबी फैल गयी है और कही-सुनी जाने वाली कहानी को तो अब भी कहानी मानने से इन्कार

किया जाता है, क्योंकि वह यथार्थ को मानने से ही इन्कार करती है। वाचिक कहानी की उड़ान को बाँधा नहीं जा सका है, न ही मुद्रित-लिखित कहानी को नियंत्रित उड़ान के लिये तैयार किया जा सका है।

प्रश्न अब यही है कि कहानी क्या अब भी उस यथार्थ को अपनी प्रामाणिकता का सन्दर्भ बनाने की ज़िद पर क़ायम रहे जो स्वयं संदिग्ध होता जा रहा है? या अप्रामाणिक यथार्थ को प्रामाणिकता के साथ चित्रित करने की नयी प्रविधि की तलाश करे? इन दो विकल्पों के बीच कहानी अपनी आस्तित्विक विकलता के साथ कहीं उपस्थित है। देखता यह है कि वाचिक, मुद्रित और दृश्य-श्रव्य माध्यमों के सह-अस्तित्व के बीच वह किस रूपाकार की खोज कर पाती है।

यथार्थ की काया

यथार्थ कहानी की प्राणवायु है जो उसकी गद्य-देह में संचरित होकर उसे जीवित रखती है। प्राणवायु का आना रुक जाये तो भाषा की सतह पर कहानी की देह निष्प्राण पड़ी होगी। किन्तु कहानी ही क्यों, कला की कोई विधा ऐसी नहीं, जिसके श्वास-तंत्र में चारों तरफ़ फैल प्राणवायु न आती हो। यथार्थ के बिना कला सम्भव नहीं है। यथार्थ उस वातावरण का नाम है जिसके भीतर मनुष्य, उसका कर्म-संसार और उसके सृजन की दुनिया बसती है। जिसे यथार्थेतर कहा जाता है, दरअसल वह भी यथार्थ का ही विस्तार है। शायद इसीलिए अज्ञेय ने स्वप्न को भी यथार्थ का अंग कहा है।

कहानी का उपजीव्य, उसकी कुल पूँजी, वह यथार्थ है जो देश और काल के हाथों सिरजा गया है। मानवीय अनुभव के अनेक रूपों में वह प्रकट होता है। इस पूँजी से ही कथा का कारोबार चलता है। अपने पारम्परिक रूप-कल्प की सदियों पुरानी दुनिया से निकल कर कहानी जब गद्य की आधुनिक काया में अवतरित हुई तो सबसे पहले उसने विस्मय-विस्फारित आँखों को बन्द किया और उत्सुकता के धुँधलके से खींच कर वास्तविकता के खुले गलियारे में मनुष्य को ला खड़ा किया जहाँ से देश और काल की रेखाएँ साफ़ दिखाई दे रही थीं। मिथक, आख्यायिका, गल्प, रूपक, निजन्धर और लोककथा के आभासी देशकाल को तज कर आधुनिक युग में कहानी ने मनुष्य के अनुभवों के ठोस धरातल पर क़दम रखे और अपनी काठी को नये सिरे से जब सँजोया तो पाया कि वास्तविक देश-काल से वह उसी तरह घिरी हुई है जैसे जन्म के बाद स्वयं मनुष्य। कहानी का पाठक उसक देश-काल को अपने ही देश-काल की तरह या उसके यथार्थ को अपने यथार्थ की भाँति पहचान कर विस्मय-विमुग्ध था। यह एक नई तरह का विस्मय था—एक नई तरह की उत्सुकता की चमक लिये हुये—कुछ-कुछ वैसे ही जैसे आईने के सामने खड़े होकर अपने को निहार रहे हो और खुद को एक नये रूप में पा कर मुग्ध हो। आधुनिक कहानी में मनुष्य दरअसल अपने ही अनुभव के बिम्ब देख कर हैरान था।

पुराने ढंग की आख्यायिका के आत्म-विस्मृत श्रोता की विस्मयपूर्ण उत्सुकता को आधुनिक कहानी ने बदल कर पाठक के भीतर एक क़िस्म की आत्मसजग उत्कंठा का रूप दे दिया। अब यथार्थ तो खुला-प्रकट था किन्तु उसे फिर से देखने की लालसा लिए एक उत्कंठित पाठक कहानी के सामने था। कहानी अब अतिलौकिक-अवास्तविक गल्प नहीं थी; न ही उसके भीतर प्रवेश करने वाला भावक निपट निरक्षर था। साक्षरता इस नई विधा के आस्वाद की पूर्व-शर्त थी। कहानी अब वाचिक संरचना न रही, मुद्रित पाठ बन गयी। यहीं से कहानी आधुनिक समाज की इहलौकिक कला-विधा बनी।

अपनी इहलौकिक (सेकुलर) काया अर्जित करने के क्रम में वह एक तरफ़ मिथक, पुराण और दन्तकथाओं के प्राक्-आधुनिक संसार में रची-बसी सामुदायिक स्मृतियों से मुक्त हुई तथा औद्योगिकीकरण के चलते तेज़ी से बदलते समाज की नग्न वास्तविकताओं का सामना कर रहे व्यक्ति के निजी अनुभव पर एकाग्र हुई, वहीं दूसरी ओर उसने व्यक्ति के निजी अनुभव को उसकी नई सामाजिकता के धरातल पर गढ़ने की प्रक्रिया में उत्पन्न सर्जनात्मक ऊर्जा को सार्वभौमिकता की कौंध में स्फुरित करने का प्रयत्न किया। आधुनिक कहानी के केन्द्र में व्यक्ति का निजी या सामाजिक अनुभव तो है किन्तु उसमें साझा करने वाली सामुदायिकता नहीं; बल्कि असंख्य पाठकों की एकल और निजी साझेदारी एक प्रकार की सार्वभौमिकता के दायरे में सम्भव होती है। तभी तो कोई पाठक किसी पराये देश और भिन्न भाषा की कहानी को सराह पाता है। निर्मल वर्मा कहानी की इस सार्वभौमिकता को ही उसकी आधुनिकता मानते हैं। कहानी को सार्वभौमिक और स्वायत्त बनाने का श्रेय वे उपन्यास को देते हैं 'जिसने अपने विकास के आरम्भिक चरण में कथ्यात्मक विधाओं की आत्मनिर्भर स्वतंत्रता के लिए धरती तैयार की थी।' इस धरती को तैयार करने के लिए उपन्यास को उसी विवेकवाद की यंत्रविधि का प्रयोग करना पड़ा था जो ज्ञानोदय की उथल-पुथल के बीच विकसित हुआ था और जिसने सभ्यता की नियति को एक नई दिशा की ओर मोड़ने में बेशक निर्णायक भूमिका निभाई थी। ज्ञानोदयी प्रत्यक्षवाद (पाँज़िटिविज़्म) ने यथार्थ को देशकाल की जिस प्रामाणिकता के बीच आविष्कृत किया था, उपन्यास उसे प्रायः वैसी ही प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने को संकल्पित था। वह बूर्जुआ समाज की ज़रूरत बन गया। लेकिन कालान्तर में बूर्जुआ समाज के ही नैतिक अन्तर्विरोधों को उजागर करने का दुस्साहस जब उसने किया तो स्वयं उसकी प्रामाणिकता दाँव पर थी। ऐसे वक़्त में उपन्यास ने, निर्मल वर्मा के ही शब्दों में कहें तो 'बूर्जुआ नैतिकता के सर्वव्यापी बन्धन से भी मुक्त होकर अपनी स्वतंत्र कलात्मक सत्ता को प्रतिष्ठित किया था।' उपन्यास अब उस यथार्थ के विरुद्ध खड़ा था, जिस पर शक्तिशाली मध्यवर्ग की नैतिक सत्ता अपना वर्चस्व क़ायम कर चुकी थी। उसके चंगुल से यथार्थ को छुड़ाने के संघर्ष में अब कला की स्वतंत्रता निहित थी। उपन्यास द्वारा बनाई गई संघर्ष की इस धरती पर ही आधुनिक कहानी के बीज पड़े। यह यथार्थवाद का आत्मसंघर्ष था। यथार्थ की रक्षा के लिए उसे नये-नये रूपों में ढालने, यहाँ तक कि आभासी देश-काल में भी उसे अवस्थित करने की रणनीति इस संघर्ष के दरम्यान अपनाई गयी।

कहानी को उपन्यास की तरह के आत्मसंघर्ष से नहीं गुज़रना पड़ा। लेकिन यथार्थवाद की प्रविधि उपलब्ध होने के बावजूद उसे अपने यथार्थ को स्वायत्त करने की प्रक्रिया में उपन्यास की तुलना में कम उद्यम नहीं करना पड़ा। उपन्यास ने तो देश-काल में अपनी जड़ें फैला कर उन्मुक्त सहजता से विकसित होने का अवकाश पा लिया था। लेकिन कहानी के लिए शायद देशकाल ही सबसे बड़ी अन्तर्बाधा थी। उपन्यास का विस्तार देशकाल की ज्ञात सीमाओं तक सम्भव था। यही उसकी नियति भी थी। किन्तु

कहानी भी यदि उसे अपनी नियति मान लेती तो क्या उसकी विधागत स्वायत्तता बची रह पाती? ऐसे में क्या वह सचमुच उपन्यास की छोटी बहिन न बन जाती? उपन्यास का लघु रूप होने से बचना ही दरअसल कहानी का आत्मसंघर्ष था। अपनी स्वतन्त्र पहचान हासिल करने की कोशिश में कहानी ने अपनी संक्षिप्त-सी काया में इतिहास को निचोड़ कर प्राणतत्व की तरह धारण किया जबकि उपन्यास का आत्मविस्तार इतिहास के फैलाव में ही सम्भव था। कहानी ने समय के सत्य को इस तरह से रूपायित किया कि वह सीमित देश-काल में आबद्ध रह कर भी सार्वभौमिकता की त्रिज्या में दाखिल हो सके। उपन्यास को यह सुविधा प्राप्त है कि वह इतिहास के साथ चलते हुए इतिहास की अन्तर्ध्वनियों से अनुनादित होता रहे। अपने समय को व्यापक फलक में देखने की स्पृहा के चलते वह चारित्रिक रूप से कालबद्ध (डेटेड) विधा है। वह समय का इतिवृत्त रचता है इसलिए उसे इतिहास का स्थानापन्न भी कहा जाता है। देश-काल का अतिक्रमण करने की अपेक्षा उससे नहीं की जाती। मगर एक उत्कृष्ट कहानी देश-काल में अपनी जड़ें रोपने के बाद उससे इतर भी, किसी अन्य भूगोल या इतिहास में, अपनी जड़ें फेंक कर खड़ा होने की कोशिश करती है। क्या चेख़व की कोई कहानी, महज़ उन्नीसवीं सदी के रूस की कहानी प्रतीत होती है अथवा इक्कीसवीं सदी के भारत के संवेदनशील मन को छू लेने को भी तत्पर दिखाई देती है? बेशक उन्नीसवीं सदी के रूस का कोई औपन्यासिक चरित्र भी ऐसा कर सकने में समर्थ हो सकता है, लेकिन क्या वह अपने देश और काल के बन्धनों से उस तरह मुक्त हो सकता है जैसे घोड़े के कन्धे पर सिर रख कर आँसू बहाता चेख़व का कथानायक, जिसकी पीड़ा उन मार्मिक क्षणों में अनायास ही 'सार्वभौमिक' और 'सार्वकालिक' के उजास में दमक उठती है? या फिर 'रोमांस' कहानी की आभा सेर्गेयेण्ना, जो प्रेम के गहन अन्तर्द्वन्द्व में डूब कर मुक्ति के लिए छटपटाती किसी भी समय और स्थान की अनुराग-विकल स्त्री हो सकती है। एक औपन्यासिक चरित्र की पहचान शायद यही है कि वह इतिहास-भूगोल के किसी संकेन्द्रित बिन्दु की उपज है और एक चरित्र के रूप में उसका विकास दरअसल उस बिन्दु की देशकालगत सीमाओं में ही होता है जबकि चेख़व की 'दुःख'-जैसी कहानी का नायक उस संकेन्द्रित बिन्दु को देश-काल की अन्तहीन परिधि तक फैला देने को सतत तत्पर होता है। कहानी समय की धार में बह नहीं जाती, बल्कि धार के बीच कहीं किसी बिन्दु, किसी मानवीय क्षण, को सहसा इस तरह उजागर करती है कि वह युग-सत्य की कौंध मालूम पड़े। कई बार इस तरह की कौंध औपन्यासिक गल्प में समाये आख्यान की निष्पत्ति से भी अधिक चमकदार होती है।

ज़ाहिर है, कहानी का यथार्थ देश-काल में मनुष्य की उपस्थिति के वृत्तान्त अर्थात् जीवन-वास्तविकता के चित्रण में नहीं बल्कि उस वृत्तान्त या चित्र के बीच से उठे एक मानवीय क्षण की कौंध में समाया होता है। कहानी का प्राण, उसका मर्म यहीं बसता है। इस दृष्टि से देखें तो जयशंकर प्रसाद का 'आकाशदीप' वृहत्तर भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रची गई प्रेमकथा-भर नहीं है; वह प्रसादकालीन या समकालीन

स्त्री की त्रासद नियति की कथा भी है जो इस एक प्रश्न को मानवीय क्षण की चमक में उजागर करती है—'क्या स्त्री होना पाप है?' यशपाल की कहानी 'परदा' विघटनशील सामंती आत्मगौरव की लाचार नियति का आख्यान-भर न हो कर क्रूरता की विकराल छाया में दुबकी निरीहता की कहानी बन जाती है। टाट का परदा खींच कर खान क्या उस मानवीय क्षण को उद्घाटित नहीं कर देता जिसके भीतर फटे वस्त्रों में देह सहेजती विपन्नता की करुण मूर्तियाँ ही नहीं, इस कहानी का मर्म भी मौजूद है? क्या 'मलबे का मालिक' के ग़नी की आत्मीय निश्छलता और मासूमियत का सामना करते समय उसके बेटे का हत्यारा रक्खे पहलवान सहज रह पाता है? अपनी अन्तरात्मा के अंधकार में छटपटाते हुए वह जैसे सूखते होंठों और पसीने से तर जिस्म के साथ हाथ जोड़कर ग़नी के सामने कहानी के मानवीय क्षण में प्रवेश करता है। इन कहानियों को पढ़ते हुए यह देखा जाना चाहिए कि क्या वह देश-काल पाठक की चेतना की सतह पर मौजूद रह पाता है जिसकी सीमाओं के भीतर इन कहानियों का अनुभव आकार लेता है? या फिर पाठक उन क्षणों की सौन्दर्यात्मक कौंध में पराभूत हो उठता है जिनमें इन कहानियों का यथार्थ पुंजीभूत होता है?

एक उम्दा कहानी हमेशा एक मानवीय क्षण और निश्चय ही एक सौन्दर्यात्मक कौंध की तलाश में होती है। लेकिन कम ही कहानियाँ होती हैं जो उन्हें हासिल कर पाती हैं। ऐसी बिरली कहानियों में उस मर्म-क्षण की तलाश में कहानी का यथार्थ क्रमशः अपना रूपाकार ग्रहण करता है। कहानी की पूरी प्रक्रिया में पाठक यथार्थ के ब्यौरों के बीच से गुज़र कर उस क्षण-विशेष में यथार्थ को पहचान पाता है। इसके विपरीत इधर की कहानियाँ आम तौर पर ब्यौरों में ही यथार्थ को फैला कर रखती हैं और एक मानवीय क्षण तलाश पाने की सर्जनात्मक अक्षमता के चलते विकल्प के तौर पर कथाकार कोई ऐसा आकस्मिक या नारकीय क्षण, प्रायः ब्यौरे के अन्त में उपसंहार की युक्ति के तौर पर रख देता है, जिससे कहानी पूरी हो जाने का आभास हो। कहानी उसके लिए एक ऐसी संरचना-भर है जिसमें वह अपने अनुभव को अपेक्षित विन्यास दे सके। समय के सच को वह उस मानवीय क्षण की कौंध में नहीं पकड़ पाता जो एक उत्कृष्ट कहानी की पहचान है। यही वजह है कि इधर लिखी ज़्यादातर कहानियों की संरचना इतिवृत्तात्मक है। इतिवृत्त कहानी का मान्य नुस्ख़ा बन गया है। अनुभव को सपाट विवरण में, ऐतिहासिक समय की सतह पर फैला देने का यह नुस्ख़ा बुनियादी तौर पर उपन्यास की तरक़ीब है। मगर हिन्दी कहानी में इसे प्रेमचन्द की परम्परा के नाम पर अपनाया गया है। ऐसा नहीं है कि इतिवृत्त कहानी में वर्जित है। ऐसा भी नहीं है कि सपाट ब्यौरों या पुरानी क़िस्सागोई के अन्दाज़ में अच्छी कहानियाँ अब नहीं लिखी जा सकतीं। आख़िर प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कहानियाँ विवरणपरक ही तो हैं। लेकिन समय के मर्म को उतारने वाले विवरणों के बग़ैर क्या वे कहानियाँ लिखी जा सकती थीं? मुश्किल यह है कि आज की कहानियाँ घटनाओं के स्थूल और तथ्यात्मक विवरण देती हैं, लेकिन कहानीकार है कि समय का मर्म उतार लेने का दावा करता है।

दरअसल समय के प्रत्यक्ष विवरण को समय का मर्म समझ लेने की भूल से वह अनजान ही रहता है जबकि उसके हाथों से यह मर्म छूट ही जाता है। हाथ में रह जाता है, कहानी होने का आभास देता सपाट गद्य।

कहानी का यह गद्य अपनी अन्तर्वस्तु की समाजशास्त्रीय बनावट के चलते सामाजिक यथार्थ का हमशक़्ल-सरीखा दिखाई देता है। समाजशास्त्र की प्रत्यक्षवादी (पॉज़िटिविस्ट) पद्धति यथार्थ के साथ जिस तरह का बर्ताव करती है, आज की बहुत-सी कहानियाँ जैसे उसे ही दुहराती हैं। कहानीकार यथार्थ पर नहीं, यथार्थ की विश्वसनीयता पर अधिक ज़ोर देता है। इसलिए कहानी में निर्मित वृत्तान्त विश्वसनीय यथार्थ का वृत्तान्त बन कर रह जाता है। ऐसा वृत्तान्त पत्रकारिता के गद्य के क़रीब, रिपोर्ताज या सत्यकथा-सरीखा होता है। मालूम पड़ता है कि नई कहानी के दौर का अनुभववाद (इम्पीरिसिज़्म) जैसे रूप बदल कर आज के प्रत्यक्षवाद में फिर से अवतरित हुआ है। इस बार उसका आग्रह आत्मानुभूति पर नहीं, सामाजिक अनुभववाद पर है। अनुभव का यह 'सामाजिक' न सिर्फ़ स्थूल, तथ्यात्मक और घटनापरक है बल्कि अनुभव के 'आत्म' के साथ संवाद या घर्षण से मुक्त भी है। कहानी की संवेदना उसकी सतह पर चमचमाती नज़र आती है। लेकिन यह दरअसल संवेदना के मर्म में छिपी आन्तरिक दमक न हो कर विश्वसनीय यथार्थ की तात्कालिक चमक होती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि नई कहानी के 'अनुभव की प्रामाणिकता' ही आज 'यथार्थ की विश्वसनीयता' बन कर प्रकट हुई है। नई कहानी में अनुभव आभ्यंतरिक था; आज की कहानी का यथार्थ बहिर्गत है। नई कहानी के अनुभव की आत्मनिष्ठता और आज की कहानी में यथार्थ के प्रायः वस्तुनिष्ठ चरित्र की जाँच की जाये तो ये दोनों एक ही सिक़्क़े के दो पहलू जान पड़ेंगे। प्रामाणिकता या विश्वसनीयता का यह सिक़्क़ा खरा न होने पर भी नई कहानी में जैसे चला, वैसे ही आज भी चल रहा है।

सच कहा जाये तो कहानी को किसी अन्तर्बाह्य विश्वसनीयता की, अथवा उसके भीतर निहित वास्तविकता के सत्यापन की दरकार नहीं है। वह यथार्थ से प्रतिश्रुत है, यथार्थवाद से नहीं। कहानी का यथार्थ उसका अपना, सर्वथा निजी और स्वायत्त यथार्थ है, पूरी तरह स्व-प्रमाणित यथार्थ—जीवन-वास्तविकता के धरातल पर खड़ा हुआ, किन्तु उससे स्वतन्त्र। यथार्थवाद के विभिन्न रूप और संस्करण भी वस्तुतः यथार्थ को प्रामाणिक बनाने की नहीं, उसे सम्प्रेषित करने की प्रविधियाँ हैं। इसलिए यथार्थ से कहानी के रिश्ते की चरितार्थता उसे विश्वसनीयता देने की बजाये उसके भीतर से संवेदना को निचोड़ लेने में है, फिर इसके लिए यथार्थ को अप्रामाणिक ही क्यों न बना देना पड़े। फ़ैंटेसी के शिल्प में लिखी कहानियाँ यही तो करती हैं। यथार्थ को गढ़ने की बजाय अगर कहानी निचोड़ दे तो इस निचुड़े हुए यथार्थ को कितनी प्रामाणिकता की दरकार होगी? कहानी आख़िरकार एक कलाकृति है। उसका समग्र प्रभाव, उसका निचोड़, उसकी सौन्दर्य-निष्पत्ति में है।

लेकिन आज की ज़्यादातर कहानियाँ सौन्दर्यात्मक प्रभाव या संवेदना-रस को

लक्ष्य करने के बजाये यथार्थ को आख्यान में बदलने की आतुरता में रची जा रही हैं। इस प्रक्रिया में कहानीकार यथार्थ से पूर्व-परिचित और उसके प्रति निश्शंक अथवा प्रश्नहीन जान पड़ता है और कहानी के ज़रिये मानो वह पाठक का यथार्थ से परिचय-भर करा रहा होता है। अगर कहानी उसके तईं पुनर्रचना है—जैसे कि सचमुच वह है—तो महज़ इस अर्थ में कि जाने हुए यथार्थ को वह पाठक की ख़ातिर दुबारा रचता है। वह जिज्ञासु नहीं, ज्ञाता बन कर यथार्थ के सामने जाता है, उसे पूरी तरह भेद्य और ज्ञेय मानते हुए। वह भूल बैठता है कि जिस सामाजिक अनुभव को वह यथार्थ मान कर ठीक तरह-से जान-समझ लेने का दावा कर रहा होता है, उसमें वस्तुतः पाठक की भी साझेदारी है—कम-से-कम दैनिक अनुभव की प्रचलित या औसत भंगिमाओं से पाठक इस क़दर परिचित होता है कि कहानी में उनकी उपस्थिति कोई रोमांच या अपरिचित से साक्षात्कार की उत्सुकता नहीं जगाती। ऐसे पाठक के लिए कहानी पढ़ना किसी अप्रत्याशित सुख या विस्मय को प्रत्यक्ष नहीं करता; वह सौन्दर्यानुभव नहीं, सचाई का पुनर्प्रकाशन-भर है। क्या आदर्श स्थिति में कहानी यथार्थ को जानने की प्रक्रिया में उसे अन्वेषित करने के अनवरत रोमांच का ही नाम नहीं है? यदि यह सच है तो कहानी लिखने की प्रक्रिया यथार्थ को समझने का ही प्रयत्न है। आईने के सामने खड़े होकर अपने बिम्ब को निहारना सचाई का पुनर्प्रकाशन-भर नहीं, अपने को जानने का प्रयत्न भी है।

ज़ाहिर है, कहानी का मर्म और उसकी पहचान यथार्थ में नहीं, यथार्थ की उस विशिष्ट भंगिमा में निहित है जो संवेदना और अर्थ की सघन लय को पाठक के भीतर उतार कर उसे पराभूत कर देती है। यहाँ यथार्थ से ज़्यादा महत्वपूर्ण है, उसकी प्रस्तुति। अनुभव में नहीं, अनुभव की निर्मिति में कहानी सम्भव होती है। अनुभव आख़िर भाषा में निर्मित होता है। इसलिए जिसे यथार्थ की भंगिमा समझा जाता है, वह दरअसल भाषा की भंगिमा है।

कठिनाई यह है कि यथार्थ की भंगिमा को भाषा में आलोकित करने की बजाये अनेक कथाकार स्वानुभूत और स्वरचित यथार्थ को कहानी का मानक यथार्थ मान कर चलते हैं। दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श के नाम पर यह मानक यथार्थ इन दिनों खूब चलन में है। यहाँ कहानी मानो यथार्थ की नपी-तुली काया पर चढ़ी पोशाक-भर है; ज़ोर यथार्थ पर है, कहानी पर नहीं। लेखक यथार्थ लिख रहा है, कहानी नहीं। वह यथार्थ को प्रकाशित करने की युक्ति या विधि खोजने की बजाय पहले उसे अलगाता है, फिर उस पर कब्ज़ा जमाने की जुगत में लग जाता है। यथार्थ पर आधिपत्य स्थापित कर लेने के बाद वह उस पर दूसरों के दावे ख़ारिज करने लगता है। दलित-जीवन के यथार्थ पर दलित-कथाकार का और स्त्री-जीवन के यथार्थ पर महिला कथाकार का आधिपत्य घोषित कर दिया गया है। यह महज़ इस बात की सूचना नहीं है कि कहानी अस्मिता की राजनीति के चारों तरफ़ परिक्रमा करने वाले उपग्रह में बदल दी जा रही है, बल्कि एक विधा के रूप में यह स्वयं कहानी की स्वायत्तता पर हस्तक्षेप है। मानो

वह यथार्थ का बखान-भर है, कहानी नहीं। बखान भी वह ऐसे यथार्थ का है जो अस्मिता की राजनीति के द्वारा मानकीकृत किया जा चुका है। यह स्वानुभूति में अपघटित यथार्थ है जिसकी वैधता का आधार अपनी जातिपरक या लिंगपरक अस्मिता-सहित लेखक की उसमें प्रत्यक्ष भागीदारी-भर है, उसकी सौन्दर्यात्मक विश्वसनीयता नहीं। यथार्थ के अधिग्रहण और मानकीकरण की मुहिम में कहानी कुचल गई। यथार्थ का उत्पादन ज़रूर बढ़ गया है, परन्तु कहानी का सृजन घटने लगा है। आज कहानी की बुनियादी समस्या भाषा में यथार्थ की मुक्ति की समस्या है। अगर यथार्थ कहानी का प्राणतत्व है तो कहानी यथार्थ की काया ही तो है। यथार्थ की मुक्ति इस काया के भीतर ही सम्भव है, उससे बाहर नहीं।

एक गद्य-विधा की आत्म-विस्मृति

पिछले दिनों पत्र-पत्रिकाओं में छपी कुछ कहानियों को पढ़ते हुए मन में सवाल कौंधा—'क्या कहानी को याद है कि वह कहानी है?' इन कहानियों की विवरणात्मकता का प्रभाव कुछ इस तरह का था कि वे घटित का तथ्यात्मक अभिलेख मालूम पड़ती थी। वे कहानी होने की अपनी अनिवार्यता को भूल कर एकरैखिक वृत्तान्त होने की विवशता के आगे नतमस्तक थी : मानो यथार्थ ने यथातथ्य का हथौड़ा उसके सिर पर दे मारा हो और वह याददाश्त खो बैठी हो। क्या कोई विधा सचमुच इस तरह की आत्मविस्मृति का शिकार हो सकती है?

दरअसल कहानी का कारोबार जीवन से इस कदर जुड़ा हुआ है कि पाठक या कोई सामान्य व्यक्ति भी अपने जीवन की झलक उसमें पा सकता है। पुराने ढंग की कहानियों-आख्यायिकाओं में यह सम्भव न था। लेकिन आधुनिक कहानी की बुनियादी शर्त ही है—साधारण आदमी के जीवन की पहचान। शायद इसे समझ-बूझ कर ही प्रेमचन्द ने कहा होगा—'मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी लालसा यह है कि वह कहानी बन जाये।'

मगर नामवर सिंह इस कथन का प्रत्याख्यान करते हुए पूछते हैं कि 'जीवन के कितने अवसर हैं जब, प्रेमचन्द के ही सही, पात्र हमारे अनुभवों और विचारों को व्यक्त करने के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं?' वे बताते हैं कि 'प्रेमचन्द की इतनी कोशिशों के बाद भी कहानी-उपन्यास बहुतों के लिए गल्प ही है' (कहानी-नई कहानी, पृ॰ 71)।

इसमें संदेह नहीं कि नामवरजी ने नई कहानी के दिनों में जब ये पंक्तियाँ लिखी होंगी तब निश्चय ही कहानी अपने समूचे नयेपन के बावजूद अन्ततः गल्प थी और पाठक का उसके साथ ऐसा तादात्म्य न था कि कथा के चरित्र पाठकों के जीवन का हिस्सा मालूम पड़ने लगें। लेकिन प्रेमचन्द के वाक्य को, लगता है, नामवरजी ने उल्टे सिरे से पढ़ा होगा—'कहानी के पात्रों की सबसे बड़ी लालसा यह होनी चाहिए कि वे मनुष्य-जीवन का अंग बन जायें'—तभी वे साधारण मनुष्य के जीवन में कथा-चरित्रों के दृष्टान्त न बन पाने को रेखांकित करते हैं।

मगर प्रेमचन्द मनुष्य-जीवन की चरितार्थता, उसकी चरम सार्थकता कहानी में देखते हैं। इसलिए साधारण मनुष्य से उनकी अपेक्षा है कि वह कहानी में ढल जाये, जबकि नामवरजी कहानी के पात्रों से अपेक्षा करते हैं कि वे सामान्य जीवन में उतर आयें। ऐसा न होते देख उन्हें लगा होगा कि साधारण व्यक्ति यानी पाठक और कहानी

के रिश्तों के बीच कोई दरार है। क्या कहानी की गल्पता ही यह दरार नहीं है?

लेकिन कहानी की गल्पता तो उसका चारित्रिक लक्षण है। एक विधा के रूप में आधुनिक कहानी की पहचान के दो प्रत्यय हैं—जीवनानुभव यानी यथार्थ पर एकाग्रता और यथार्थ का गल्पात्मक रूपान्तरण। फिर कहानी की गल्पता को पाठक के साथ उसके रिश्ते की अन्तर्बाधा क्यों माना जाये? या पाठक और पात्र के बीच पूर्ण तादात्म्य की अपेक्षा ही क्यों की जाये? सच तो यह है कि कहानी की गल्पता ही उसे कहानी बनाती है और बराबर याद दिलाती रहती है कि वह कहानी है, कि वह 'वास्तव की प्रतिमा' है, स्वयं वास्तव नहीं। पाठक के लिए कहानी इसलिए भी गल्प है कि वह उसे मुख्यतः मनोरंजन के साधन की तरह बरतता है। यह तथ्य नई कहानी के दिनों की सचाई-भर नहीं, आज की भी वास्तविकता है। पाठक मन बहलाने के लिए कहानी पढ़ता है।

लेखक की विवशता यह है कि वह मन बहलाने-भर के लिए नहीं लिखता। वह अपनी दुनिया को जानने और अपने 'स्व' के विस्तार में पाने के प्रयत्न में उसे रचता है। वह सर्जक है और सृजन का अर्थ उसके लिए अपने ही यथार्थ की गल्प-सम्भावनाओं को खोजने और उन्हें भाषा में अनूदित करने का संघर्ष है। वह रचना यथार्थ को है, लेकिन बन जाता है गल्प। लेखक की पहली मुठभेड़ यथार्थ से है जबकि पाठक का सामना होता है गल्प से। शायद इसी सचाई के मद्देनज़र नामवरजी कहानी-उपन्यास की गल्पता को रेखांकित करते हुए कहते हैं, 'शायद ही कोई स्तर है जिस पर कथा-साहित्य अपनी वास्तविक गम्भीरता से लिया गया हो।' दरअसल प्रेमचन्द ने जिसे 'मनुष्य-जीवन' कहा उसे नामवरजी ने 'साधारण पाठक' में बदल कर व्याख्या की है। उनका ज़ोर कहानी के गल्प होने पर है; प्रेमचन्द का ज़ोर कहानी की यथार्थवत्ता पर है। प्रेमचन्द कहानी के निपट काल्पनिक होने का निषेध करते हैं। नामवरजी उसके पूर्णतः वास्तविक होने को नकारते हैं। कहानी न पूरी तरह यथार्थ है, न पूरी तरह कल्पना।

प्रेमचन्द के कथन को ठेठ आज की कहानियों के सन्दर्भ में पढ़ें तो यह देख पाना मुश्किल न होगा कि आज का मनुष्य-जीवन वाक़ई कहानी बन गया है। कहानी इतनी सजग है कि अपनी कहानी होने की आकांक्षा को दाँव पर लगा कर भी मनुष्य-जीवन की वास्तविकता का वरण करती है; गल्प में ढल जाने की मनुष्य की लालसा पूरी करना ही मानो उसका कर्तव्य हो। यह देखकर किसी पाठक को अचरज नहीं होगा कि स्वयं उसका जीवन, आसपास के लोग, उसका यथार्थ कहानी में रूपान्तरित हो रहा है। कहानीकार के भीतर कारख़ाने में प्रत्यक्ष (फ़र्स्ट हैंड) जीवनानुभव की ढलाई हो रही है। कच्चे माल की तरह यथार्थ का इस्तेमाल हो रहा है। विडम्बना यह है कि बाज़ार में उतरा तैयार माल भी यथार्थ ही है—अपने वृत्तात्मक रूपगठन में एक गल्पहीन वास्तविकता।

यानी पाठक अब कहानी के रूप में गल्प नहीं, यथार्थ पढ़ रहा है—निपट तथ्यात्मक यथार्थ। वह कहानी के पात्रों को दृष्टान्त की तरह नहीं देखता, लेखक ने उसे

ही दृष्टान्त बना दिया है। मनुष्य-जीवन और कथा-संसार के बीच की दरार को बहुत-से कहानीकारों ने पाट डाला है। वे यथार्थ की संक्रामकता से इस क़दर पीड़ित है कि उसे गल्प में बदलने की कीमियागिरी ही भूल बैठे हैं। ऐसा नहीं है कि केवल नये कहानीकारों ने समकालीन यथार्थ के मारक असर में अपने हाथ-पाँव ढीले कर दिये हों, अचरज है कि स्वयं प्रकाश-जैसे सिद्ध कथाकार भी उसे सपाट विवरण में, एकरैखिक ढंग से प्रस्तुत करने को विवश हुए हैं। उनकी 'मंजू फालतू' वैश्वीकरण और कारपोरेट कार्य-संसकृति के प्रसार के चलते पिछले दो दशकों में विकसित हुए परिदृश्य के भीतर एक कामकाजी स्त्री के जीवन-क्रम को, घट्यमान इतिहास और कथा की समानान्तरता में, कुछ इस तरह प्रस्तुत करती है कि कथा इतिहास का यांत्रिक उत्पाद मालूम पड़ने लगती है। इस कहानी को पढ़ते हुए यह प्रश्न सहज ही उठ सकता ह कि सामाजिक प्रक्रिया और मनुष्य की नियति का रिश्ता क्या ऐसा ही सूत्रबद्ध और सरलीकृत होता है? क्या उस सपाट तरीक़े से एकायामी वृतान्त में समेट लिया जा सकता है? इस कहानी का यांत्रिक नियतिवाद, कहने की ज़रूरत नहीं कि समकालीन यथार्थ के अतिशय दबाव का नतीजा है, जिसे कहानी में उतारने की जल्दबाज़ी में स्वयं यथार्थ की अँदरूनी संरचना, उसकी द्वन्द्वात्मकता को नज़रअंदाज़ कर दिया गया है।

कहानी की नायिका मंजू एक ऐसी युवती है, जिसने कम्प्यूटर यंत्रीकरण के शुरुआती दौर में अपना कामकाजी जीवन शुरू किया है। अपने सहकर्मी नितिन से उसने प्रेम किया, विवाह किया, दो बेटियों की माँ बनी। फिर परिवार की ज़रूरत और दिक़्क़त के चलते उसे नौकरी छोड़नी पड़ी। बेटियाँ बड़ी होती गयीं और उनकी आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के साथ तालमेल बिठाने में उसकी मुश्किलें बढ़ती गईं। पति ने भी बेटियों का साथ दिया। अकेलेपन और व्यर्थता-बोध की गिरफ़्त में आती मंजू चुपचाप घर सम्भालती रही। बेटियाँ और पति बाहर आते-जाते रहे। मंजू घर में सिमटी रही। बाहर दुनिया तेज़ी से बदल रही थी। इतनी तेज़ी से कि चालीस पार कर रहे नितिन के सिर पर भी अपनी कम्पनी के कामकाज में पिछड़ जाने और फालतू हो जाने का ख़तरा मँडराने लगा। ऐसे में मंजू ने खुद को फिर से साबित करने और दुनिया से लड़ने की ठानी। उसने कम्प्यूटर पर काम करना और नौकरी ढूँढना शुरू किया। लेकिन एक ही कम्पनी में सात साल का कामकाजी अनुभव और बढ़ती उम्र ही उसकी अयोग्यता बन गये। हताशा में उसे लगा, वह हारी हुई लड़ाई लड़ रही है। लेकिन वह पति और बच्चों की दया का पात्र नहीं बनना चाहती थी। वह सनकने लगी, टूटने लगी। सनक में उसने अपने फालतू होने की नियति को स्वीकार कर लिया। यही उसके लगभग बीस वर्ष के जीवन का क्रम है।

कहानी का, यूँ तो सार-संक्षेप नहीं हो सकता। लेकिन यदि यह मंजू के आयुष्य-क्रम का सार-संक्षेप है तो कहना होगा कि इस कहानी में यथार्थ की विवरणपरक बनावट अपने सार-संक्षेप का अवकाश स्वयं देती है। मंजू अगर हमारे समाज में रहने वाली एक वास्तविक स्त्री है तो उसका जीवन-वृत्त पेश करने, उसकी सच्ची कहानी

कहने का आग्रह भी उसके यथार्थ को वृत्तान्तपरक बनाता है। अगर यह कहानी बीस साल बाद लिखी जाती तो उसमें मंजू के पूर्ण आयुष्य-क्रम का ब्यौरा होता। बीस सालों में जो घटित होगा, कहानी उसका प्रतिनिधान करती नज़र आती, जैसे कि वह अपने मौजूदा प्रारूप में बीते हुए बीस सालों का प्रतिनिधान करती है। यथार्थ की यह अनुमेयता, ज़ाहिर है, अनुभव की उस बनावट में निहित है जिससे कहानी आकार ग्रहण करती है। इस कहानी की सफलता यदि कुछ हो सकती है तो शायद यही कि मंजू-सरीखी स्त्रियाँ उसके चरित्र में अपने जीवनानुभव को चरितार्थ होते देख अपने यथार्थ को उससे सत्यापित कर सकती हैं। शायद प्रेमचन्द आज होते तो प्रसन्न होते कि मंजू-सरीखी स्त्रियों की यह लालसा पूरी हो रही है कि उनका जीवन कहानी बन जाये। पता नहीं नामवरजी इसे 'गल्प' कहेंगे, कि नहीं?

यह सिर्फ़ मंजू के जीवन-यथार्थ का वृत्तान्त नहीं है। मंजू के जीवन के ऊपरी ब्यौरों के बहाने यह उस यथार्थ का पता देती हुई लगती है जो वैश्वीकरण का बायप्रोडक्ट है। यथार्थ के माध्यम से सामाजिक प्रक्रिया को आविष्कृत करने की बजाये यह सामाजिक प्रक्रिया को लेकर बनी समझ के दबाव में यथार्थ को गढ़ने की कोशिश है। लेकिन यथार्थ यहाँ इतना वाचाल है कि वह सामाजिक प्रक्रिया को परचम की तरह ले कर हवा में लहराता है। वह कहानी की गल्पात्मक सम्भावना को कुचल देता है, उसकी विधागत स्मृतियों को पोंछ देता है। यहाँ कोरा आख्यान है। सच पूछिये तो मंजू के जीवन की तथ्यात्मक रपट है।

इस तरह की अनेक कहानियाँ इन दिनों लगातार प्रकाशित हो रही हैं जिनमें कोरे आख्यान को कहानी के रूप में रख दिया गया है। शायद इसके पीछे यह 'कॉमन सेंस' सक्रिय है कि घटना ही कहानी है; यानी कहानी अनुभव का वृतान्तपरक पाठ-भर है। यदि यह सच है तो रोज़मर्रा के अनुभव को सामान्य वार्तालाप में कहना भी कहानी होना चाहिए। इस अर्थ में हर व्यक्ति कथाकार होगा।

लेकिन हम जानते हैं कि सामान्य अनुभव का कथन होने के बावजूद कहानी एक गद्य-विधा है। सामान्य अनुभव अपनी सामान्यता यानी वस्तु-सत्ता में नहीं, बल्कि ख़ास तरह की निर्मिति में कहानी का रूप-कल्प प्राप्त करता है। निर्मिति ही उसकी गल्प-सत्ता का मूलाधार है जो दरअसल भाषा के विशिष्ट विन्यास में सम्भव होती है। यही उसका कहानीपन है। पर कहानीपन भाषा का महज़ रूपात्मक ठाठ नहीं है। वह अनुभव का विशिष्ट विन्यास है जिसे कथात्मक लय कहा जा सकता है। नामवरजी के मुताबिक 'कविता में जो स्थान लय का है, कहानी में वही स्थान कहानीपन का है।' ज़ाहिर है, सपाट आख्यान में कथात्मक लय नहीं होती। उसमें सरपट भागता घट्यमान यथार्थ होता है जो लय को बनने ही नहीं देता। अपनी त्वरा मे वह उस मानवीय क्षण को धकिया कर निकल जाता है, जहाँ कहानी का मर्म एकाग्र होता है। इस क्षण को 'विडम्बना', 'अन्तर्विरोध', 'क्राइसिस', 'द्वन्द्व', 'सार्थकता', या 'अर्थगर्भत्व', कुछ भी कहा जा सकता है। यह होता तो अनुभव के भीतर है, लेकिन कौंधता भाषा में है।

कथात्मक लय को यह भाषा में प्रक्षेपित करता है। तभी कहानी बनती है।

इस नज़र से देखने पर आज की बहुत-सी कहानियों में सपाट वृत्तात्मकता के चलते यदि कहानीपन का अभाव मिलता है तो इसका कारण आज के यथार्थ की बनावट को मान लिया जाता है। यथार्थ अपनी गत्वर प्रकृति के चलते यूँ तो किसी साहित्यिक या विधागत अनुशासन में बँधने से इनकार करता है लेकिन उसकी सतह पर उतराती घट्यमानता उसे वृत्तान्त की चालू प्रविधि में पकड़ने की पूरी मोहलत देती है। इस मोहलत के चलते अनेक कहानीकार यथार्थ के विडम्बनात्मक क्षणों की खोज में उसके भीतर न जाकर उसकी सतह की प्रकट घटनात्मकता को ही कथ्य की तरह बरतने लगते हैं। उन्हें यथार्थ की बनावट वृत्तान्तपरक लगती है। मगर उनकी कहानियों में कहानीपन की कमी का कारण यथार्थ की वृत्तान्तपरक बनावट नहीं, बल्कि वृत्तान्तपरकता को कहानी की एकमात्र प्रविधि समझ लेने की सरल तरक़ीब है। यह तरक़ीब कथात्मक लय का संधान करने की बजाये यथार्थ की सतह पर तैरती घटना को तत्काल अनुभव-प्रारूप में बदल देती है। इस अनुभव-प्रारूप के भीतर कहानी का स्पन्दन नहीं, आख्यान की पार्थिव काया-भर होती है। उसमें घटनात्मक वास्तविकता तो होती है, जिसे सिद्ध करने में आख्यान का सारा सर्जनात्मक उद्यम निचुड़ जाता है, लेकिन गल्पात्मक विश्वसनीयता नहीं होती, जिसे अर्जित कर लेने पर ही आख्यान कहानी बन पाता है। कहानी अनुभव के उस गलनांक में सम्भव होती है, जब उसकी घटनात्मक वास्तविकता पिघल कर गल्पात्मक विश्वसनीयता में ढलती है। निपट वृत्तान्तपरक कहानी में भी अनुभव का यह गलनांक जो वृत्तान्त को कहानी बनाता है, सम्भव है, अगर अनुभव के प्रकृत विन्यास में ही जीवन के विडम्बनात्मक क्षणों से साक्षात्कार का अवकाश मौजूद हो। यशपाल या भीष्म साहनी या खुद स्वयं प्रकाश के यहाँ इसके साक्ष्य मिलते हैं।

यथार्थ के इन विडम्बनात्मक क्षणों की खोज से विरत होने के कारण बहुत-सी कहानियाँ एक गद्य-विधा होने का आत्मबोध खो बैठी हैं। इधर कम ही कहानियाँ होंगी जिनमें अपने रूपगठन को लेकर सजग होने के साक्ष्य मिलते हों। दो दशक पहले आलोचक मदन सोनी ने शिकायत की थी कि एक विधा के रूप में हिन्दी कहानी अपनी निर्मिति को लेकर प्रायः उदासीन है। समाज और यथार्थ के प्रति उसकी अतिरिक्त सजगता को इसका कारण बताते हुए उन्होंने चिन्ता प्रकट की थी कि 'विधागत समझ के प्रति उदासीनता ने हमारे कहानीकार को अपने समय के प्रति उत्सुक तो बनाया पर उस समय का विधागत रूपान्तरण इसी के चलते उसे सम्भव नहीं हुआ।' उनकी राय में 'किसी कहानी की सार्थकता की माप सिर्फ़ इस बात से नहीं होगी कि उसमें यथार्थ की पहचान कितनी मात्रा में है। वह इस बात से होगी कि वह पहचान जितनी भी हो, किस तरह की है।' (पूर्वग्रह 67 में प्रकाशित 'घीसू-माधव की कमज़ोर सन्तानें' शीर्षक लेख) मदन सोनी 'किस तरह' पर ज़ोर देते हैं और स्पष्ट करते हैं कि 'किस तरह' का सम्बन्ध कहानी की निर्मिति से है। स्पष्ट है, वे 'समय के प्रति

उत्सुकता' अथवा 'यथार्थ की अधिकाधिक पहचान' की अपेक्षा अपनी निर्मिति के प्रति सजगता को कहानी की ज़्यादा ज़रूरी शर्त मानते हैं।

एक गद्य-विधा के रूप में आधुनिक कहानी ने पुराने ढंग की कहानियों से अलग अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व अर्जित किया तो पुरानी कहानी की काल्पनिकता, अतिलौकिकता, लाक्षणिकता, वाचिक सम्प्रेषण और सामुदायिक संचार की अनिवार्यता आदि विशेषताओं को तज कर जिस एक चीज़ को बचाये रखा, वह थी कहानी होने की आत्मचेतना, उसका अपना कहानीपन। व्यक्ति के बदलते संसार को आधुनिक कहानी ने अनुभव के बदले हुए विन्यास में पकड़ने की कोशिश की। इस कोशिश को, मदन सोनी के ही शब्दों में कहूँ तो, एक नये 'भाषिक व्यवहार' में ही चरितार्थ किया जा सकता था, जिसमें सब-कुछ उतना ही नया था जितना कि स्वयं कहानी को सम्भव करने वाली आधुनिकता का बोध नया था। नितान्त इहलौकिक तत्वों से निर्मित कहानी की इस आधुनिक देह के भीतर अब भी उसकी विधागत आत्मचेतना स्पन्दित हो रही थी, जिसने पुराने ढंग की आख्यायिकाओं में कभी जीवन्तता का संचार किया था। यह उसकी बुनियादी पहचान थी। कहानी के नये भाषिक व्यवहार में यथार्थ से सीधी मुठभेड़ के साथ ही उसकी आन्तरिक विडम्बना को खोजने की व्यग्रता ने उसकी यह पहचान बचाई थी। मगर यह पहचान उसे अनायास ही प्राप्त नहीं हो गयी। इसे कहानी ने यत्नपूर्वक अर्जित किया।

हिन्दी कहानी के शुरुआती दौर में कहानी के विधागत देह-कल्प को अर्जित करने का संघर्ष स्पष्ट दिखाई देता है। 'एक टोकरी-भर मिट्टी', 'ग्यारह वर्ष का समय', 'दुलाईवाली', 'झलमला', 'इंदुमती' आदि कहानियों के रूपगठन की विशृंखलता और अनगढ़पन का कारण वस्तुतः अनुभव के नये विन्यास को अर्जित करने की कोशिश में एक स्वतन्त्र विधा की शुरुआती लड़खड़ाहट है। इस कोशिश में विधागत स्वायत्तता प्राप्त करने और गद्य की देहयष्टि में कहानीपन को संजोने की आकांक्षा को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। इसके पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के गद्य में निबन्ध और कथा का जो मिश्रण बन रहा था, उसमें हिन्दी कहानी की प्रसव-पूर्व अकुलाहट का सहज ही अनुभव किया जा सकता है। भारतेन्दु के सामने कहानी की विधागत संरचना के आविष्कार की समस्या थी जिसे अपने यथार्थ के साथ भाषिक व्यवहार में वे सुलझा न सके। अपने समय में उपलब्ध कथा-संरचनाओं—लोककथाओं का स्वैरवाद, आख्यायिकाओं के रूपक या फ़ेबल, दृष्टान्त अथवा अपने ही समकालीन देवकीनन्दन खत्री की फँतासी—के बरअक़्स भारतेन्दु के सामने कथा के एक ऐसे मॉडेल की तलाश का लक्ष्य रहा होगा जिसमें वे अपनी समकालीन वास्तविकता को विन्यस्त कर सकें। इस दिशा में प्रयास करते हुए वे निबन्ध में कथातत्व और कथा में निबन्धात्मक विवरण की घुसपैठ को रोक नहीं पाये। लेकिन बाद में गुलेरी, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद आदि ने इस समस्या को सुलझाने में क़ामयाबी हासिल की। हिन्दी कहानी में क्रमशः प्रौढ़ता आने लगी। इसका श्रेय पिछली सदी के प्रारम्भ के उस

सर्जनात्मक उद्यम को है जिसकी वजह से कहानी के भीतर विकसित हुई विधागत आत्मसजगता उसका चारित्रिक लक्षण बन गई।

ज़ाहिर है, कहानीकारों ने इसे अपने यथार्थ को आयत्त करने की प्रक्रिया में स्वतः अर्जित किया था, लेकिन धीरे-धीरे यह कहानी का नैसर्गिक स्वभावगत गुण बन गया। जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय तक पहुँच कर कहानी की यह आत्मचेतना उसके भीतर कुछ इस तरह अवस्थित थी कि कहानी से अलग उसे देखा ही नहीं जा सकता था। यहाँ तक कि नई कहानी ने जब यथार्थ के बदल जाने पर अतिरिक्त बल देना शुरू किया तब भी विधागत चेतना में कोई विचलन होता दिखाई न दिया। वह अक्षत-असंदिग्ध मालूम पड़ती थी। लेकिन सच पूछा जाये तो यथार्थ का भजन करते हुए खुद अपने को भूल जाने का अभ्यास नई कहानी के समय से ही प्रारम्भ होने लगा था। कहानी की विधागत आत्मचेतना में यहीं से विचलित होने के लक्षण उभरने लगे थे, यद्यपि स्पष्ट न थे। 'सामने वाले क्षण' और 'वर्तमान' में यथार्थ को परिसीमित कर देने की उतावली में राजेन्द्र यादव जब ऐलान कर रहे थे कि 'वर्तमान की मूल्यविहीन विभीषिका को स्वीकार और बाक़ी सबको पूर्णतः अस्वीकार कर देने के सिवाय और कोई चारा नहीं है। अतः कहानी की अनुभूति और समय क्षेत्र सिमट गया है। और दोनों जगहों पर वह वर्तमान और केवल वर्तमान की कहानी रह गई है', (एक दुनिया समानान्तर, पृ॰ 63) तब दरअसल वे 'वर्तमान की विभीषिका' को कहानी का निर्विवाद कथ्य मानने का आग्रह ही प्रकट कर रहे थे। वर्तमान में सिमटे इस यथार्थ और उसकी प्रामाणिकता पर ज़ोर देने का नतीजा यह हुआ कि कहानी की विधागत निर्मिति और यथार्थ की अपनी निर्मिति के बीच सन्तुलन डगमगाने की आशंका के बीच पड़ गये। विधागत समझ को लेकर नई कहानी का कोई ऊपरी आग्रह न था, न ही इसकी आवश्यकता थी; क्योंकि विधा होने की प्रकृत चेतना मौजूद थी। पूर्व-परम्परा से विरोध के बावजूद नई कहानी की बुनियादी रचनात्मकता विधागत समझ की दृष्टि से पूर्ववर्ती कहानी से बहुत अलग नहीं थी। यही बात कहानी की साठोत्तरी धाराओं के बारे में भी कही जा सकती है जहाँ अलग-अलग ढंग से यथार्थ और उसकी समकालिक प्रासंगिकता पर ज़ोर बढ़ता गया था। विभिन्न कथा-आन्दोलनों के यथार्थ के अपने-अपने संस्करणों में उसकी सामाजिकता के निजी आग्रह प्रकट और लुप्त हो रहे थे। लोकतंत्र की विफलता से उपजे साठोत्तर आक्रोश और जन-आकांक्षाओं से कहानी को जोड़ने की इन कोशिशों में समाज की सतह पर प्रकट हुए यथार्थ को कहानी के आधिकारिक यथार्थ का दरजा अनायास ही हासिल हो चुका था। समान्तर कहानी के 'आम आदमी' के निहत्थेपन को दूर कर जनवादी कहानी का 'पॉज़िटिव हीरो' रचा गया तब उसके इर्द-गिर्द भी आधिकारिक यथार्थ का संजाल बुना हुआ था। यही कहानी का प्रतिनिधिक यथार्थ था जिसमें अतिरंजित नायकत्व को 'क्रान्तिकारी रूमानवाद' के रूप में मान्यता भी दी जाने लगी थी। साहित्य को जन-आन्दोलनों का सहवर्ती मान कर कहानियों में जन-संघर्षों की रिपोर्टिंग की जा रही थी। कहानी का यथार्थ वर्तमान का पर्याय बन

गया। नई कहानी में जिस 'वर्तमान की विभीषिका' को स्वीकार करने की प्रतिश्रुति प्रकट की गई थी, रपटनुमा ये कहानियाँ उसकी स्वाभाविक फलश्रुति थीं। कहानी होने की विधागत सजगता मानो अब कलावादी ढकोसला हो गई थी। नई कहानी के दिनों का 'कुलबुलाता हुआ यथार्थ' (राजेन्द्र यादव के शब्द) अब उग्र होकर सामाजिक विद्रोह और क्रान्ति के मुहावरे में प्रकट हुआ था। क्रान्तिकारी नायक अपने 'वर्तमान की विभीषिका' से लड़ रहा था और उसके क़दमों तले कहानीकार की विधागत समझ दम तोड़ रही थी। मदन सोनी ने ऐसी कहानियाँ को ठीक ही 'यथार्थ के प्रति दास्य भाव की कहानियाँ' और उनके नायकों को, उनके तेवर के मद्देनज़र 'घीसू-माधव की कमज़ोर सन्ताने' कहा है। इन नायकों के क्रान्तिकारी तेवर को छोड़ दें तो भी वे जिस यथार्थ का हिस्सा बनते हैं, कहानी उसकी निर्मिति के प्रति इतनी उदासीन है कि उसके उस चरित्र पर आघात करने से हिचकती है। वह ज़्यादातर 'यथातथ्य' के साथ चलती है; जहाँ अटकती है, वहाँ सामने कल्पना का पहाड़ है, कमज़ोर रस्सी के सहारे वह पहाड़ चढ़ती है और गिर पड़ती है।

बीती सदी के अन्तिम दशक तक आते-आते 'यथातथ्य' पूरी ताक़त से 'यथार्थ' को विस्थापित करने में लग गया। जनवादी कहानी की क्रान्तिकारी रुमानियत में कल्पसृष्टि या अवास्तव की जो थोड़ी-सी सम्भावना थी, उसे भी उसने नष्ट कर दिया। कहानीकार अब जीवन-विडम्बना का साक्षात्कार करने की बजाय सामाजिक वास्तविकता के भाष्य के लिए कहानी लिख रहा है। भाष्य के लिए भी नहीं, बल्कि वास्तविकता की तथ्यात्मक प्रस्तुति के लिए कहानी को महज़ एक माध्यम समझा जाने लगा है। कला-माध्यम के रूप में उसे बरतने की जागरूकता इधर विरल हुई है। नतीजा यह है कि बहुत-सी कहानियों का कहानी होना असंदिग्ध नहीं रह गया है। वे यथार्थ के मर्म-बिन्दु तक पहुँचने की बजाये समूचे यथार्थ का आखेट करने के लिए जाल फैलाती हैं। यथार्थ का यह मर्म-बिन्दु दरअसल कला का मर्म-बिन्दु है जो घटना या तथ्य को कहानी में बदलता है। यह ऐसा क्षण है जो घटनात्मक वास्तविकता से अनिवार्यतः प्रमाणित नहीं होता। शायद इसी वजह से प्रेमचन्द ने अनहोनी के होने को कहानी की ज़रूरी शर्त-सरीखा माना है। अनहोनी सचाई को आलोकित करता यह मार्मिक क्षण उनकी 'क़फ़न'-जैसी कहानी में घीसू-माधव के अविश्वसनीय व्यवहार में बार-बार कौंधता है। मगर आज की ज़्यादातर कहानियाँ विश्वसनीय का वरण करने में, यथार्थ की अभ्यर्थना में ही धन्य हो जाती हैं। अक्सर उनमें शिल्प के प्रति न्यूनतम सजगता भी नहीं दिखाई देती, न ही वृत्तान्तपरक संरचना में यथार्थ उन्हें इसके लिए समुचित छूट देता है।

लेकिन कहानी की विधागत स्वायत्तता का प्रश्न केवल शिल्प-विधि से जुड़ा मामला नहीं है; अन्यथा बहुत सादगी के साथ कहानी कहने वाले भीष्म साहनी की, या अमरकान्तकी, या इधर के कथाकारों में रघुनन्दन त्रिवेदी की कहानियों में विधागत आत्म-सजगता की सहज उपस्थिति दिखाई न देती; या फिर उदय प्रकाश की कहानियों के चामत्कारिक स्थापत्य में विधागत स्मृतियों का सजग तिरस्कार नहीं होता। रेणु की

लोक-लय और काव्यात्मक वैभव या ज्ञानरंजन का चुस्त और कसा हुआ शिल्प-गठन ही उनकी कहानियों को कहानी नहीं बनाता, बल्कि उनकी अन्तर्वस्तु में निहित विडम्बना का स्फुरण उन्हें कहानी बनाता है। दरअसल विधागत पहचान सुनिश्चित करने में शिल्प निर्णायक नहीं, सहायक-भर होता है। कुछ कथाकारों ने ज़रूर कहानी की अन्दरूनी विडम्बना को ढूँढने की बजाये शिल्प के उत्कर्ष में कहानी सम्भव किया है, लेकिन ज़्यादातर यही देखने में आता है कि विवरण के सपाट विधि-विधान में कहानियाँ न शिल्प की सौन्दर्यात्मक मूल्यवत्ता का दोहन कर पाती हैं, न यथार्थ के भीतर प्रवेश करने का साक्ष्य दे पाती हैं। यथार्थ की ऊपरी सतह ही कहानी का कथ्य हो जाती है। नतीजा यह होता है कि उसे ही कहानी का यथार्थ समझ लिया जाता है। ऐसे में यथार्थ की अतिशय मुखरता दृश्य को आच्छादित कर लेती है। तब कहानी ही क्यों, आलोचना भी यदि कहानी की विधागत पहचान के प्रति उदासीन रह जाये तो क्या अचरज? अकारण न होगा यदि कथा-आलोचना, जो मुख्यतः कथ्य की आलोचना होकर रह गयी है, आगे भी कथ्य पर केन्द्रित होने को विवश हो। ज़ाहिर है, आज के यथार्थ का दबाव कहानी पर ही नहीं, उसकी आलोचना पर भी है। इस परिदृश्य में अपवाद अवश्य हैं; कहने की ज़रूरत नहीं कि इन अपवादों में कहानी अब भी सम्भावना है।

एजेंडाबद्ध लेखन की मुश्किलें

क्यायह कुछ अजीब नहीं लगता कि कहानी किसी तयशुदा विषय या किसी एजेंडा पर लिखी जाये? क्या प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी आदि की कहानियों के बारे में कहा जा सकता है कि वे अमुक-अमुक विषय पर हैं? कहानी किसी विषय को प्रस्तुत करने का माध्यम-मात्र है या जीवन की सचाइयों और नियतिगत विडम्बनाओं से कलात्मक स्तर पर साक्षात्कार का उपक्रम?

ये सवाल इसलिये उठ सकते हैं कि इधर दलित-जीवन या स्त्री-अनुभव को बाक़ायदा विषय बनाकर कहानियाँ लिखी गई हैं। पढ़ कर लगता है कि ये कहानियाँ दलितों या स्त्रियों के जीवन की सचाइयों को कहानी नामक विधा के औपचारिक या औपचारिकेतर रूपबन्ध में गढ़ने की बजाये अपने अस्मिता-विमर्श के एजेंडा को प्रस्तुत करने-भर के लिए लिखी गई हैं। बेशक ये स्त्री-जीवन और दलित-जीवन के अनुभवों पर आधारित हैं लेकिन उन अनुभवों का ऐसा विन्यास रचने की विकलता इनमें कम ही मिलती है, जिसे ठीक-ठीक कहानी कहा जा सके। ज़्यादातर वे अनुभव को जैसे-तैसे कह डालने के आवेग में गढ़े गये ढीले-ढाले वृत्तान्त हैं, मुकम्मल कहानी नहीं।

यह अचानक नहीं था कि इस तरह की कहानियाँ बीती सदी के अन्तिम दशक में बड़ी संख्या में सामने आईं। ठीक इसी समय हिन्दी के बौद्धिक परिदृश्य में स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श की दस्तक सुनाई दी थी। अनुमान किया जा सकता है कि इन कहानियों के पीछे भारतीय यथार्थ का अँदरूनी दबाव, जो दमन के सामाजिक अनुभव के रूप में पिछली कई सदियों से मौजूद रहा है, कम और दलितों-स्त्रियों से जुड़े समकालीन मुद्दों का आन्दोलनात्मक हस्तक्षेप, जो अस्मिता की उठान के रूप में प्रकट हुआ है, अधिक है। निस्सन्देह यह आन्दोलनात्मक हस्तक्षेप या विमर्श भारतीय यथार्थ के भीतर उत्पन्न खलबली का ही परिणाम है, लेकिन इस खलबली को अनुभव के साक्ष्य से रेखांकित करने के पहले कहानियों ने भीतर के उद्वेग को आन्दोलन और विमर्श की हस्तक्षेपकारी रणनीति से जोड़ दिया। वे यथार्थ को अन्वेषित करने की बजाये विषय के खूँटे से बँध गईं। इसके बाद तो यथार्थ उतनी ही दूर तक दिखाई दे सकता था, खूँटे से बँधने पर जितनी दूर तक नज़र जा सकती थी। नज़र की हद के भीतर स्वानुभूति का घेरा था जिससे परे यथार्थ की कोई सत्ता ही न थी। मुश्किल यहीं हुई कि स्वानुभूति को कहानी की काया निर्मित करने की अचूक प्रविधि समझ लिया गया, जबकि वह यथार्थ को विषय या एजेंडा में अपघटित कर दिये जाने की चूक की अनिवार्य परिणति थी।

बीती सदी का अन्तिम दशक हमारे समाज के भीतर आर्थिक उदारीकरण और

सूचना-क्रान्ति के ज़रिये बदलाव के एक महत्वपूर्ण दौर के रूप में आया। वैश्वीकरण के सामाजिक फलितार्थ इस समय बहुत तेज़ी से प्रकट होने लगे। उसके विह्न साहित्य में भी दिखाई दे रहे थे। ठीक इसी समय, बाबरी मस्जिद गिराये जाने के बाद, साम्प्रदायिकता-विरोधी रचनाओं की लहर आई और दमित अस्मिताओं, स्त्री और दलित, की छटपटाहट दृश्य में प्रकट हुई। इस उथल-पुथल को कहानियों ने तत्काल लक्ष्य किया, शायद इसलिए कि सामाजिक वास्तविकता के साथ चलना कहानी का सहज धर्म है। इसलिए यह अस्वाभाविक न था कि इस दौर में कहानी समाज में घटित हो रहे बदलावों पर त्वरित प्रतिक्रिया की तरह लिखी गई। तात्कालिकता की ऊर्जा से चालित कथा-उद्यम इतने बड़े पैमाने पर शायद ही कभी सम्भव हुआ हो। घट्यमान वास्तविकता के इस विराट प्रत्यक्षीकरण में एक गद्य-विधा की अपने वर्तमान के प्रति ऐसी एकाग्र निष्ठा अभूतपूर्व थी। इसके चलते कथा और यथार्थ के बीच दूरी बहुत कम रह गई और कहानीकार की बेचैनी इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि वह उसे किसी सौष्ठवपूर्ण संयोजन में विन्यस्त करने की बजाये किसी भी तरह से व्यक्त कर डालने की उतावली का शिकार हो गया। एजेंडा की डोर से कहानी खींची जाने लगी। अस्मितापरक मूल्यों को वरीयता देने का नतीजा था, सौन्दर्यात्मक मूल्यों के प्रति उदासीनता, या फिर सौन्दर्य के भिन्न प्रतिमानों की खोज का दावा जो अस्मितापरक मूल्यों की संगति में हों। आख़िर त्वरित प्रतिक्रिया का सौन्दर्यशास्त्र, आवेग की तर्कसंगति में उसकी सौन्दर्यात्मक संगति स्थापित करने की क़वायद से भिन्न और क्या हो सकता है? ऐसी त्वरित प्रतिक्रियाएँ यदि बार-बार दुहराव से रूढ़ि बन जायें तो उनकी अनुभवगत ईमानदारी पर भले ही शक न हो, उनकी सर्जनात्मक अन्तर्निष्ठा पर उँगली ज़रूर उठाई जा सकती है। एजेंडाबद्ध लेखन की मुश्किल यही है कि अनुभव के प्रसंस्करण के लिए उसे फ़ार्मूला, तकनीक या नुस्ख़े पर निर्भर रहना पड़ता है। सौन्दर्य-मूल्य की खोज दरअसल नुस्ख़े की खोज बन जाती है। दलित-लेखन और स्त्रीवादी लेखन में स्वानुभूति और विद्रोह की ख़ास क़िस्म की भंगिमा को नुस्ख़े की तरह अपनाया गया है।

पूछा जा सकता है कि एजेंडाबद्ध लेखन के इन दो क्षेत्रों, दलित और स्त्री के अनुभव-संसार, के बारे में हिन्दी कहानी क्या बताती है? इसका सीधा उत्तर यही हो सकता है कि कहानी में उनकी दुनिया प्रायः मध्यवर्गीय जीवन की सचाइयों से बनती है, अथवा निम्नवर्ग के यथार्थ को मध्यवर्गीय परिप्रेक्ष्य में देखने की विवशता से, जो कि विमर्श की अपनी विवशता है। समानता के अधिकार को मध्यवर्गीयकरण की प्रक्रिया में प्राप्त होने वाली छूट के रूप में हासिल करने की स्पृहा में स्त्री की स्वतन्त्रता और दलित की मुक्ति निहित है; चाहे आत्मसम्मान हो या आरक्षण—लड़कर पाया जा सकता है। कहानी में स्त्री या दलित की प्रतिवादी मुद्रा यही बताती है। इन विमर्शों का लक्ष्य, चरित्र और क्रियाविधि यदि बुनियादी रूप से मध्यवर्गीय है, तो उस पर आधारित कहानियाँ यह कैसे बतायेंगी कि घीसू-माधव के बिरादरों की ग़रीब ज़िन्दगी में आज कहानी की कितनी सम्भावनाएँ शेष हैं। यदि बतायेंगी भी, तो ज़ाहिर है रस्म-अदायगी

की तरह या नुस्ख़े के सहारे। वे गदल की लाचार या विद्रोही बहनों के बारे में भी कम ही बताती हैं। हिन्दी कहानी में दलित-चेतना की परिणति दुर्भाग्यवश दलित मध्यवर्ग की आत्मचेतना में होती है। इसी तरह स्त्री-चेतना की अभिव्यक्ति का मुहावरा भी मध्यवर्गीय आत्मबोध से निर्मित है।

एजेंडाबद्ध कहानी की कुछ और ख़ासियतें हैं। नई कहानी के दौर के यथार्थवाद को वह स्वानुभूतिवाद में बदल चुकी है। स्त्री-पुरुष या दलित-सवर्ण के द्विचर युग्मों और अन्तर्विरोधों पर आधारित यथार्थ के नुस्ख़े पर एकाधिकार सुनिश्चित करने के लिए उसे बौद्धिक सम्पदा की तरह बरतते हुए, स्वानुभूति की शर्त जोड़ कर मानो पेटेंट कर लिया गया है। इस तरह कहानियों का बेरोकटोक उत्पादन हो रहा है। यथार्थ के बने-बनाये साँचे में 'कंडिशन्ड' क़िस्म के अनुभव ढल रहे हैं। अगर किसी एक कथाकार की सारी कहानियाँ पढ़ जायें तो उनमें कथ्य की विलक्षण एकरसता और एकरूपता मिलेगी जो निश्चय ही अनुभव को एजेंडा की लाठी से एक ही दिशा में हकालने का परिणाम है। कथ्य की एकरूपता एक नहीं, कई कथाकारों के यहाँ है। ऐसी एकरूपता पर आधारित एकता किसी और कथा-दौर में देखने में नहीं आई है। लेकिन यह समाज में मौजूद आन्दोलन और उसके वैचारिक एजेंडा के कारण पैदा हुई एकता-भर न हो कर प्रतिभा-दौर्बल्य के कारण सम्भव हुआ एकसापन है। इसके चलते विविधता का अकाल पसरा हुआ है। अनुभव की दुनिया एकरस और विपन्न है। मगर इस विपन्नता और एकस्वरता को कहानीकारों ने स्वयं चुना है। आन्दोलन का एजेंडा स्वीकार करने के साथ ही इसे नियति मान लिया है। यह प्रतिवाद की आँच में तपती हुई स्थिर और निर्विकार एकरसता है। उसमें 'अनुभूत' की उष्णता तो है, 'अप्रत्याशित' का कुतूहल नहीं। केवल जलता हुआ वर्तमान और ख़ाक होता अतीत है—सर्वथा ज्ञात अतीत और नपा-तुला वर्तमान।

ऐसा नहीं है कि किसी आन्दोलन की प्रतिध्वनि के रूप में इस तरह का कथा-लेखन हिन्दी में पहली बार हो रहा है। नई कहानी से लेकर अब तक हुए तमाम आन्दोलनों का अपना-अपना एजेंडा, विचार-दर्शन या घोषणा-पत्र था। लेकिन यथार्थ और उसकी बनावट को सामाजिक लक्ष्यों से जोड़ने की बजाय साहित्य के सृजनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वायत्त करने की प्रतिश्रुति इन आन्दोलनों की भंगिमा को साहित्यिक बनाती थी। ये साहित्य के अपने भीतर के आन्दोलन थे इसलिये किसी सामाजिक आन्दोलन से प्रत्यक्ष रूप से समर्थित नहीं थे। नक्सलपंथी प्रभाव में लिखी गई कहानियों या जनवादी कहानी आन्दोलन के साथ ऐसी कहानियाँ पहली बार सामने आईं जो समाज में सक्रिय किसी वास्तविक जन-आन्दोलन की राजनीति और उसके लक्ष्यों को प्रतिबिम्बित करती थीं। दलितों और स्त्रियों के जीवन पर केन्द्रित इधर की कहानियाँ अभी ठीक-ठीक आन्दोलन की शक्ल नहीं ले पाई हैं, फिर भी जिस आन्दोलनात्मक भंगिमा के साथ उनका यथार्थ प्रकट होता है, समाज में उसकी मौजूदगी एक अकाट्य वास्तविकता है। सच पूछा जाये तो यह वास्तविकता ही इन कहानियों की

मुश्किल है। कहानीकार के रचना-मनोविज्ञान को वह इस तरह ग्रस लेती है कि प्रत्यक्ष और घटनात्मक वस्तु-संसार से परे कुछ भी नज़र नहीं आता। इसके फलस्वरूप कहानियाँ जीवन-यथार्थ को स्वायत्त करने की बजाय अपने यथार्थ को ही उसके साक्ष्य से सत्यापित करने लगती हैं। लेखक का आत्मबोध जीवन-यथार्थ को भी अप्रभावित कहाँ रहने देता है? वह पहले से ही अस्मिता की राजनीति द्वारा अनुकूलित किया जा चुका है। इसलिए स्वानुभूति भी कोई अ-विकृत सामाजिक अनुभव-कोटि नहीं है। मूलतः वह अस्मितापरक है। वह कथा में लेखकीय मनोनिर्मिति है। उसकी रचना आन्दोलनात्मक विचार या एजेंडा के द्वारा होती है। अगर वह कहानी के यथार्थ का सत्यापन करे तो अनुमान किया जा सकता है कि उसमें कितनी सौन्दर्यात्मक विश्वसनीयता होगी।

विचार-दर्शन द्वारा कथा-सर्जनात्मकता को अनुशासित किये जाने का ख़तरा जैनेन्द्र-यशपाल-इलाचन्द जोशी युग में भी था जब कहानी-उपन्यास मनोविश्लेषणवाद या मार्क्सवादी-दर्शन की समझ के सहारे रचे गये। नई कहानी का निज व्यक्तित्व इससे मुक्ति के प्रयत्नों से ही निर्मित हुआ था। लेकिन उसकी जगह अनुभव की निजता को स्थापित करने के प्रयत्न में नई कहानी लेखक की मनोदशा के प्रक्षेपण का मंच बन गयी। स्वयं कहानीकार कहानी के केन्द्र में आ गया। कहानी का एजेंडा वह स्वयं था। आत्मबद्ध यथार्थवाद की यह केन्द्रीयता समान्तर और जनवादी कहानी में टूटी। यहाँ कहानीकार अपदस्थ तो हुआ लेकिन जिस 'आम आदमी' या 'सकारात्मक नायक' को उसने अपनी जगह पर बिठाया वह दरअसल आत्मबद्ध यथार्थ का ही एक समाजबद्ध वैचारिक प्रतिरूप (काउंटरपार्ट) था; एक वैचारिक एजेंडा उसमें फिर से साकार हुआ था। क्या ऐसा नहीं लगता कि 'आम आदमी' और 'सकारात्मक नायक' ही अब रूप बदल कर दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श की कहानियों में दमन के विरुद्ध संघर्षरत दलित या स्त्री-चरित्रों में पुनरवतरित हुए हैं? क्या नये वैचारिक एजेंडा के अनुरूप वे पुनर्संस्कारित नहीं हुए हैं? स्थिति बदली है तो एजेंडा भी बदला है। जनवाद का जन अब अपनी वर्गीय पहचान त्याग कर वर्ण और लिंग-आधारित पहचान पर इसरार कर रहा है। यह उसका अपरिहार्य विघटन है जो बीसवीं सदी के अन्तिम चरण के सामाजिक यथार्थ की मार का नतीजा है। जनवाद के वर्गबोध को उसने अस्मिता-बोध में, सुखद भविष्य के प्रति आस्था को अतीत और वर्तमान के प्रति क्षोभ में और संघर्ष की चेतना को प्रतिकार की चेतना में बदल दिया है। पूँजीवाद-साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद इत्यादि नामों से पुकारी जाने वाली प्रातिष्ठानिक उपस्थितियों की जगह अब नये विमर्श में पितृसत्ता और ब्राह्मणवाद को आक्रमण का लक्ष्य बनाया गया है। भविष्य के स्वप्न की जगह अब वर्तमान का दुःस्वप्न है।

इस फ़र्क़ को छोड़ दें तो मालूम पड़ेगा कि एजेंडाबद्ध लेखन की इकहरी सर्जनात्मकता जनवाद और दलित-स्त्री-विमर्श में ज्यों-की-त्यों मौजूद है। परिवर्तन की गहरी आकांक्षा के बावजूद अनुभव की एकरैखिकता, एक वैचारिक व्याकरण में उसका

रचाव, कथ्य पर विचार-दृष्टि का सैन्य नियंत्रण, शिल्प के प्रति प्रायः बेपरवाही—ये कुछ ऐसे लक्षण हैं जो दोनों कथा-दौरों में बराबर मौजूद लगते हैं। सबसे महत्वपूर्ण समानता तो यह है कि कहानी होने की बुनियादी चारित्रिक पहचान को दाँव पर लगा कर यथार्थ का मैदान मार लेने की कोशिश दोनों जगह है। विधागत अस्मिता की परवाह न कर सामुदायिक अस्मिता के लिए तड़प और दृश्य में हलचल पैदा करने की महत्वाकांक्षा में ज़ोर-शोर से उभरी इसी कहानी के प्रयोजन और उद्देश्य पर सवाल उठना लाज़िमी है।

प्रयोजन और उद्देश्य निस्संदेह साहित्येतर हैं। उसका एजेंडा साहित्येतर लक्ष्यों से तय होता है, जबकि कहानी एक साहित्य-विधा के रूप में अपना लक्ष्य स्वयं होती है। यहाँ साहित्य की स्वायत्तता-सम्बन्धी बहस को पुनर्जीवित करने की मंशा नहीं है मगर यह अपेक्षा तो एक साधारण पाठक की भी होती है कि जिस वृत्तान्त को उसके सामने प्रस्तुत किया जा रहा है, वह कहानी ही हो। वह अच्छी तरह जानता है कि प्रत्येक कहानी वृत्तान्त है, लेकिन हर वृत्तान्त कहानी नहीं है। क्या यह सच नहीं कि एजेंडाबद्ध कहानी में विमर्श का एजेंडा ही कहानी होने की उसकी राह में सबसे बड़ा रोड़ा है?

हिन्दी कहानी के स्त्री-दलित-विमर्श का एजेंडा वृत्तान्त की खोज को इतना उन्मुक्त अवश्य बना देता है कि लेखक के आसपास कहानी कहीं भी सम्भव होती दिखाई देती है और किसी औपचारिक फ़ॉर्म में समाने की ज़रूरत को ज़्यादा तरजीह भी नहीं देती। लेकिन यह एजेंडा ही है जो सामुदायिक अस्मिता के घेरे से बाहर वृत्तान्त की सम्भावना का निषेध करता है और उसकी अर्थ-प्रक्रिया और परिणति पर अंकुश रखता है। वह उसे सीधे उस गन्तव्य की तरफ़ ठेल देता है जिसे पाना एक ख़ास किस्म की राजनैतिक प्रक्रिया के चलते नियतिपरक ढंग से उसकी अनिवार्यता बन जाती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह स्वयं एजेंडा और उसकी राजनीति का गन्तव्य होता है जहाँ कहानी भी पहुँच जाती है और भूल जाती है कि वह कहानी है। वह कोरे वृत्तान्त में अपघटित हो उठती है। कहानी यदि अपने-आप को याद रखे तो शायद भूल जायेगी कि उसे कहाँ पहुँचना है। लेकिन गन्तव्य को लेकर यदि वह निरन्तर आत्मसजग रहे तो अपनी याददाश्त खो कर भी वह उस तक पहुँचती है। विमर्श का एजेंडा प्रतिपल उसे गन्तव्य की याद जो दिलाता रहता है। इस प्रक्रिया में अनुभव का एक नियत पैटर्न उभरता है जो एजेंडा द्वारा उसकी कंडिशनिंग का परिणाम है।

अनुभव की कंडिशनिंग के फलस्वरूप अगर कहानी का औपचारिक फ़ॉर्म विघटित हो जाये तो यह अचरज की बात नहीं होगी। उत्तर-आधुनिक व्याख्याकार इसे आज के यथार्थ की अनिवार्य परिणति—उत्तर-यथार्थ की नियति मानते हैं। यहाँ कहानी का रूपगठन बिखर जाता है, अनौपचारिक हो उठता है—जैसा कि सुधीश पचौरी कहते हैं, 'कहीं वह स्त्री-केन्द्रित पाठ है। कहीं जाति-केन्द्रित पाठ है। कहीं वह धर्म-केन्द्रित पाठ है। कहीं वह चुटकुला है, कहीं वह लघुकथा है, कहीं वह पैरोडी है, कहीं कल्पना का स्वैराचार है, जिसे जादुई यथार्थवाद कहते हैं, कहीं उसमें कथा-विधा की शर्तों का

ही लोप हो चला है।' एजेंडा प्राथमिकता में है, कथन-शैली या शिल्प नहीं। इसलिए उत्तर-यथार्थवादी शिल्प में कथा-विधा की शर्तों का लोप अस्वाभाविक नहीं है। यदि यह सब सच है तो क्या यथार्थ की स्वाभाविक परिणति और समय का तकाज़ा समझ कर इसे स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर है, जैसी कि उत्तर-आधुनिकतावादियों की राय है? या फिर वृत्तान्त के इस अपघटन का प्रतिवाद किया जाना चाहिए?

कहानी का कहानी न रह पाना उत्तर-यथार्थवादी अनिवार्यता हो सकती है, लेकिन इस दौर में स्वयं कहानी की अनिवार्यता क्या यह नहीं होनी चाहिए कि एजेंडाबद्ध होकर उत्तर-यथार्थवादी आचरण करने की बजाये वह अपनी विधागत निष्ठा को अपने आचरण में सर्वोपरि महत्व दे? किसी बाहरी नैतिक संहिता से संचालित होने की बजाये कहानी का कार्यकलाप यदि कला के आत्मनिष्ठ चारित्रिक गुणों पर आधारित हो तो उसे बिखरे और ढीले-ढाले वृत्तान्तों की छाया में शरण लेने की आवश्यकता नहीं होगी। दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श के वृत्तान्तों में कहानी के पुनर्वास की एक वैकल्पिक विधि यही हो सकती थी कि यथार्थ के स्वानुभूत क्षणों को आविष्कृत करने के साथ-साथ रूपगठन के स्तर पर कहानी की नई सम्भावनाओं की तलाश की जाती। स्वाभाविक है कि इससे कहानी की विधागत चेतना का विस्तार भी होता। लेकिन स्वानुभूति की क़ैद में यह भला कैसे सम्भव होता? स्वानुभूति तो एकाग्र समर्पण की माँग करती है। ऐसे में रूप-शिल्प की तरफ ध्यान जाये भी तो कैसे? स्वानुभूति के एजेंडा के चलते लेखक या तो अपने बारे में ही कहता है या फिर कथा-चरित्रों पर आत्म-आरोपण करता है। पात्रों के मुख से लेखक की आत्मचेतना बोलती है या फिर वह सीधे आत्मकथा लिखता है। स्वानुभूतिपरक कृतियाँ यानी आत्मकथाएँ इसलिए सफल हुई हैं कि उनका एकरैखिक वृत्तान्त विमर्श और उसके एजेंडा का दबाव अपनी संरचनागत विशिष्टता के कारण सहज ही झेल लेता है। उसका आग्रह स्वायत्तता और संरचनागत कसावट पर उतना नहीं होता, जितना कि यथातथ्यता और अनुभव की विश्वसनीयता पर, जो कि स्वानुभूति के एजेंडा के अनुकूल ही है। एजेंडा में निहित विचार और स्वानुभूति में निहित संवेग को आत्मकथा अपनी सरपट गद्यात्मकता में छितरा देती है। लेकिन कहानी तो विचार और संवेग के तनाव में अपने गद्य-विन्यास को अर्जित करने का यत्न करती है। दलितवादी विमर्श की कहानियों में यह तनाव अक्सर इतना कमज़ोर होता है कि किसी संतुलन-बिन्दु तक पहुँच कर उस पर गद्य के समूचे विन्यास को एकाग्र करने की विकलता ही उत्पन्न नहीं होती जो एक मुकम्मल कहानी का लक्षण है। स्त्री-विमर्श की कहानियों में कहीं-कहीं यह तनाव अपेक्षाकृत तीव्र है, इसलिए उनमें गद्य की सम्भावनाएँ भी बेहतर हैं। लेकिन एजेंडा का बोझ सम्हालने में वे भी प्रायः डगमगाने लगती है।

सम्भव है, कहानी में गद्य-विन्यास के इस आग्रह को यथार्थवाद की कट्टरता का परिणाम कह दिया जाये। लेकिन कहानी को यदि होना है तो विधा की देह में संगठित हुए बिना वह कहानी क्यों-कर होगी, यह समझना मुश्किल है। यह कहानी की दैहिक

पवित्रता का विचार नहीं है; न ही यह एक गद्य-विधा को अक्षुण्णता और यथास्थिति के घेरे में बाँध कर रखने के पुनीत कर्तव्यवश है। यहाँ सरोकार सिर्फ़ यह है कि कहानी का शील रहे, न रहे, उसका वह देह-गठन तो रहे जिसे साहित्य की एक विधा के रूप में पहचाना जाता है। इस देह-गठन को बनाये रखने के लिये भाषा में कसरत तो लेखक को ही करनी होगी; अन्यथा वृत्तान्त की शिथिल देहयष्टि ही उसकी नियति होगी।

मगर यह शिथिल देहयष्टि उसकी असल समस्या नहीं है, न ही शिल्प के प्रति सजग होने-भर से यह समस्या अपने-आप दूर हो सकती है—यदि यह सच होता तो कहानी केवल शिल्प होती। एजेंडाबद्ध कथा-लेखन की सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि कथा-दृष्टि के अभाव में भी उसका काम चल जाता है। कथा-दृष्टि, जो न सिर्फ़ कहानी के विधागत आत्मबोध को जगाती है बल्कि घटना या प्रसंग में छिपी मानवीय अर्थवत्ता को भी सहसा उद्‌भासित कर देती है। वह रोशरी की लपट की तरह उठती है मगर एजेंडा और उसकी राजनीति का झोंका आ जाये तो जलने से पेशतर ही बुझ जाती है। उसके बाद तो अंधेरा होता है। अंधेरे में जो हाथ लग जाये, वही कहानी हो जाती है।

लगभग कहानी और मुकम्मल कहानी

कहानी से भिन्न किसी रचना के आस्वादन की प्रक्रिया में एक विधा के तौर पर उसके गठन का प्रश्न शायद ही कभी उठता हो। मसलन इधर लिखी गयी ढेरों कविताओं के पाठकों में से किसी ने कभी नहीं पूछा होगा कि अमुक कविता में कितनी कविता है और वह सचमुच कविता है भी या नहीं—छंद से मुक्ति पाने के बाद काव्यात्मकता के आसपास की कोई भी भाषिक संरचना कविता के रूप में सहज ही स्वीकृति पा लेती है। लेकिन कहानी पढ़ते हुए एक सजग पाठक यह जानने की लगातार कोशिश में होता है कि उसके पाठ में कहानी बन पा रही है या नहीं? कथात्मक गठन के अभाव में कभी वह महज़ वृत्तान्त बन कर रह जाती है, कभी निबन्ध में ढल जाती है या कोई ऐसा रूप ग्रहण कर लेती है जो कहानी के आसपास हो। कहानी केवल अच्छी और ख़राब नहीं होती। उसकी एक तीसरी कोटि भी होती है—कहानी बनने के आसपास पहुँची कहानी, यानी लगभग कहानी। जो कहानी यथातथ्य विवरण के वस्तुपरक फैलाव में अनुभव को बिछा देती है या अनुभव के मर्म को ढूँढ नहीं पाती, वह कहानी नहीं, कहानी की प्रतीति कराने वाला गद्य-भर है।

अगर यथातथ्य के वस्तुपरक फैलाव की बजाय अनुभव के मर्म को छूने की कोशिश में कहानी सम्भव होती है तो प्रश्न यह है कि कहानी के होने की पहचान कैसे की जा सकती है? कहानी का अभिप्रेत किस बिन्दु पर विद्यमान होता है? कहानीपन होता कहाँ है? वास्तविकता की कल्प-परिणति में? कथा की आन्तरिक गतिशीलता में निहित विडम्बना की ठिठक में? भाषा की ख़ास बनावट में? वृत्तान्त की आदि-मध्य-अन्त वाली संरचना की फुनगी पर, यानी उपसंहार में? या फिर वृत्तान्त की समग्रता में? वृत्तान्त की उत्तर-यथार्थवादी धारणा तो कहानी के होने को भाषा में सीमित नहीं मानती बल्कि उसे पाठक-दर्शक-ग्राहक के आत्मबोध में अवस्थित करती है और उसे महज़ भाषिक संरचना की तरह बरतने से इंकार करती है, उसे व्याख्या पर निर्भर बनाती है। लेकिन साहित्य-विधा के रूप में जिस कहानी को हम जानते हैं, वह भाषा से इतर किसी अन्य माध्यम में नहीं रची जाती; न वह अख़बारी वृत्तान्त है, न ही व्याख्या-निर्भर पाठ-भर है जो किसी अस्मितापरक दृष्टान्त के रूप में अपना अर्थ समेट लेने को विवश हो। कहानी एक सुगठित भाषिक संरचना है जो वृत्तान्त को किसी कथात्मक अनुशासन में बाँध कर मानवीय सचाई की देहरी तक लाती है। इस देहरीपर कहानी अपनी स्मृति और आत्मज्ञान प्राप्त करती है, अपने कहानीपन को पहचान पाती है। लेकिन जिसे कहानी सहज ही पहचान लेती है, उसे ठीक-ठीक परिभाषित कर पाना—

कहानी और वास्तविकता के बीच उसकी मौजूदगी के विधि-विधान को समझ पाना उतना सहज नहीं है। शायद यही वजह है कि कहानी की उद्देश्यपरकता या सार्थकता की कोई ठोस और वस्तुनिष्ठ व्याख्या कठिन जान पड़ती है।

कहानी को उसकी पहचान देने वाली सौन्दर्यात्मक प्रक्रिया को वस्तुपरक ढंग से समझ पाना अगर सचमुच मुश्किल है तो क्या कुछ अस्पष्ट लक्षणों के सहारे उस तक पहुँचने की कोशिश भी बिरथा होगी? अगर नहीं, तो याद किया जा सकता है कि कहानी की आधुनिक रीति-नीति के भाष्यकारों ने ऐसे ही एक लक्षण की तरफ़ इशारा किया है। यह लक्षण है, कहानी में अन्तर्विरोध की मौजूदगी। कहानी घटना के बखान यानी अनुभव के प्रस्तुतिकरण में नहीं, उसमें निहित अन्तर्विरोध के कारण निर्मित होती है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द की 'मंत्र' कहानी को लें, जिसमें डॉ॰ चड्ढा और भगत के चरित्र परस्पर इतने विलोम हैं कि कहानी में उनका एक साथ होना ही अपने-आप एक अन्तर्विरोध की सृष्टि करता है। यह मूलतः उनकी वर्गीय स्थिति का अन्तर्विरोध है जिसे उनके आचरण और जीवन-दृष्टि का टकराव निरन्तर उत्कट बनाता है। प्रेमचन्द दोनों को एक-जैसी मानवीय स्थिति में झोंक कर न सिर्फ़ उनकी मानवीय संवेदनशीलता की परख करते हैं बल्कि उनके बीच असामंजस्य और अन्तर्विरोध को समूचे यथार्थ का अन्तर्विरोध बना कर प्रस्तुत करते हैं। यह विरुद्धों का असामंजस्य है। एक नज़र देखने पर यह शिल्पगत युक्ति की तरह मालूम पड़ता है, लेकिन सच पूछा जाये तो यह कहानी के यथार्थ की अँदरूनी बनावट में ही मौजूद होता है। 'मंत्र' कहानी में डॉ॰ चड्ढा की अमानवीय निष्ठुरता और उसके बरअक्स भगत की संवेदनशीलता के बीच अन्तर्विरोध नियति की इस विडम्बना में रूपान्तरित होता है कि बच्चे का इलाज न कर उसे तड़पता छोड़ गोल्फ़ खेलने चल देने वाले डॉक्टर को अपने इकलौते बेटे को झाड़-फूँक कर साँप के ज़हर से बचाने के लिये उसी बीमार बच्चे के बाप भगत के पास जाना पड़ता है और डॉक्टर की निर्दयता का शिकार होने के बावजूद भगत उसके बेटे को बचा लेता है।

'जैसे को तैसा' के आधुनिक आचरणशास्त्र के विपरीत भगत की मानवीय प्रतिक्रिया और उससे पैदा हुई विडम्बना क्या बिल्कुल अप्रत्याशित नहीं है? डॉ॰ चड्ढा का व्यवहार नीतिविरुद्ध लेकिन उनकी वर्गीय स्थिति के अनुरूप है, इसलिये प्रत्याशित है, लेकिन भगत ने जो किया सामान्यतः क्या उसकी आशा की जा सकती है? उसका आचरण नीतिसम्मत होते हुए भी प्रत्याशित नहीं है। डॉक्टर के बेटे को बचाने की तत्परता क्या अनायास ही कहानी में उस 'अप्रत्याशित' की प्रतिष्ठा नहीं कर देती जो यथार्थ के वर्गीय अन्तर्विरोध को उसकी विडम्बना के सौन्दर्यात्मक दायरे में—गल्प के क्षेत्राधिकार में—खींच लाता है। इस कहानी के तर्कवादी आधुनिक पाठक को एक और झटका लगता है जब प्रेमचन्द झाड़-फूँक की वक़ालत करते प्रतीत होते हैं। भगत का चरित्र अगर यथार्थवाद की मान्य आचार-संहिता के अनुसार अतिरंजित या अविश्वसनीय है तो झाड़-फूँक की वक़ालत भी तर्कवाद की प्रचलित पद्धति के चलते अवैज्ञानिक—

इसलिए अनपेक्षित, है। आकस्मिक, अप्रत्याशित, अतार्किक, अस्वाभाविक या अनपेक्षित स्थितियाँ या प्रसंग यथार्थवाद की रचना-पद्धति के प्रतिकूल है, मगर उनकी मौजूदगी के बावजूद 'मंत्र' मुकुम्मल कहानी है। दरअसल इसमें निहित अन्तर्विरोध या विडम्बना के भीतर से कहानी के घटित होने की अनुगूँज, उसका अभिप्रेत, उसका मर्मबिन्दु उभरता है। यह यथार्थवादी कहानी इसलिए है कि, जैसा स्व॰ प्रमोद वर्मा ने प्रेमचन्द को 'समाज का मन समझने वाला लेखक' बताये हुए कहा है, 'प्रेमचन्द इर्रेशनल के निषेध को ही रेशनलिटी नहीं मानते थे' बल्कि अपने रेशनल को अपने ही इर्रेशनल से प्रतिसंतुलित करते हुए' प्रेमचन्द ने यह कहानी लिखा।

ज़ाहिर है, यथार्थवाद के प्रचलित मॉडेल से अयथार्थ पूरी तरह बहिष्कृत नहीं है, जैसा कि प्रायः समझ लिया जाता है। अयथार्थ के अनेक शेड्स—अतार्किक, अनपेक्षित, अप्रत्याशित, आकस्मिक, अतिरंजित, अस्वाभाविक, अविश्वसनीय—हो सकते हैं। इनमें से कोई भी कहानी की अर्थगति में, किसी बिन्दु पर अपनी चामत्कारिक उपस्थिति से, व्यतिक्रम पैदा कर उसे उसके गन्तव्य की ओर उन्मुख कर सकता है। चुटकी-भर अयथार्थ का सत्व कहानी में अद्भुत गमक उत्पन्न करता है। शायद इस सचाई को जान कर ही प्रेमचन्द ने अपनी अनेक कहानियों में यथार्थ के अन्तर्विरोधों को अयथार्थ की कौंध में उजागर करने का प्रयत्न किया है। घीसू-माधव जैसे चरित्र अपने असामान्य, अमर्यादित और विवेकहीन आचरण के ज़रिये मानो उस उच्छृंखल आनन्द की खोज का उत्सव मना रहे होते हैं जो दरअसल हाड़तोड़ परिश्रम करने वाले भीरू किसानों के निरानन्द और उत्सवहीन शोषित-जीवन को प्रति-संतुलित करता है। घीसू-माधव यदि असामाजिक ही नहीं, अविश्वसनीय भी प्रतीत होते हैं तो इसलिये कि उनके क्रियाकलाप को न सिर्फ़ मान्य सभ्याचार की दृष्टि से संगत नहीं ठहराया जा सकता बल्कि वे सामाजिक यथास्थिति को चुनौती देते भी प्रतीत होते हैं। यह असंगति उस अन्तर्विरोध की उपज है जो सामाजिक वास्तविकता की गहराइयों तक पैठ चुकी है। अपने असामान्य व्यवहार से वे उसे संकेतित-भर कर रहे होते हैं। दरअसल वे असामान्य चरित्र इस मायने में भी हैं कि वे 'अनुभव की अप्रामाणिकता' से निर्मित हैं। कहानी में उनका होना, दूधनाथ सिंह के शब्दों में कहें तो, 'अनहोनी सचाई' है। अप्रामाणिकता की चारित्रिक उठान में उनका प्रतिवाद मुखर होता है, 'क़फ़न' कहानी का मर्म भी यहीं साकार होता है। 'क़फ़न' के यथार्थ के अन्तर्विरोध को 'सार्थकता' के कथा-लक्ष्य तक पहुँचाने में, स्पष्ट है कि, अयथार्थ का बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। यहाँ कहानी का अयथार्थ जीवन के यथार्थ को प्रकट करने की प्रविधि बन जाता है। यथार्थ-अयथार्थ की यह अप्रत्याशित संगति ही कहानी का मूलाधार है।

कहानी में 'अप्रत्याशित' वस्तुतः लेखक की कल्पसृष्टि है, जिसे पाकर पाठक मुग्ध होता है। पाठक की कल्पना जब तक लेखक की कल्पना के साथ-साथ चलती है, पाठ अप्रभावित रहता है; इस क्रम में वह कहानी के यथार्थ से अपने आसपास बिखरी वास्तविकता का मिलान करता चलता है और दोनों को परस्पर संगतिपूर्ण पाता है।

लेकिन 'अप्रत्याशित' का जैसे ही उदय होता है, पाठक की अनुमान-शक्ति पिछड़ने लगती है, उसकी कल्पना लेखक की कल्पसृष्टि से छिटक जाती है, वास्तविकता के साथ उसकी संगति गड़बड़ा जाती है और कहानी क्रमशः पाठकीय कल्पना के नियंत्रण से बाहर चली जाती है। इस तरह कहानी में यथार्थ अननुमेय हो उठता है और पाठक को विस्मय से भर देता है। यह विस्मय ही कहानी का 'एस्थेटिक' उत्पाद है। अपनी सार्थकता वह विस्मय-भरे किसी मुग्ध क्षण में यथार्थ का मर्म संघनित होने पर हासिल करती है। पुराने ढंग की कहानियों में विद्यमान 'कुतूहल' के सौन्दर्यात्मक प्रभाव को यथार्थवाद पूरी तरह नष्ट नहीं कर सका है; कुतूहल अब 'विस्मय' में बदल गया है। आधुनिक कहानी सामान्य जीवन को असामान्य तरीक़े से दिखा कर चकित कर देने की कला है। कलात्मक आस्वाद की अन्तिम उपलब्धि यदि आनन्द है तो कहना होगा कि कहानी विधा के सन्दर्भ में विस्मय दरअसल आनन्द का ही एक रूप है।

कहानी में विस्मय का स्रोत है, साधारण के बरअक़्स असाधारण की प्रतिष्ठा। होनी के बरअक़्स अनहोनी की, प्रत्याशित के बरअक़्स अप्रत्याशित की प्रतिष्ठा। जीवन के सामान्य प्रसंगों में कहानी की सम्भावना होती है, मगर साधारण चरित्रों के असाधारण कर्म या अप्रत्याशित व्यवहार में उसकी चरितार्थता साकार होती है। मैत्रेयी पुष्पा की कहानी 'राय प्रवीण की नायिकाओं, राय प्रवीण और सावित्री, के साधारण-से चरित्र अपने अन्तर्विरोधों से जूझते-टकराते हुए आततायी शक्तियों का सामना असाधारण साहस और त्याग के साथ करते हैं और अपनी परिणति में अप्रत्याशित ऊँचाइयों पर पहुँचते हैं। इस कहानी में अतीत और वर्तमान के दो फसलों में घटित दो समांतर कथाएँ चित्रित हैं। नई कहानी के दौर की एक चर्चित कहानी 'राजा निरबंसिया' (कमलेश्वर) की तरह के शिल्प में दोनों कथाएँ एक-दूसरे को छूती और अर्थ की झंकार से परस्पर अनुनादित होती हुई चलती है, लेकिन अन्त तक पहुँच कर वे एक विडम्बनात्मक सचाई में ढल जाती हैं। इतिहास की नायिका राय प्रवीण जहाँ अपने वाक्कौशल से आततायी बादशाह को निरुत्तर ही नहीं, लज्जित भी कर देती है और ओरछा की प्रजा को युद्ध की विभीषिका से बचाती है; वहीं वर्तमान की नायिका सावित्री फतेहपुर की बाढ़ में तबाह जनता को राहत-सामग्री मुहैया करवाने और मूख से बचाने के लिए अपनी देह-शुचिता का बलिदान कर देती है। दोनों का आचरण विलक्षण, असाधारण और अप्रत्याशित है। उनके चरित्र न सिर्फ़ उत्पीड़क-उत्पीड़ित अन्तर्विरोध को उत्कट बनाते हैं बल्कि उसे जिस धुरी पर मैत्रेयी एकाग्र करती हैं, वहाँ एक मार्मिक विडम्बना साकार होती है। यह विडम्बना कहानी में शिल्प की कलात्मक सूझ-भर नहीं है बल्कि यथार्थ की यह अप्रत्याशित परिणति भी है। इतिहास और वर्तमान के अर्थ संकेतों की समानान्तरता टूट जाती है और उनका द्वैत एकाएक विडम्बनापूर्ण मालूम पड़ने लगता है जब बादशाह के दरबार से अक्षत लौटने पर राजा की रक्षिता राय प्रवीण का स्वागत सती की तरह होता है और ओरछा की प्रजा प्रसन्न होती है; किन्तु फतेहपुर की जनता को भूख से बचाने वाली सावित्री अपना सतीत्व खोकर लौटने पर वैश्या कह

कर अपमानित और तिरस्कृत की जाती है। इस विडम्बना के अर्थ-संकेत स्पष्ट हैं। स्त्री की नियति को रूपायित करती यह कहानी अतीत और वर्तमान के बीच झूलती इस अप्रत्याशित सचाई को प्रकट करती है कि क्रूर सामंती सत्ता भी स्त्री के स्वाग्रह का सम्मान कर सकती है, लेकिन उदार लोकतंत्र अगर स्त्री के आत्मबोध का निर्दयतापूर्वक हनन करने लग जाये तो यह अचरज की बात न होगी। दोनों ही स्थितियों में स्त्री-जीवन की परिणति सामान्य अपेक्षा के विपरीत है। लेकिन कहानी इसे किसी निष्कर्ष के रूप में नहीं, अपनी विधागत सत्ता के अभिज्ञान की युक्ति के तौर पर अपनाती है।

विडम्बना के द्वारा अर्थ-संकेत की यह प्रविधि नई नहीं है। चेख़व इसके पुराने उस्ताद हैं। लेकिन आज भी अगर कहानी विधा की शिल्पगत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए यह प्रचलन में बनी हुई है तो शायद इस वजह से भी कि कहानी के यथार्थ के प्रकृत विन्यास में ही यह विद्यमान होती है। यह एक मुकम्मल कहानी की कारगर प्रविधि है, हालाँकि वह उम्दा कहानी तभी पैदा कर पाती है जब अपने भीतर जीवन के किसी अनूठे सच को छिपाये होती है। 'राय प्रवीण' की सावित्री का बेतवा में समा जाना वस्तुतः स्त्री-जीवन की त्रासद विडम्बना को उत्कट बना देने का शिल्पगत उपाय है या कहानी का कारुणिक उपसंहार-भर है अथवा इससे सचमुच कोई निर्मम जीवन-सत्य भी उजागर होता है—इस प्रश्न से जूझते पाठक के लिए ओरछा की एक प्रजा बन कर राय प्रवीण का स्वागत करना शायद मुश्किल नहीं होगा। लेकिन उसकी चुनौती फतेहपुर के नागरिक-वृंद में शामिल होने की और सावित्री की नियति से उपजे सवालों का सामना करने की है। एक सार्थक कहानी का लक्ष्य वह खुली जगह है जहाँ पहुँच कर पाठक को वह कुछ सवालों के सामने खड़ा कर देती है। और पाठक चाह कर भी दो-टूक उत्तर पाने या फ़ैसला देने की स्वतंत्रता का इस्तेमाल नहीं कर पाता।

प्रश्न उठाना और उत्तर पाने की विकलता उत्पन्न कर देना, कहानी का असल प्रयोजन है। प्रश्नाकुलता में उसका कुल प्रभाव दिखाई देता है। कहानी यहाँ एक ऐसा क्षण सम्भव करती है जिसमें कुतूहल क्षीण पड़ जाता है और असमंजस और विस्मय के बीच का क्षितिज उद्घाटित होता है। इस क्षण को पाने के लिए 'राय प्रवीण' कहानी अपने यथार्थ की विडम्बना और उसके भीतर छिपे प्रश्न की आगे कर देती है। संजीव की कहानी 'माँ' के अन्त में हाथ-पैर काट दिये जाने के बाद माँ का इलाज कर रहा डॉक्टर जब असमंजस पैदा करने वाला प्रश्न पूछता है कि इस हालत तक माँ के आने के लिए ज़िम्मेदार कौन है तो दरअसल माँ की जीवन-विडम्बना में से ही जैसे यह प्रश्न उभर कर आया मालूम पड़ता है। कहानी का नैरटर विचलित हो कर अपने-आप से यही प्रश्न पूछता हुआ निरुत्तर है और पाठक माँ की दृढ़ता, उदारता, प्रेम के बरअक़्स उसके अकेलेपन, तिरस्कार और व्यथा के देश की विडम्बनात्मक अवस्थिति पर सहसा यक़ीन नहीं कर पाता। यह विडम्बना उस क्षण चरम पर होती है जब माँ की देह के करुण अवसान का समय समीप जान कर बहू ऋतु उसके प्रति हिकारत का भाव त्याग कर फफक पड़ती है—डॉक्टर प्लीज़! मैं इस अवस्था में भी माँ को सम्हाल लूँगी, बस

वे जिन्दा रहें, ऐसे ही सही...।' 'राय प्रवीण' की तरह 'माँ' भी संरचना की दृष्टि से पुरानी परिपाटी की कुछ उस तरह की कहानी है, जिसे चरित्र प्रधान कहानी कहा जाता है; जिसमें चरित्र या तो असाधारण ऊँचाई पर पहुँच कर मिथकीय आवरण धारण कर लेता है या फिर ऐसी विडम्बना का स्रोत होता है जो कहानी के भीतर अर्थ की वास्तविक चमक उत्पन्न करती है। दोनों ही स्थितियों में कहानी की सफलता उसके यथार्थ में निहित विडम्बना और चरित्र की अपूर्व उठान, यानी 'अननुमेय' के जादुई स्पर्श, से सम्भव होती है।

पाठक को सिर्फ़ 'अतिरंजित' और 'अप्रत्याशित' ही अभिभूत नहीं करता। कुछ ऐसी भी कहानियाँ हो सकती हैं जिनमें वास्तविकता का प्रत्याशित और प्रकट रूप होता है लेकिन विस्तृत अवलोकन और सूक्ष्म ब्यौरे अभिभूत करते हैं। लेकिन यहाँ कहानी तभी मुकम्मल होती है जब ब्यौरों को पुरअसर कथात्मक ढाँचे में रूपान्तरित कर सकने का जतन भी किया गया हो। उदाहरण के लिए भालचन्द्र जोशी की कहानी 'कितने दुख' एक युवक की त्रासद मृत्यु के अनुभव को अभिभूत कर देने वाले घटनात्मक ब्यौरों में प्रस्तुत करती है। ब्यौरे इतने यथार्थपरक हैं कि पाठक को सब-कुछ जाना-पहचाना और अपना ही अनुभव-सरीखा लगता है। वह कहानी में चित्रित अनुभव का अपने अनुभव से मिलान करते हुए उसे पढ़ सकता है। शव लेकर अस्पताल से घर आने से लेकर श्मशान में शवदाह और उसके बाद की मरणोत्तर क्रियाएँ, परिवार-जनोंके क्रियाकलाप सहित जीवंत रूप में चित्रित है। ब्यौरों की विश्वसनीयता निस्संदेह प्रभावित करती है। जो कुछ भी चित्रित है, उसमें अतिरंजित, अप्रत्याशित या अविश्वसनीय कुछ भी नहीं है। यह यथार्थवादी प्रामाणिकता की कहानी है। लेकिन यही शायद कहानी की कमज़ोरी भी है। ब्यौरों का जादू देर तक टिक नहीं पाता। अन्त में फूफाजी द्वारा मृतक संस्कार के लिए पैसे के इंतज़ाम के बारे में पूछने पर 'दो लाख का कर्ज़ा छोड़ गया है' कहते हुए फूट-फूट कर रघुभाई के रोने के साथ कहानी का अन्त तो हो जाता है लेकिन यह करुणा उपजा कर उपसंहार कर देने का प्रयत्न-भर जान पड़ता है। कहानी अपनी एकरस-मद्धिम गति के साथ निम्नमध्यवर्गीय विषाद के विवश संकेतों मेंडूब जाती है।न सिर्फ़ कहानी का यह अन्त निपट सूचनात्मक और अनुमेय मालूम पड़ता है बल्कि पूरी कहानी में अन्तर्विरोध की झलक, विडम्बना की कौंध या अप्रत्याशित की छाया तक दिखाई नहीं देती। ब्यौरों की विश्वसनीयता के किसी व्यंजक कथा-परिणति से विच्छित हो जाने या एक मार्मिक अर्थ-संकेत से वंचित रह जाने से यह प्रकृतवादी कहानी ठहरती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह कहानी के आसपास की भाषिक संरचना—'लगभग कहानी' मालूम पड़ती है।

मगर यह अनिवार्य नहीं कि अन्तर्विरोध या विडम्बना के बिना कहानी अधूरी या निरर्थक हो जाती है; न ही यथार्थ की अप्रामाणिकता उसकी विधागत सार्थकता की या उसके अस्तित्व की अनिवार्य शर्त है। प्रकृतवादी ब्यौरों के बावजूद कोई कहानी अपनी विधागत विश्वसनीयता और पहचान हासिल कर सकती है, इसका उदाहरण स्वयं

प्रकाश की कहानी 'अगले जनम' है। प्रसव की सम्पूर्ण क्रियाविधि को यह कहानी अचूक ब्यौरों में, चकित करने वाली प्रामाणिकता के साथ, प्रस्तुत करती है। लेकिन एक मुकम्मल कहानी के लिये यह काफ़ी नहीं है। प्रसव की लम्बी पीड़ा और त्रासद अनिश्चय से जूझती नायिका के अनुभव का विवरण देना अगर इस कहानी का लक्ष्य होता तो यह एक व्यर्थ की क़वायद-भर होती। दरअसल यह सुमि के स्त्रियोचित अन्तर्द्वन्द्व की कहानी है। जिस क्षण सुमि प्रसव कीयातना से छुटकारा पाती है, कन्या को जन्म देकर वह उसी क्षण पुल्लिंगवादी दमन की नई यातना से घिर जाती है—इसी विडम्बना में कहानी का अभिप्रेत छिपा है। सफ़ेद कपड़े में लिपटी मासूम बच्ची को पहली बार देखने की अधीर प्रतीक्षा के बाद उसे ध्यान से देख कर सुमि सहसा उसे 'मर जा' कहते हुए गरदन घुमा लेती है। उसकी आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगते हैं। यह एक माँ की प्रतिक्रिया है या एक स्त्री की प्रतिक्रिया है जो पितृसत्ता के शिकंजे में छटपटाती है? क्या यह सच नहीं कि पितृसत्ता के रचे यातनागृह में नवजात कन्या के भविष्य को ठेल देने की बजाये वह आवेग-भरे क्षण में एकबारगी अपने मातृत्व को अस्वीकार कर देती है जिसे प्राप्त करना सामान्यतः हर स्त्री की आकांक्षा होती है? अगर सुमि की यह प्रतिक्रिया अप्रत्याशित और अस्वाभाविक है तो क्या कन्या का पिता बन जाने पर सुमि के बारे में उसके पति रवि की यह टिप्पणी प्रत्याशित है कि 'साली किसी और के पास तो नहीं जाती थी?' ससुर के इस पुंसत्ववादी अहंकार कि 'हमारे ख़ानदान में बारातें आती नहीं हैं, बारातें जाती हैं' और सास द्वारा इस मिथ्या गर्व के आत्मसातीकरण को सुमि की पुत्री का जन्म जैसे चुनौती देता है और रवि के उदारवादी रेशनलिस्ट के मुखौटे के भीतर दुबके पुल्लिंगवादी दकियानूस को भी बेनक़ाब करता है। विडम्बना को कथाप्रविधि की तरह इस्तेमाल कर स्वयं प्रकाश ने इस कहानी के अर्थ-संकेत को संघटित किया है और यथार्थ के प्रकृतवादी विस्तार को उससे युक्तिपूर्वक जोड़ा है। प्रकृतवाद यहाँ आत्मपूर्ण और स्वायत्त नहीं है, इसलिए खटकता नहीं है।

विडम्बना के इर्द-गिर्द कथा-सत्य को संघटित करने का यह पुराना फ़ॉर्मूला अब एक परिपाटी में ढल चुका है। यह यथार्थ के उस द्वैत पर आधारित है जिसके रहते दो विपरीत जीवन-स्थितियाँ—यथार्थ और अयथार्थ, वास्तविकता और आकांक्षा—एक-दूसरे का सामना करते हुए किसी एकीकृत संयोजन में गुँथी होती हैं। उनकी रगड़ से फूटी चिंगारी ही कहानी की मर्म-व्यंजना है। यह चिंगारी 'राय प्रवीण' 'माँ' 'अगले जनम' में दिखाई देती है।

क्या यह निरा संयोग है कि ये सभी कहानियाँ अपनी परिणति में एक कारुणिक प्रभाव निर्मित करती हैं? करुणा के संवेदनात्मक वृत्त में इधर अनेक कहानियाँ लिखी गई हैं। ऐसा तो नहीं कि करुणा का प्रयोग कहानी को पुरअसर बनाने के नुस्ख़े के तौर पर किया जा रहा है? या फिर वह कहानी के यथार्थ की स्वाभाविक परिणति है? यह सच है कि कहानी का करुण अन्त उसके अन्तर्विरोध को तीव्र और विडम्बना को

उत्कट बनाता है लेकिन उसका 'एस्थेटिक' प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि करुणा यथार्थ कीउपज है अथवा लेखक उसे आरोपित करता है। करुणांत कहानी में करुणा नैसर्गिक रूप से यथार्थ में विन्यस्त होती है।

करुणा इन कहानियों का नुस्ख़ा चाहे न हो, मगर ये सभी कहानियाँ 'अन्तर्विरोध', 'विडम्बना' और 'अप्रत्याशित' के रासायनिक संयोग से बने पुराने नुस्ख़े के आधार पर लिखी गयी हैं। ये आला दरजे की कहानियाँ भले न बन पायें, कौन इन्कार करेगा कि ये मुकम्मल कहानियाँ नहीं है?

कहानी मुकम्मल न भी बन पाये, अपनी बनावट की त्रुटियों के कारण आधी-अधूरी मालूम पड़े, तो क्या यह बात अपने-आपमें कोई अर्थ नहीं रखती कि आख़िर किसी-न-किसी रूप में वह घटित तो हुई है? मुक्तिबोध की अनेक कहानियाँ अधूरी रह गईं। लेकिन उनकी भीतरी दुनिया को टटोलने के लिए उनकी अधूरी कहानियाँ मददगार साबित हो सकती हैं। इसलिए, जैसा कि कथाकार शशांक ने कहा है, 'कमज़ोर और अधबनी कहानियों को भी हमें प्यार करना चाहिए, क्योंकि वे उसके लेखक के सतत कल्पना-लोक से निकल कर आई है।'

विधागत सीमाओं का विस्तार

क़िस्सागोई और वृत्तात्मकता कथा की सबसे पुरानी विधि है। सदियों से उसमें कहानी कही जा रही है। शायद कहानी का अवतरण ही क़िस्से के रूप में—वृत्तात्मकता की देह धारण कर—हुआ है। यह कहानी की मूल संरचना है। इसमें विक्षेप, प्रयोग और अन्तरण खूब हुए हैं लेकिन वह बदल-बदल कर भी नहीं बदली है। कोई बहुरुपिया जैसे रोज़ रूप बदल-बदल कर घूमता-फिरता है और साँझ में लौटकर स्वांग उतार देता है। कहानी के रूप-गठन में किये गये तमाम प्रयोग स्वांग ही तो हैं। मूल रूप में कहानी सरलरैखिक वृत्तान्त है। न जाने क्या जादू है कि सदियों से चली आ रही वाचिक कथा में ही नहीं, आधुनिक कहानी के मुद्रित पाठ वाली परम्परा में भी वृत्तात्मक पद्धति कारगर सिद्ध हुई है। यह आज भी कथा कहने की सर्वाधिक प्रचलित पद्धति है।

लेकिन कहानी की वृत्तात्मक संरचना पर वर्तमान और उसकी तात्कालिक सचाई का दबाव इधर इतना बढ़ गया है कि वृत्तात्मकता तो रह गई, कहानी ग़ायब हो रही है। सामाजिक वास्तविकता को कहानी में अनूदित करने या राजनीतिक-सामाजिक एजेंडा के आधार पर कहानी लिखने की प्रथा के चलते इधर कहानी की विधागत शर्तों के प्रति बेरुखी भी न सिर्फ़ बढ़ी है, बल्कि वह अवहेलना में बदल गई है। वृत्तान्त में कहानी का पुनर्वास किये जाने की बजाये वृत्तान्त को ही कहानी मान लेने पर ज़ोर दिया जा रहा है। इस वजह से इन दिनों वृत्तात्मक गठन में कहानियाँ तो खूब लिखी जा रही हैं लेकिन मुकम्मल कहानियाँ कम दिखाई पड़ती हैं।

जो दिखाई देती हैं, उनमें कुछ ऐसी भी कहानियाँ हैं जो अपने वृत्तात्मक गठन के भीतर ही सर्जनात्मक सम्भावनाएँ खोजने की कोशिश करती हैं। इन सम्भावनाओं की एक झलक हम स्वयं प्रकाश की कहानी 'अगले जनम' में पा सकते हैं, जहाँ बारीक़ पर्यवेक्षण और विश्वसनीय ब्यौरों से बना प्रकृतवादी वृत्तान्त अन्ततः विडम्बना की चमक के साथ अपना कथा-मर्म हासिल करता है। इन सम्भावनाओं की दूसरी झलक अखिलेश की कहानी 'अंधेरा' में देखी जा सकती है। इसमें वृत्तान्त को बड़े जतन से और खूबसूरती के साथ गढ़ा गया है। कथानक की यथार्थवत्ता और गुणवत्ता को छोड़ दें तो वृत्तान्त की बुनावट को ध्यान रखते हुए कहा जा सकता है कि यह मुकम्मल कहानी है। वास्तविकता, संयोग, आकस्मिकता और कल्पनाशीलता का कुशलता से प्रयोग करते हुए न सिर्फ़ घटनाओं को बुना गया है, बल्कि उन्हें कथात्मक विन्यास में एक-दूसरे से इस तरह जोड़ा गया है कि वृत्तान्त अपनी सरलरैखिक गति में भी यथार्थ के आन्तरिक द्वन्द्व और उतार-चढ़ाव को पकड़ता है।

इस कहानी में वृत्तान्त के प्रभावशाली गठन की दो विशेषताएँ तुरन्त ध्यान खींचती हैं। एक तो यह कि घटनाओं की शृंखला ऐसे प्रेक्षणों और विवरणों से बनी है जिनका संवेदनात्मक असर बहुत मार्मिक है। दूसरा यह कि इन प्रेक्षणों को एक-दूसरे की क्रमिक संगति में रखने के पहले सुचिंतित तरीक़े से, बाक़ायदा बुना गया है—कुछ इस तरह से कि उनकी बुनावट ही कहानी बन जाती है और पाठक को विस्मित करती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि प्रेक्षण और विवरण के अनूठेपन से उत्पन्न यह विस्मय कहानी का सौन्दर्यात्मक फलश्रुति है। 'अगले जनम' में यदि बारीक़ ब्यौरे ध्यान आकृष्ट करते हैं तो 'अंधेरा' में वृत्तान्त के भीतर यथार्थ की अन्दरूनी स्थितियों की बुनावट, जो संयोगों और आकस्मिकताओं के होते हुए भी, अपने गल्पात्मक स्वरूप में, प्रभावशाली है।

इसे समझने के लिए नायक प्रेमरंजन और नायिका रेहाना के बीच हुए जूठ-प्रकरण को मिसाल के तौर पर लिया जा सकता है। 'मुसलमान जो खिलाते हैं, उसे जूठा कर देते हैं'—इस धारणा के शिकार प्रेमरंजन का रेहाना के घर से लाया टिफ़िन पेट-ख़राबी के बहाने से न खाना, फिर उसी शाम चाट खाते पकड़े जाना और इसका खुलासा हो जानेपर अपमान के मारे रेहाना का फूट-फूट कर रोना, फिर प्रेमरंजन का अफ़सोस और आत्मधिक्कार और आँखों के आगे घूमती रेहाना की डबडबाई आँखें, रेहाना द्वारा क्षमादान, फिर ज़हर और जूठे की लक्षणा-व्यंजना और उलाहना और आख़िर में प्रेमरंजन के होंठ अपने होंठों के भीतर रख कर रेहाना का उसे जूठा खिलाना—इस समूचे घटनाक्रम को अखिलेश ने बड़ी बारीक़ी से, सफ़ाई से और विश्वसनीय सहजता के साथ रचा है। इसमें गहरी संवेदनशीलता, किंचित भावुकता, थोड़ी नाटकीयता और एक कॉमिक हल्कापन है जो नौजवान पीढ़ी की मनोदशा को पकड़ने और उसके अन्तरंग व्यवहार को वृत्तान्त में ढालने की कुशलता का सबूत है। इस प्रसंग की बारीक़ बुनावट वृत्तान्त को विश्वसनीय गल्प बना देती है। कहानी यूँ भी विश्वसनीय को गल्प में रूपान्तरित करने की कला है। यहाँ एक ओर धार्मिक अस्मिता पर आधारित अलगाव की मनोदशा (यानी हमारे समाज की एक वास्तविकता) है तो दूसरी ओर इस अलगाव को कपूर की तरह उड़ा देने वाली मानवीय ऊष्मा, जो अन्ततः प्रेमरंजन और रेहाना के प्रेम-प्रसंग और उसमें एक-दूसरे की धार्मिक पहचान के विलय को सम्भव करती है (यानी कहानी का यह गल्प है)। गल्प और वास्तविकता की यह बुनावट वृत्तान्त को सर्जनात्मक पूर्णता देती है। जूठ-प्रकरण और उसका यह वृत्तान्त-खण्ड अपने ब्यौरे में नायक और नायिका के बीच शनैः शनैः प्रेम विकसित होने और उसे प्रकट-उत्कट रूप में प्रस्तुत करने की लेखकीय निपुणता का साक्ष्य है।

प्रेक्षण की बारीक़ियों से उपजी सृजनात्मकता आगे के वृत्तान्त में भी है। रेहाना से बुद्धा पार्क में मिलने का समय तय कर अगले दिन प्रेमरंजन का उतावली के मारे साइबर कैफ़े में जाना, वहाँ दंगा छिड़ जाने की ख़बर पा कर किसी तरह रास्ता पूछते बुद्धा पार्क पहुँचना, फिर रेहाना से मुलाक़ात और अफ़रातफ़री में सुरक्षित जगह की

तलाश करते भटकते हुए अन्ततः एक ख़ाली मकान में संयोगवश मिली पनाह। यह सारा वृत्तान्त भी एकरैखिक क्रम में विकसित हुआ है। उसकी गति घटनात्मक वास्तविकता की संगति में है। प्रेक्षण को वर्णन में ढालने की कला में अखिलेश की महारत यहाँ भी दिखाई देती है।

यहाँ इस तथ्य की ओर ध्यान जाता है कि पिछले कुछ दशकों के दौरान हिन्दी में लम्बी कहानी लिखने का चलन हुआ है और विलम्बित क़िस्साग़ोई के धीरज के साथ वृत्तान्त को साधने के सफल-असफल प्रयत्न किये गये हैं। रेणु और कृष्णा सोबती के पहले ऐसी क़िस्साग़ोई और उसमें बारीक़ पर्यवेक्षणों के प्रयोग की कुशलता प्रायः नहीं थी और बाद के दौर में भी शैलेश मटियानी या काशीनाथ सिंह की कुछ कहानियों को छोड़ दें तो विरल है। लेकिन 1980 के दशक में उदय प्रकाश के साथ धैर्यपूर्वक कहानी कहने की कला का ऐसा उत्कर्ष हुआ कि न सिर्फ़ समकालीन वास्तविकता को विस्तृत आख्यानों में रचने की कोशिशें अचानक तेज़ हो गईं बल्कि उन्हें लम्बी कहानी नामक विधा के रूप में मान्यता दिये जाने का आग्रह भी होने लगा। विस्तृत आख्यानों के भीतर विलक्षण कथा-प्रयोग करते हुए स्वयं उदय प्रकाश कहानी के नये रास्ते ढूँढ़ते दूर चले गये, लेकिन उनकी आरम्भिक कहानियों के दीर्घ वृत्तान्तों और उनमें चरित्रों की नई कथात्मक उठान का असर इतना गहरा था कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के यथार्थ को उसकी समूची जटिलता में पकड़ने के लिए दीर्घ वृत्तान्त की अनिवार्यता स्वयंसिद्ध मान ली गई। शायद इसी समझ के तहत पैदा हुई होड़ के चलते अनेक कथाकारों ने अपने समय को समझने-बूझने की चेष्टा में लम्बी कहानियाँ लिखीं। इस चेष्टा में उन्होंने भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, उपभोक्तावाद, बाज़ार, साम्प्रदायिकता आदि चालू सूत्रों में समय को अपघटित कर दिया और उसके उदाहरण के रूप में इकहरे वृत्तान्त रच डाले। उदय प्रकाश के प्रभाव को इस तरह से भी देखा जा सकता है कि रामसजीवन से लेकर पालगोमरा तक के चरित्रों में कथानायक का जो ट्रैजी-कॉमिक मॉडेल उन्होंने गढ़ा था उसकी प्रतिच्छवि अखिलेश की इस कहानी के नायक प्रेमरंजन में भी झलकती है। कहानी के प्रारम्भिक अनुच्छेदों में प्रेमरंजन के कैरिकेचरनुमा छवि-चित्रण का मिलान इस ट्रैजी-कॉमिक नायक की गबदू किस्म की भंगिमाओं से सहज ही किया जा सकता है।

बहरहाल 'अंधेरा' के गतिशील दृश्यों की एक अटूट शृंखला में उसके वृत्तान्त का फैलाव है। वृत्तान्त में चाक्षुष-तत्व यथार्थ के विन्यास को अक्षुण्ण नहीं रहने देता। वह उसे ऐंद्रिक बनाता है। यह आँखों-देखा किस्म का यथार्थ है। नैरेटर कैमरे की तरह उसका पीछा करता है। क्या ऐसी कहानियों में कथा कहनेका अंदाज़ समान्तर फ़िल्मों की तरह या उनसे प्रभावित नहीं जान पड़ता? वही एकरैखिक दृश्यात्मक वृत्तान्त। सामाजिक यथार्थ को हमारी फ़िल्में भी प्रायः वृत्तात्मक रूपगठन में अन्वेषित करती हैं, हालाँकि फ़िल्म-माध्यम में कथा कहने की वैकल्पिक प्रविधियों का उपयोग ज़्यादा आसानी से किया जा सकता है। लेकिन सच तो यह है कि प्रत्यक्ष यथार्थ की मूल

संरचना ही ऐंद्रिक बोध के स्तर पर वृत्तात्मक है; दूसरे यह कि फ़िल्म और कहानी दोनों में लोक-रुझान या लोक-प्रिय तत्व एक स्तर पर प्रायः सक्रिय होता है जो चीज़ोंको प्रत्यक्ष ऐंद्रियता में देखने का आदी होता है। वृत्तात्मक रूपगठन उसके अनुकूल होता है। शायद यही वजह है कि 'अंधेरा' का वृत्तान्त प्रयोगसिद्ध वृत्तान्त है, प्रयोगशील वृत्तान्त नहीं।

लेकिन कहानी केवल वृत्तान्त से नहीं बनती। मुकम्मल कहानी में ढलने के लिए वृत्तान्त को उस क्षण के क़रीब पहुँचना होता है जहाँ उसका मर्म आलोकित हो उठे। चाहे वह सचाई के भीतर से अन्तर्विरोध के उजागर होने का क्षण हो या जीवन-विडम्बना की किसी औचक लपट के गुज़र जाने का एहसास या फिर किसी अप्रत्याशित घटनाया स्थिति का संवेदनात्मक आघात। 'अंधेरा' में प्रेम और अनुराग की पुलक से गुज़रते प्रेमरंजन और रेहाना को अकस्मात साम्प्रदायिक दंगे की दहशत से सामना करना होता है। प्रेम और आतंक, इन दो विरोधी मनोभावों की भीतरी टकराहट के साथ वे जिस बाहरी सचाई से साक्षात्कार करते हैं, वही वृत्तान्त के लम्बे ब्यौरों में फैला हुआ है। दंगे की अफरातरफरी के बीच सुरक्षित जगह की तलाश में भटकते प्रेमी-युगल की भागमभाग के साथ वृत्तान्त फैलता है। अगर वृत्तान्त को ठहरकर कहानी के मर्म की तलाश करनी है तो इस भागमभाग को रोकना होगा। दोनों के भटकाव का अन्त नहीं होता अगर उन्हें सूना-जनहीन मकान न मिलता। तब तो वृत्तान्त का भी अन्त न होता। लेकिन यहाँ वृत्तान्त ठहरता है। दोनों राहत पाते हैं और वृत्तान्त कहानी की मर्म की तलाश में जुट जाता है।

सूने मकान में सुरक्षित होने के सुकून के बीच बाहरी दुनिया की खोज-ख़बर के लिए नायिका टेलीविज़न खोलती है तो पाती है कि परदे पर हिंसा और मारकाट के लोमहर्षक दृश्यों के बीच फँसे उसकी अपनी क़ौम के लोग हैं। दहशत ने फिर उसे स्तब्ध कर दिया है। यह स्वाभाविक भी है। लेकिन इसके बाद जो हुआ वह अप्रत्याशित है। कहानीकार इस बर्बर दृश्य की प्रतिक्रिया में रेहाना को आतंकित या बदहवास होते नहीं बल्कि प्रेमरंजन की रुलाई फूटते दिखाता है, मानो अपने समुदाय के लोगों की इस करतूत के लिए वह खुद ज़िम्मेदार है। कहानी का मर्म नायक की इसी अप्रत्याशित प्रतिक्रिया में उद्घाटित होता है। उसका आत्म-परिताप वस्तुतः उसकी संवेदना को सामुदायिक आत्मबोध की कारा से पूरी तरह मुक्त कर देता है। वह एक वृहत्तर मानवीय संवेदना से जुड़ जाता है। हिन्दू सम्प्रदायवाद के प्रति यह एक हिन्दू की-सी प्रतिक्रिया नहीं है बल्कि बर्बरता के विरुद्ध नितान्त मानवीय प्रतिक्रिया है। यह विडम्बना या अनहोनी ही वृत्तान्त को समापन की ओर ले जाती है और उसे मुकम्मल कहानी बनाती है। ज़ाहिर है, विडम्बना को यहाँ एक कथायुक्ति की तरह इस्तेमाल किया गया है। यह न सिर्फ़ वृत्तान्त की लगाम को थाम कर उसे अनुशासित करती है, बल्कि उसे संरचना की दृष्टि से पूर्णता भी देती है। यह अपने शिल्प में मुकम्मल कहानी है।

* * *

एकाग्रता, धैर्य और अधिकार के साथ लम्बे वृत्तान्त में कहानी गढ़ने की कला में महारत साबित कर इधर युवतर लेखिका नीलाक्षी सिंह ने भी ध्यान खींचा है। वे वृत्तांन्त की इकहरी संरचना के भीतर प्रवेश कर उसकी अन्दरूनी तहों में से फूटती अन्तर्धाराओं को अन्वेषित करती हैं और उन्हें वृत्तान्त की सहज गति में शामिल कर लेती हैं। आत तौर पर कहानी का वृत्तान्त एकरैखिक हुआ करता है; यह एक तरह से उसकी विधागत सीमा भी है। पर नीलाक्षी सिंह इसे अपने प्रयत्नों की सीमा नहीं बनने देतीं। उन्होंने सरलरैखिक वृत्तान्त की प्रचलित विधि को ही अपनाया है लेकिन यथार्थ को यथासम्भव समग्रता में पकड़ने की कोशिश में वे एक नहीं, एकाधिक सरलरेखाओं को वृत्तान्त की मुख्य रेखा में जोड़ती चलती हैं।

उनकी कहानी 'परिन्दे का इंतज़ार-सा कुछ' में वृत्तान्त कुछ इसी तरह की बनावट लिए हुए है। संयोगवश यह कहानी अखिलेश की 'अंधेरा' की तरह साम्प्रदायिक दंगे की पृष्ठभूमि में लिखी गई है। इसकी थीम भी लगभग वही है—नृशंस और बर्बर समय के भीतर मानवीय संवेदना के स्रोतों की खोज। ग़ौर से देखें तो दोनों कहानियों में और भी समानताएँ हैं। मसलन दोनों कहानियों के पात्र कॉलेज में पढ़ने, वाले साथ-साथ टिफ़िन खाने और पिकनिक मनाने वाले युवा हैं; नायक हिन्दू और नायिका मुस्लिम है; दंगे के खूँखार दौर में वे आफ़त में हैं और उनका प्रेम दाँव पर है; मुस्लिम प्रेमिका को बचाने के लिए हिन्दू प्रेमी तमाम ख़तरे उठाता है; प्रेमिका को सुरक्षित जगह पहुँचाना प्रेमी की सबसे बड़ी चिन्ता है, सो वह इसका रास्ता ढूँढ़ने की कोशिश में है; अफ़रातफ़री में दोनों भटक रहे हैं। भागमभाग का अन्त प्रेम की गहराती संवेदना में है। तात्पर्य यह कि दोनों कहानियों के कथानक और उनका पैटर्न समानता लिए हुए है। वृत्तान्त में भी पर्यवेक्षण की वैसी ही सूक्ष्मता-एकाग्रता और वैसा ही कुशल-सघन रचाव। कथा-मर्म तक पहुँचने का वैसा ही धीरज और विलम्बित क़िस्साग़ोई का कौशल। इतना ही नहीं, दंगे में हिन्दुओं के क्रूर हिंसाचार के दृश्य देखकर अगर 'अंधेरा' का प्रेमरंजन रो पड़ता है तो 'परिन्दे का इंतज़ार-सा कुछ' का नायक शिरीष भी नसरीन द्वारा दोस्ती और इश्क़ के बीच बारीक़ लकीर की क़द्र करने की नसीहत दिये जाने पर इसे धार्मिक विभेद से जोड़ कर दुख से आहत हो सिसक उठता है। दोनों कहानियों की नायिकाओं, रेहाना और नसरीन के चरित्र में एक-सी साहसिक दृढ़ता है। यह दृढ़ता न होती तो रेहाना भगवाधारी साधु का सामना न कर पाती; न ही नसरीन अपने मामूजान के तमाचे खा कर भी उसके साथ जाने से इन्कार कर पाती।

इन समानताओं में पता नहीं संयोग है या रचनानुभव का अनुनाद। यहाँ इसकी पड़ताल करने का न अवकाश है, न आवश्यकता। असल बात है विलम्बित क़िस्साग़ोई और उससे उपजा कथा-रस। सरलरैखिक वृत्तान्त में चमत्कार यदि सम्भव है तो स्वयं कथानुभव की आन्तरिक समृद्धि के चलते जैसा कि पारम्परिक आख्यानों में होता है। ज़ाहिर है, यह सर्जक की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति और उसकी कल्पनाशीलता पर निर्भर है। नीलाक्षी सिंह में यह कम नहीं है। वे बारीक़ ब्यौरों में जाती हैं जो महज़ चीज़ों का

वर्णन नहीं, जीवन-स्थितियों और पात्रों की मनःस्थितियों की स्कैनिंग है। यथार्थ को पोर-पोर, रेशा-रेशा अर्थात् सम्भव समग्रता में ग्रहण करने की कोशिश के चलते 'परिन्दे का इन्तज़ार-सा कुछ' में कुछ ऐसे ब्यौरे भी हैं जो उपन्यास की समावेशी काया में तो सहज ही समा सकते हैं लेकिन कहानी अपनी लघु देह और अपने एकाग्र कथ्य के कारण उन्हें लेकर कुछ हिचकती हुई-सी होती है। नीलाक्षी ऐसे ब्यौरे देती हैं, पर अचरज है कि कहानी की एकाग्र संवेदना इससे बाधित नहीं होती, उल्टे पुष्ट होती है। उदाहरण के लिए 'नासमझ' ग्रुप के सारे सदस्यों के बारे में दिये गये ब्यौरे कहानी की मूल संवेदना से छिटके हुए जान पड़ते हैं लेकिन कहानी के अन्त तक आते-आते यह स्पष्ट होने लगता है कि ये ब्यौरे या तो उससे जुड़ जाते हैं और उसके प्रभाव को तीव्र करते हैं (जैसे अनन्या की इस दुखद विडम्बनाका ब्यौरा कि लोगों के लाख मना करने के बावजूद जिस ग़रीब चपरासी के बेटे को उसने खून देकर बचाया था, उसने दंगे में अपने दो मुसलमान दोस्तों को मार डाला) या फिर कहानी की मूल संवेदना से भिन्न होने पर उससे मिलती-जुलती त्रासद स्थितियों की संवेदना जगाते हैं (जैसे मनी के प्रसंग में उसकी आकांक्षाओं का त्रासद पतन और उसकी यह पीड़ा कि वह कामना-जैसी क़िस्मत वाली कहाँ)।

यथार्थ के ज़रूरी अंश चुन कर कहानी में उन्हें विन्यस्त करने के बजाय नीलाक्षी सिंह ने अनेक हाथों से उसे जितना सम्भव हो सके समूचा बटोर लेने का प्रयत्न किया है। यह कहानी-जितना ज़रूरी यथार्थ नहीं, कहानी से अधिक का यथार्थ है जिसमें एक अनियंत्रित वृत्तान्त या बिखरी हुई कहानी को जन्म देने का खतरा हो सकता है। लेकिन नीलाक्षी ने जो बटोरा उसमें ग़ैर-ज़रूरी कुछ भी नहीं है। ऐसी संश्लिष्टता कहानी में कम ही देखने में आती है कि कथा के केन्द्रसे छिटके हुए वृत्तान्त उसकी मूल संवेदना से अन्ततः किसी-न-किसी रूप में एकाकार हो जायें। वृत्तान्त की यह दुर्लभ समावेशिता है जो कहानी की इकहरी संवेदना को संश्लिष्ट बनाती है। सच पूछा जाये तो यह औपन्यासिक संश्लिष्टता है जिसे कहानी के वृत्तान्त में विलक्षण ढंग से स्वायत्त किया गया है। दरअसल इस कहानी की कोई मूल संवेदना या केन्द्रीय कथ्य, प्रचलित अर्थ में है भी नहीं। बस एक समावेशी लय है जो कहानी में चित्रित वास्तविकता के विभिन्न पहलुओं को बाँधती है। ऊपर से ज़रूर यह लगता है कि साम्प्रदायिक विभीषिका के बीच मानवीय सदाशयता और प्रेम की संवेदना का अक्षत बच रहना इसका मूल कथ्य है। लेकिन, शिरीष और नसरीन के बीच सम्बन्धों की अपरिभाषित धुँध, अम्मी के जीवन में दुःख की गहरी छाया में डोलता उनका अकेलापन, अनन्या की दुस्साहसिक उदारता, ज्योति की निम्नमध्यवर्गीय जद्दोजेहद या हर्ष की पारिवारिक त्रासदी जिसमें मास्टर का जुझारू बलिदान ही नहीं, निर्वासन और शरणार्थीपन का अनुभव भी शामिल है—ऐसे अनेक वृत्तान्तों का, अलग-अलग पात्रों का, क्या अपना-अपना कथ्य नहीं है? इन सब कथ्यों से मिल कर कहानी की संवेदना बनी है। यह चारित्रिक रूप से औपन्यासिक यथार्थ की संवेदना है।

ज़ाहिर है, 'परिन्दे का इन्तज़ार-सा कुछ' को कहानी की औसत पाठ-पद्धति के सहारे पढ़ा नहीं जा सकता। अगर पढ़ने की कोशिश भी करें तो यथार्थ की अर्थ-गुंफित संरचना और उसका बहुवृत्तात्मक स्वरूप इसमें बाधा उत्पन्न करता है। कहानी अपना स्वरूप (फॉर्म) वृत्तान्त की ख़ास तरह की बनावट में हासिल करती है। ऐसी बनावट जिसमें वास्तविकता का वही पहलू आलोकित होता है जो उसका मर्म प्रकट करने के लिए अपेक्षित हो। यानी कहानी का यथार्थ एक तरह का सम्पादित यथार्थ होना चाहिए जैसे कि 'अंधेरा' कहानी में है। इसे रचते हुए अखिलेश ने प्रेमरंजन और रेहाना के परिवार, परिवेश और उनके सामाजिक दायरे के वे ब्यौरे ही लिए हैं जो कथ्य और संवेदना की दृष्टि से आवश्यक थे। शेष ब्यौरों की उन्होंने छँटनी कर दी है। यथार्थ को सम्पादित करने की यह कला कहानी रचने की पद्धतिगत अनिवार्यता है। लेकिन नीलाक्षी सिंह इसे दरकिनार कर शिरीष और नसरीन के परिवार, परिवेश और समूचे सामाजिक दायरे को ब्यौरों में समेटने का दुस्साहस करती हैं। यह कहानी की रीति-नीति के अनुकूल नहीं है और उसकी शर्तों का, एक तरह से, उललंघन है। लेकिन जैसा कि कहा जाता है, जोखिम का फल मीठा होता है। इस मीठे फल से वह कथारस उत्पन्न होता है जो समूचे यथार्थ को हथेलियों में भर कर निचोड़ने का नतीजा है। कहानी की शर्तें लाँघते हुए औंधे मुँह गिर पड़ने की आशंका दूर हो जाती है। कथारस का स्वाद सारे कष्ट भुला देता है। आख़िर यह कथारस ही तो है जिसे पाने के लिए कथाकार इतनी मशक़्क़त करता है।

यहाँ कहानी की विधागत मर्यादा का अतिक्रमण तो होता है, फिर भी यदि कहानी होने का दावा क़ायम है तो इसलिए कि यह कहानी अपने रचनात्मक दुस्साहस के दम पर कहानी विधा की नई मर्यादा, उसकी नई सीमारेखा खींचती है। 'परिन्दे का इन्तज़ार-सा कुछ' की विलक्षणता यही है कि वह है तो कहानी, मगर उपन्यास का-सा आनन्द देती है। वह कहानी की विधागत सीमाओं का विस्तार करती है और उपन्यास की सरहद पर पंख फैलाती है।

दिलचस्प है कि वह आख्यान की पारम्परिक पद्धति में कोई विक्षेप उत्पन्न किये बगैर या ऊपर से आरोपित की गई किसी कथा-युक्ति का सहारा लिए बिना अपनी वृत्तात्मकता में ही कहानी विधा के लक्ष्य या सार्थकता को हासिल करने में क़ामयाब हुई है। अखिलेश को तो फिर भी अपनी कहानी का मर्म पाने के लिए वृत्तान्त के छोर पर एक अप्रत्याशित स्थिति या विडम्बना को कथा-युक्ति के तौर पर लगभग आरोपित करना पड़ा है। लेकिन नीलाक्षी सिंह वृत्तान्त के किसी ख़ास बिन्दु पर विडम्बना का सृजन कर एक करुणाजन्य संवेदना में कहानी के मर्म को सायास उतार देने की बजाये वृत्तान्त के समूचे फैलाव में जीवन के त्रासद बिम्बों को इतनी सहजता से रख देती है कि वे यत्र-तत्र कथा-मर्म की तरह जगमगा उठते हैं। इसलिए उनका वृत्तान्त सहसा जब भंग होता है तो एक आकस्मिक नाटकीयता के साथ कहानी के उपसंहार का क्षण आ जाता है। मगर सारा कथारस तो पाठक इससे पहले ही पा चुका होता है।

इस तरह ख़ालिस वृत्तान्त में कथा के मर्म को साकार होते देखना कितना दुर्लभ है—वह भी कहानी के ढाँचे में, उपन्यास की-सी भंगिमा के साथ। क्या कहानी की विधागत सीमाओं का यह विस्तार—कि कहानी हो कर भी वह उपन्यास के क्षेत्राधिकार में दख़ल करे—हाल के कथा-इतिहास की उल्लेखनीय घटना नहीं है?

यह सबूत है कि कहानी की महत्वाकांक्षा जाग रही है। अखिलेश की कहानी जहाँ अपनी विधागत सीमाओं को पहचान कर वृत्तान्त की आकांक्षाओं को नियंत्रित और नियोजित करती है, वहीं नीलाक्षी सिंह की यह कहानी अपनी महत्वाकांक्षाओं के साथ कहानी की विधागत सीमाओं को भी फैला देती है। यह मुकम्मल कहानी होकर सन्तुष्ट नहीं रह जाती, उससे आगे जाना चाहती है। ख़राब कहानी, अधबनी कहानी और मुकम्मल कहानी के बाद कहानी की यह चौथी कोटि है। आप चाहें तो इसे औपन्यासिक कहानी कह सकते हैं। 'अंधेरा' की तरह इस कहानी की सफलता भी इसके वृत्तान्त-गठन यानी शिल्प में है। अपने सधे हुए शिल्प की वजह से ये दोनों कहानियाँ मुकम्मल होने का आभास देती है।

यथार्थ की कूट-रचना

हर कहानी यूँ तो लेखक की गढ़ंत होती है लेकिन कभी-कभी वस्तुनिष्ठता के दबाव में वास्तविकता और गल्प के बीच अन्तर जब मिट जाता है तो वह गढ़ंत नहीं रह जाती, वास्तविकता की तरह जीवन्त और विश्वसनीय मालूम पड़ती है। कुछ ऐसी भी कहानियाँ होती हैं जो संरचना की दृष्टि से मुकम्मल होती हैं लेकिन उनका गल्प वास्तविकता के प्रति पूरा भरोसा नहीं जगा पाता। वे मनगढ़ंत (फ़ेब्रिकेटेड) जान पड़ती हैं। उनका सधा हुआ शिल्प आत्मपूर्णता का आभास देता है लेकिन किसी नुस्ख़े के आधार पर निर्मित या बने-बनाये साँचे में ढला उनका कथ्य आत्मपूर्णता को संदिग्ध भी बना देता है। अखिलेश की 'अंधेरा' और नीलाक्षी सिंह की 'परिन्दे का इन्तज़ार-सा कुछ' प्रायः ऐसी ही कहानियाँ हैं। साम्प्रदायिक दंगों पर केन्द्रित इन कहानियों पर देश-विभाजन के बाद लिखी गई कथा-रचनाओं में दंगों के चित्रण का प्रभाव तो है लेकिन उस दौर की कथा-रचनाओं की तरह अनुभव का खरापन नहीं है। संरचना की दृष्टि से मुकम्मल होने के बावजूद यदि इनका कथ्य और कथानक का साँचा घिसा हुआ है तो सार्थक कहानी की सम्भावना पर अपने आप प्रश्नचिह्न लग जाता है।

पिछली सदी के मध्य में लाखों लोग विभाजन की त्रासदी भुगत कर आये थे और दंगों की विभीषिका का उन्होंने भुक्तभोगी की तरह वर्णन किया। घर-घर में इस त्रासदी के क़िस्से थे और आधी सदी बीत जाने के बाद आज भी वे पीड़ित परिवारों की सन्ततियों की स्मृतियों में होंगे। यशपाल-भीष्म साहनी-जैसे लेखकों ने भी भुक्तभोगी की-सी विश्वसनीयता के साथ दंगों का चित्रण किया है। इन वर्णनों से दंगों का एक सुपरिचित, शैलीबद्ध और प्रारूपिक (स्टीरिओटाइप) चित्र उभर कर आया है जिसमें देखने-सुनने और भोगने की अनेक स्मृतियाँ हैं। यह चित्र साहित्य या सिनेमा में बार-बार प्रकट हुआ है। इसमें पात्र स्वयं दंगों के शिकार हैं। उनका और स्वयं उनके नैरेटर का भुक्तभोगीपन अनुभव के चाक्षुष विस्तार में फैला हुआ होता है। 'झूठा सच' और 'तमस' में रचे गये उसके वृत्तान्त बाद में साम्प्रदायिकता विरोध की कहानियों में, ख़ास तौर से 1980 के बाद की कहानियों में अक्सर दुहराये गये। आग की लपटों के बीच लहराते खंजरों के साथ आततायी और निरीह-बदहवास मुद्रा में दुबके-छिपे पीड़ित—दंगों केये प्रारूपिक चित्र हैं। बाद की रचनाओं में लपटें और खंजर दृश्य से ग़ायब होने लगे और दंगों के जीवन्त चित्रण की जगह दंगों के कारण होने वाली अफरातफरी का चित्रण कलात्मक दृष्टि से विश्वसनीय प्रतीत होने लगा। कथा-साहित्य में ही नहीं, फ़िल्मों में भी। उपद्रव में फँस जाने और उससे किसी तरह सुरक्षित बच निकलने के बाद निरापद स्थान और उसके निरापद एकान्त में दंगों की विभीषिका, भय और यातना

को ही नहीं, तमाम संवेदनशीलता और मानवीयता को भी केन्द्रित करते ये दृश्य अब दंगों के नये प्रारूपिक दृश्य हैं। लेकिन नया लगने के बावजूद ये दरअसल 'तमस' या 'झूठा सच' के दृश्यों के विस्तार ही हैं।

'तमस' या 'झूठा सच' के वृत्तान्त में यदि जीवंतता है तो उसका कारण सम्भवतः उनमें भीष्म साहनी और यशपाल के अपने अनुभव का स्पर्श है। ये वृत्तान्त जब दुहराये गये तो वे स्वानुभव से रचनानुभव में बदल चुके थे और बार-बार दुहराये जाने पर वे घिस कर अपनी जीवंतता खोने लगे, एक प्रारूप में ढल गये। यह सही है कि, जैसा अशोक वाजपेयी ने बोर्ख़ेस के हवाले से कहीं कहा है, साहित्य जीवनानुभव से ही नहीं, रचनानुभव से भी लिखा जाता है। लेकिन रचनानुभव आख़िर कब तक दूसरी रचनाओं को स्पन्दित कर सकता है? जीवन्तता खो कर अन्ततः उसे गढ़ंत में बदल ही जाना है। 'अंधेरा' और 'परिन्दे का इन्तज़ार-सा कुछ' के यथार्थ-बोध में रचनानुभव का ऐसा ही मारक दबाव है। इसके फलस्वरूप उनका गल्प स्वाभाविक नहीं, कूट-सृजन की तरह (कॉन्कॉक्टेड) प्रतीत होता है।

तो क्या गल्प की स्वाभाविकता का स्रोत स्वानुभव है, जैसा कि दलित साहित्य भी दावा करता है? दंगों के यथार्थ का वास्तविक चित्रण दंगापीड़ित ही कर सकता है? स्वानुभव का तर्क तो यही कहता है। मगर सच कहा जाये तो यह सरलदिमाग़ीपन से उपजा तर्क होगा। दलित-विमर्श में स्वानुभव का प्रश्न अस्मितावादी राजनीति के कोण से उठाया जाता है; उस पर इस राजनीति के एजेंडा का सीधा असर है। 'अंधेरा' और 'परिन्दे का इन्तज़ार-सा कुछ' का कूट-रचित यथार्थ वस्तुतः स्वानुभव की अनुपस्थिति का परिणाम नहीं बल्कि सम्प्रदायकता-विरोधी मतवाद से उसकी ठोक-पीट किये जाने के कारण है। दोनों कहानियों में लगता है कि वृत्तान्त गढ़ने में कथाकार की एकाग्रता और रचनात्मक ऊर्जा इतनी खर्च हो जाती है कि अनुभव के प्रारूप में समा गई रूढ़ियों की छँटाई का अवकाश उसे नहीं मिल पाता, न ही वह कथ्य को एजेंडाबद्ध होने से रोक पाता है।

दोनों कहानियों में कथानक के फ्रेम की एकरूपता, कुछ प्रसंगों और कथा-स्थितियों की समानता, संयोगभर नहीं है। यह साबित करता है कि इनमें जीवनानुभव की बजाये रचनानुभव स्पंदित होता है। इस रचनानुभव को अपर्णा सेन की फ़िल्म 'मिस्टर एण्ड मिसेज़ अय्यर' अथवा मणिरत्नम की फ़िल्म 'बाम्बे' के वृत्तान्तों से मिला कर भी देखा जा सकता है। इन सब में कथानक का एक-सा बुनियादी ढाँचा नज़र आता है—दंगे में पात्रों का फँस जाना, उनका मुक्ति के लिए छटपटाना और अन्त में एक संवेदनशील-रागात्मक नोट के साथ छटपटाहट का अन्त। हर वृत्तान्त एक मानवतावादी संदेश के साथ, भीतर से आप्लावित संवेदना में समाप्त होता है। मूल कथ्य है, दंगों में असुरक्षित पात्रों के लिए निरापद स्थान की खोज। अखिलेश और नीलाक्षी सिंह की कहानियों में नायक-नायिका का प्रेम दाँव पर है जबकि 'मिस्टर एण्ड मिसेज़ अय्यर' में एक-दूसरे से अनजान नायक और नायिका के बीच प्रेम का तो ख़ैर

सवाल ही नहीं है लेकिन दंगे के भयावह दौर से गुज़र कर जब वे सुरक्षित अलग होते हैं तो एक-दूसरे की स्मृतियों में कशिश की हल्की खरोंच छोड़ जाते हैं; उनके बीच एक अपरिभाषित-सा अनुराग दंगे के कठिन अनुभव के दरम्यान शनैः शनैः विकसित होता है। यह उस मानवीय स्पर्श से पैदा होता है, निरापद जगह तक पहुँचने की जद्दोजेहद में जिसका आदान-प्रदान करने को वे विवश हैं। इस फ़र्क को छोड़ दें तो इस फ़िल्म और दोनों कहानियों की कथा-स्थितियों में एक ही पैटर्न है—असुरक्षा का बोध और उससे निज़ात पाने की बेकली। 'बॉम्बे' के अतिनाटकीय वृत्तान्त में भी इसे देखा जा सकता है। यह समानता क्या लोकप्रिय कथा-युक्ति के प्रयोग के कारण है? एक तरह का पॉपुलिज़्म, जो अनजाने ही सर्जक को अपनी गिरफ़्त में ले लेता है? कहानियों की सफलता इस तरह के पॉपुलिज़्म से मुक्त होने की कोशिश में होती। मगर यह कोशिश कहानियों में नहीं है।

इन कहानियों की सफलता उन पर्यवेक्षणों और प्रसंगों में निहित है जिनमें संवेदना और मार्मिकता का सघन रचाव है। मसलन 'अंधेरा' में मोबाइलधारी साधु के नेतृत्व में दंगाईयों के झुंड से सामना हो जाने पर रेहाना हिन्दू मिथकों के बारे में अपने ज्ञान से उन्हें आश्वस्त कर अपनी मुस्लिम पहचान को छिपा लेती है। हिन्दू मिथक शास्त्र की इस जानकारी से प्रेमरंजन के चकित होने पर रेहाना कहती है कि इस बारे में कुछ किताबें उसके अब्बू ने दी थीं, कहा था कि 'बुरे वक़्त में काम आयेंगी'। क्या यह एक मार्मिक सत्य का उद्घाटन नहीं है? ऐसे दृश्य सामाजिक वास्तविकता को एक नये कोण से देखने को उत्प्रेरित करते हैं।

इन दृश्यों से इतर जो साँचा-ढले दृश्य हैं, वे कुछ सवाल पैदा करते हैं। आख़िर कथाकार दंगों के भीषण हिंसाचार के बीच प्रेम की नाज़ुक संवेदना को किस तर्क से रखता है? क्या दंगों की क्रूरता को उभारने के लिए कंट्रास्ट के तौर पर? या इस समझ के तहत कि हर संकट में प्रेम अपराजेय और खरा साबित होता है? या इसलिए कि कथायुक्ति के रूप में प्रेम और दंगे का बेमेल जोड़ा यथार्थ के अँदरूनी विरोधाभास को तीव्र कर सकेगा? या सामाजिक संकट की घड़ी में सबसे पहले प्रेम की ही परीक्षा होती है? अथवा इसलिए कि प्रेम हिंसाचार का माकूल जवाब हो सकता है? कि वह कथा को एक रुमानी स्पर्श देता है?

यह भी सवाल है कि दंगों की इन कहानियों में युवा पात्र ही क्यों? क्या बच्चे और बूढ़े कहानी के रोमेंटिक प्रभाव को कम कर देंगे? क्या यह भी एक तरह की पॉपुलिस्ट युक्ति नहीं है कि दंगों के क्रूर यथार्थ को रोमेंटिक प्रसंगों से प्रतिसंतुलित किया जाये? कि फ़िल्मों की चाक्षुष संतुष्टि कहानियों में भी ढूँढी जाये?

यह सवाल भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि इन दोनों कहानियों के नायक हिन्दू और नायिका मुसलमान हैं, तो क्यों? क्या इस समझ के चलते कि धार्मिक अल्पसंख्यक होने के कारण मुसलमान स्वाभाविक तौर पर असुरक्षित और कमज़ोर है और लैंगिक आधार पर स्त्री तो निर्बल है ही, इसलिए हिन्दुओं की क्रूर हिंसा का सामना करने के

लिए मुस्लिम स्त्री सर्वाधिक वेध्य (वल्नेरेबल) है, क्योंकि वह निर्बलों में भी निर्बल है? वह हिन्दू पुरुषसत्ता की क्रूरता के कंट्रास्ट में है? या फिर इसलिए कि वह हिन्दू पुरुषसत्ता के लिए आखेट का सबसे आसान निशाना है?

फ़र्ज़ कीजिए कि इन कहानियों नायिका हिन्दू और नायक मुसलमान बताये जाते तो किस तरह की स्थितियाँ बनतीं? हिन्दू नायिका को हिन्दू दंगाइयों से बचाने के लिए संघर्ष करते मुस्लिम नायक की छवि हमारे सेकुलर राजनीतिक विमर्श की दृष्टि से ज़्यादा युक्तिसंगत नहीं होती? या मुस्लिम दंगाइयों के बीच हिन्दू नायिका को बचा लेने वाले मुस्लिम नायक की छवि कितनी स्वीकार्य होती? लेकिन ये दोनों स्थितियाँ संकीर्ण राष्ट्रवाद के नज़रिये से बिलकुल ही ख़ारिज कर दी जायेगी; क्या इसमें कोई संदेह होगा? हिन्दू दंगाइयों के बीच मुस्लिम नायक को बचा लेने वाली हिन्दू नायिका की छवि या मुस्लिम दंगाइयों के बीच हिन्दू नायक को बचाने वाली मुस्लिम नायिका की छवि भी संकीर्ण राष्ट्रवादी राजनीति के अनुकूल नहीं है। आख़िरकार एक ही छवि उसके नज़रिए से वैध ठहरती है—मुस्लिम नायिका को दंगों में सुरक्षित बचाने वाला हिन्दू नायक। यह हिन्दू पुरुषसत्ता का प्रतीक है।

हिन्दू पुरुषसत्ता संकीर्ण राष्ट्रवाद की राजनीतिक संस्कृति का मूलाधार है। लेकिन वह यहीं तक सीमित नहीं है। उसकी छाया सेकुलर दिमाग़ों तक फैली हुई है। हिन्दू नायक और मुस्लिम नायिका को कथा-पात्र के रूप में चुनते हुए अखिलेश और नीलाक्षी सिंह के सामने संकीर्ण राष्ट्रवाद का विमर्श भले ही न रहा हो मगर एक सेकुलर व्यक्ति की जेहनियत में दुबकी हिन्दू पुरुषसत्ता अवश्य रही होगी जो मुसलमानों को निरीह-निर्बल यानी अपने से एक दरजा नीचे मानती है और उनके प्रति संरक्षण-भाव रखती है। सामाजिक रूप से सुरक्षित रहने का हिन्दू-सुलभ और स्वयंसिद्ध विशेषाधिकार उसके भीतर ऐसी ग्रंथि पैदा करता है जो मुसलमानों में पाई जाने वाली असुरक्षा-ग्रंथि का विलोम है। इसके चलते हर स्त्री और मुसलमान निर्बल और वेध्य है। चाहे कट्टर हिन्दू हो या उदारवादी हिन्दू, मुसलमान और स्त्री की कमोबेश यही छवि सबके मन में होती है। अचरज नहीं कि हिन्दू पुरुषसत्ता की अदृश्य उपस्थिति लेखक को भी प्रभावित करे। परिवार और समाज के भीतर उसके मनोजगत की कंडिशनिंग इसी वातावरण में होती है जबकि बौद्धिक प्रशिक्षण उसे सेकुलर-विवेकनिष्ठ वातावरण में अनुकूलित होने को प्रेरित करता है। संवेगात्मक और बौद्धिक स्तर पर लेखकीय व्यक्तित्व की यह फाँक सीधे सर्जनात्मकता को प्रभावित करती है। इसलिए इन दोनों कहानियों में यथार्थ की अँदरूनी गति तो सेकुलरवाद के राजनीतिक विवेक से संचालित होती है लेकिन पात्रों के चयन में हिन्दू पुरुषसत्ता की चलती है। दोनों का बेमेल सहअस्तित्व यह ज़ाहिर करता है कि हमारा सेकुलर मस्तिष्क एक अजब विडम्बना में स्पंदित होता है। उसके विवेकवाद की सतह के नीचे हिन्दू आत्मबोध की अदृश्य तरंगें लहराती हैं। 'मिस्टर एण्ड मिसेज़ अय्यर' फ़िल्म इस हिन्दू आत्मबोध को एक सांस्कृतिक झटका देती है जब ब्राह्मण नायिका अपने युवा मुस्लिम सहयात्री को हिन्दू

दंगाइयों से बचाने के लिए अपने पति मि॰ अय्यर की पहचान देती है।

शायद हमारी भाषा का कोई मुस्लिम लेखक हिन्दू नायिका और मुस्लिम नायक को लेकर साम्प्रदायिकता का एक तार्किक विमर्श निर्मित करने की हिम्मत करे जैसे कि कभी 'असन्तोष के दिन' में राही मासूम रज़ा ने की थी। दिक़्क़त यह है कि ऐसा विमर्श पाकिस्तान में जा कर ठीक वही मुद्रा अपना लेता है जैसे कि हमारे यहाँ है। उदाहरण के लिए आग़ागुल की पाकिस्तानी कहानी 'दूसरी बाबरी मस्जिद' के मुस्लिम नायक बाबर और हिन्दू नायिका शीला कुमारी का वृत्तान्त साम्प्रदायिकता की वेदी पर दोनों के आत्मदान के पूर्व नायक के पराक्रम को गौरवान्वित करना नहीं चूकता। आख़िर में साम्प्रदायिक सद्भाव के संदेश के साथ समाप्त हो जाता है। लगता है, साम्प्रदायिक सौहार्द और मानवीय संवेदनशीलता के उभार के साथ वृत्तान्त का उपसंहार कर देने के अलावा भारतीय उपमहाद्वीप में सेकुलर प्रतिभा के पास कोई और कथा-युक्ति नहीं है। वह बार-बार इन्हें नुस्ख़े की तरह प्रयोग करती है। एक बार फिर दुहराने की इच्छा होती है कि यह सेकुलर एजेंडा के दबाव का नतीजा है।

दरअसल 1980 के बाद एजेंडा-आधारित सृजन का तेज़ी से प्रसार हुआ। सामाजिक हालात के विकट होने के साथ विचारधारा के बढ़ते आग्रह का नतीजा था कि समाज की वास्तविकताएँ कुछ मुद्दों में सिमट आईं। साम्प्रदायिकता भी इनमें से एक प्रमुख मुद्दा था जिस पर केन्द्रित बहस एक तरफ सेकुलरवाद और दूसरी तरफ़ राष्ट्रवाद के बीच की रणभूमि का खेल बन गई। साहित्य सेकुलरवादी विमर्श का प्रमुख केन्द्र था। इसलिए 1980 के दशक में साम्प्रदायिकता-विरोध पर आधारित अनेक रचनाएँ लिखी गईं। ये जीवनानुभव पर कम रचनानुभव पर ज़्यादा निर्भर थीं और उन पर सेकुलर सोच के एजेंडा का दबाव भी था। ऐसी रचनाएँ कम लिखी गईं जो सम्प्रदायवाद की सामाजिक पैठ को जन-सामान्य की मनोरचना और सामाजिक व्यवहार में हुए बदलाव के साक्ष्य से रेखांकित करती हों। ज़्यादातर उनमें साम्प्रदायिक दंगों की रिपोर्टिंग और दंगाग्रस्त लोगों के प्रति कातर-करुणा संवेदना जगाने की कोशिश होती थी। अधिक हुआ तो यही कि कहानी के अन्तिम प्रभाव के रूप में व्यापक मानवीय संवेदना की झलक दिखा दी जाये। जैसे कि अखिलेश की 'अंधेरा' दिखाती है। यह साम्प्रदायिकता के एजेंडा का कहानी में कार्यशील नुस्ख़ा है। कहानी के वर्तमान दौर में स्वयं प्रकाश की 'पार्टिशन'-जैसी कहानियाँ कम हैं जो दंगों की दृश्यात्मक प्रस्तुति की बजाये सम्प्रदायवाद या उसके प्रतिवाद को सामाजिक व्यवहार के धरातल पर प्रस्तुत करती हों।

सम्भवतः यह स्त्री-विमर्श के समकालीन एजेंडा का प्रभाव है कि 'अंधेरा' की रेहाना और 'परिन्दे का इन्तज़ार-सा कुछ' की नसरीन के चरित्र में विलक्षण आन्तरिक दृढ़ता है। अन्यथा पुरुष-सत्ता का संरक्षण-भाव उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व को उन्मोचित ही न होने देता। प्रेमरंजन तो रेहाना को अन्त तक संरक्षण के घेरे में रखता है। अलबत्ता नसरीन शिरीष के संरक्षण को ठुकराती नहीं, उससे मुक्त होने का हौसला दिखाती है।

यहीं 'परिन्दे का इन्तज़ार-सा कुछ' की संश्लिष्ट संवेदना का एक और अर्थ-स्तर खुलता है। यहाँ एक मुस्लिम स्त्री का आत्मबोध (सेल्फ एसर्शन) प्रकट होता है। ठीक यहीं पर यह कहानी सेकुलर एजेंडा के दबाव में कसमसाती है मगर उससे छुटकारा पाने की कोशिश में स्त्रीवादी एजेंडा की गिरफ्त में आ जाती है। नसरीन नये सिरे से अपने आत्मबोध को ज्ञापित (एसर्ट) करती है और एक मुस्लिम पहचान के साथ घुट-घुट कर जीने से इन्कार करती है। ऐसी कसमसाहट रेहाना में नहीं है, बल्कि प्रेमरंजन का द्वन्द्व यह है कि पता नहीं उसके परम्परावादी माता-पिता रेहाना को स्वीकार कर सकेंगे भी या नहीं। वह इसके लिए किशोरकुमार-मधुबाला, शाहरुख़ ख़ान-गौरी, अज़हरूद्दी-संगीता बिजलानी, अकबर-जोधाबाई के विवाह का तर्क गढ़ता है और हनुमानजी से अपने प्यार को सफल बनाने की प्रार्थना करता है। यह प्रेमरंजन का हिन्दू-पुरुषसत्तात्मक एजेंडा है जिसका कहानी में कोई प्रतिवाद नहीं है और रेहाना भी उसे अपनाने को विवश है। लेकिन उसकी दृढ़ता कमज़ोर क्षणों में प्रेमरंजन को हिम्मत देती है।

ज़ाहिर है, रेहाना और नसरीन आज की स्त्रियाँ हैं—आधुनिक, पढ़ी-लिखी, हिम्मती और सजग। वे कमोबेश आज के स्त्री-विमर्श के प्रतिमानों से निर्मित स्टीरिओ-टाइप आधुनिक स्त्रियाँ हैं। प्रेम उन्हें मुक्त करता है, मज़बूत बनाता है। कथाकार उन्हें चरित्र के रूप में चुनता है तो इसलिए भी कि वे स्त्री के आन्तरिक सशक्तीकरण के उदाहरण के तौर पर आसानी से पेश की जा सकती हैं। वे मध्यवर्गीय सुरक्षा-छत्र में रहने वाली स्त्रियाँ हैं और दंगे की भयावहता के बीच भी सुरक्षा-छत्र से वंचित नहीं होतीं। वंचित होने की स्थिति आती भी है तो कथाकार उसे किसी-न-किसी छत के नीचे घुसा देता है जैसा कि 'परिन्दे का इन्तज़ार-सा कुछ' में दिखाई देता है। भागमभाग में अगर वह भी नसीब न हो तो नाटकीय संयोगवश किसी सूने किन्तु सुरक्षित मकान में अपने प्रेमी के साथ वह घुस जाती है, जैसा कि 'अंधेरा' में होता है। हर स्थिति में वे या तो सुरक्षित स्त्रियाँ हैं, या सुरक्षा की तलाश में हैं। साम्प्रदायिकता की वे भोक्ता कम दर्शक अधिक हैं। भोक्ता तो वे ग़रीब-असुरक्षित स्त्रियाँ हैं, जिनकी त्रासदी रेहाना टेलीविज़न के परदे पर देखती है और जो निरापद स्थान तक पहुँचने के पहले ही दरिन्दगी का शिकार हो जाती हैं। उनके वृत्तान्त हमारी कहानियों में नहीं हैं। शायद इसकी यह वजह हो कि हमारे कथाकारों का उनसे परिचय नहीं है और स्त्री-सशक्तीकरण की नायिका बन सकने की बजाये वे स्त्री की निरीह-निर्बल छवि को पुष्ट करती हैं। (विचित्र बात है कि निम्न वर्ग की स्त्रियाँ साहसी नायिकाएँ बनती भी हैं तो वे सभी स्त्रीवादी स्टीरिओटाइप में ही ढली होती हैं, जैसे कि मैत्रेयी पुष्पा की नायिकाएँ) गुजरात 2002 ऐसी स्त्रियों के वृत्तान्तों से भरा पड़ा है।

बहरहाल कथाकारों ने जो किया नहीं, उसकी शिकायत क्या! मगर हैरानी होती है कि हिन्दी में साम्प्रदायिक दंगों के वृत्तान्त 'झूठा सच' और 'तमस' के वृत्तान्तों से आगे नहीं जा सके हैं। या तो उनके दुहराव हैं अथवा उनमें उनके चरित्रों के बौने क्लोन हैं। रेहाना और नसरीन 'झूठा सच' की तारा के मॉडेल पर गढ़े गये चरित्र हैं

लेकिन अपनी संघर्षशीलता में वे तारा की टूटी-फूटी प्रतिकृति भी नहीं बन पाई है। हालाँकि कहानी और उपन्यास के इन चरित्रों की इस तरह से तुलना नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि विधागत आवश्यकताएँ भी चरित्रों की निर्मिति को तय करती हैं, लेकिन इस सचाई का क्या किया जाये कि आज गढ़े गये चरित्र अपने चार-पाँच दशक पुराने प्रोटोटाइप की याद दिलाते हैं? फिर भी अगर इस प्रोटोटाइप को विकसित नहीं किया जा सका है तो क्या इसका कारण यह नहीं है कि एक पॉपुलर एजेंडा के लक्ष्य तक कहानी को शीघ्र पहुँचना है, इसलिए वह चरित्रों पर एकाग्र होने की बजाये एजेंडा के लक्ष्य पर एकाग्र होने को विवश है? 'अंधेरा' में यह लक्ष्य नायक के भीतर छिपी मानवीय संवेदनशीलता और करुणा है जिसके उभार के साथ कहानी पूरी होती है। 'परिन्दे का इन्तजार-सा कुछ' में भी शिरीष के भीतर द्रवित भावुकता और विभोर आशावाद का मिश्रण बनता है जिसे पाकर कहानी का अन्त होता है।

यह सही है कि कहानी में वास्तविकता की जस-की-तस प्रस्तुति (अर्थात् यथातथ्यता) यथार्थवाद के स्वभाव के प्रतिकूल है लेकिन कहानी उसे स्वाभाविकता में ढाल कर ग्राह्य बना लेती है। कथानक की स्वाभाविकता उसका सर्वोपरि गुण है। 'अंधेरा'में यथातथ्यता नहीं है मगर उसमें स्वाभाविकता भी नहीं है। उसके वृत्तान्त की सहज गति को आकस्मिकता या संयोग कहीं-कहीं बाधित करते हैं। वास्तव में आकस्मिकता और संयोग यथार्थवाद के नहीं स्वैरवाद के लक्षण हैं। वे पुराने ढंग की कहानियों की चारित्रिक पहचान हैं। मगर आधुनिक कथा-साहित्य में वे आरोपित और अस्वाभाविक लगते हैं। अगर कथानक का स्वाभाविक सूत्र टूट जाये तो संयोग और आकस्मिकता का प्रयोग कर उसे जोड़ा ज़रूर जा सकता है, मगर उसके सहज प्रवाह को पाया नहीं जा सकता। कथानक के बिखरे हुए ब्यौरों को इस पद्धति से जोड़ने और उन्हें एक कामचलाऊ अन्तर्संगति में एकत्र करने (मेनीपुलेशन) से यथार्थ की मनगढ़ंत या कूट-रचना सम्भव होती है, उसे जोड़-तोड़ कर रच दिया जाता है। 'अंधेरा' साम्प्रदायिकता के वृत्तान्त की ऐसी ही कूट-रचना है। उसके जोड़ों में लगा मसाला असली नहीं है। इसलिए प्रभावशाली ब्यौरों के बीच के ये जोड़ ढीले हैं, मगर अखिलेश ने बड़ी सफ़ाई से उन्हें जोड़ा है, ऊपर से वे नज़र नहीं आते। इसलिए एक मुकम्मल वृत्तान्त की तरह यह कहानी सहजता से पढ़ी जाती है और पाठक की दिलचस्पी कम नहीं होने देती। उसमें कल्पना और वास्तविकता के रासायनिक संयोग से उपजा कथारस भी है, जिसे सिरजने में बम्बइया फ़िल्मों का जवाब नहीं। कूट-सृजन की यह अद्‌भुत स्वतंत्रता है कि दंगे की बदहवासी और तनाव के बीच भी नायक-नायिका एक-दूसरे की खिंचाई और प्यार-भरी छींटाकशी का आनन्द उठाते हैं। कौन कहेगा कि इसमें कथारस नहीं है? यह कूट-सृजन का सौन्दर्य है।

सम्प्रदायवाद पर केन्द्रित अधिकतर कहानियों के साथ मोटे तौर पर तीन तरह की समस्याएँ देखने में आती हैं। एक तो यह कि साम्प्रदायिकता को विषय की तरह बरतते हुए वे एक क़िस्म की लेखकीय आत्मसजगता के साथ रची जाती हैं। इसके चलते

सम्प्रदायिकता के प्रकट रूपों को अभिव्यक्ति में ढालने की जल्दबाज़ी और एजेंडा का अनुशासन उन पर हावी होने लगता है। दूसरा यह कि साम्प्रदायिकता के वृत्तान्त को प्रायः दंगों के विहंगम दृश्यों की प्रस्तुति तक सीमित कर दिया जाता है, बजाये इसके कि साम्प्रदायिकता के हस्तक्षेप के कारण सामाजिक मनोविज्ञान और मानवीय व्यवहार में आये सूक्ष्म बदलावों को रेखांकित किया जाये। तीसरा यह कि साम्प्रदायिकता के वृत्तान्तों में वहशीपन और क्रूरता के विरुद्ध मानवीय उदारता और संवेदनशीलता को भावुकता, सहानुभूति और सौहार्द के प्रचलित मुहावरे में प्रतिस्थापित कर एक मानवतावादी निष्कर्ष में पेश करने का रिवाज़ हो गया है। यह कुछ इस अंदाज़ में किया जाता है, मानो यह कहानी का कर्तव्य हो। ज़ाहिर है, देश-विभाजन के बाद के कथा-साहित्य में आये दंगों के प्रारूपिक चित्रों की ही नहीं, उनकी भावुकता की भी पुनरावृत्ति हुई जो आज तक जारी है। भावुकता आपत्तिजनक नहीं है, मगर उसका नुस्ख़े की तरह इस्तेमाल होते रहने से क्या उसका असर घिस नहीं जाता?

अखिलेश और नीलाक्षी सिंह की कहानियाँ कमोबेश इन तीनों समस्याओं से घिरी हुई हैं। इसका नतीजा यह है कि उनके प्रभावशाली वृत्तान्त भी अन्ततः कूट सृजन के रास्ते पर चल पड़ते हैं।

प्रसंगवश यहाँ आनन्द हर्षुल की कहानी 'रेगिस्तान में झील' याद आती है। यह साम्प्रदायिकता को प्रचलित-प्रकट ठोस रूपों में नहीं देखती बल्कि उसके एक सूक्ष्म रूप, धार्मिक अस्मिता-बोध के सामाजिक व्यवहार में अनायास ही प्रकट होने को रेखांकित करती है। इस कहानी में दस-बारह बरस का ऊँटवाला रशीद एक सैलानी दम्पती से उनके मुसलमान होने की बिना पर अपने ऊँट पर बैठने का आग्रह करता है। वह सीधे पूछता है—'क्या आप मुसलमान हैं?' हाँ, कहने पर रशीद कहता है—'तब तो आप मेरे ऊँट पर बैठना...हाँ...मैं भी मुसलमान हूँ।' सैलानी की पत्नी की माँग पर चमकती सिंदूर-रेखा का अर्थ वह नहीं समझता। सैलानी द्वारा कौतुकवश ऊँट का धर्म पूछे जाने पर उसे ठीक-ठीक जवाब नहीं सूझता—'ऊँट...मुझे मालूम नहीं, पर वह हमारे साथ रहता है।' कहानी के अन्त में यह जान कर वह झेंप जाता है कि सैलानी मुसलमान नहीं हैं। एक पल के लिए उसकी ख़ुशी काफ़ूर हो जाती है। लेकिन सैलानी की पत्नी के यह कहने पर कि इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है, वह अपने को सम्हाल लेता है—'हाँ, कोई फ़र्क़ नहीं...' और मुस्कुराते हुए बिटिया के गालों को थपथपाता है और हँसने लगता है। बिटिया भी हँसने लगती है। नैरेटर को लगता है, 'रेत के टीलों के नीचे दबे हज़ारों सूर्य बाहर आने लगे। रेगिस्तान रोशनी से भर गया। मुझे लगा कहीं यहीं तो रेगिस्तान में मीठे पानी की सील नहीं है।'

एक छोटे-से प्रसंग पर आधारित इस कहानी में न दंगे का वृत्तान्त है, न साम्प्रदायिकता के प्रतिवाद का प्रचलित एजेंडा और न ही भावुकता की तरंग। पर अपनी सादगी और कलात्मक एकाग्रता में यह हमारे समाज की उस वास्तविकता की ओर इशारा करती है जिसमें मनुष्य का धर्म उसकी निजी पहचान का बुनियादी सन्दर्भ बन

जाता है और उसके सामुदायिक मिलाप का नैसर्गिक आधार भी; जबकि मनुष्येतर प्राणी—ऊँट-जैसा पशु—पहचान की इस विवशता से मुक्त है। यही इस समाज में मनुष्य होने की विडम्बना है।

धर्म-आधारित सामुदायिक आत्मबोध के घनीभूत होने से साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का जो रूपाकार हमारे इतिहास में निर्मित हुआ है, किस तरह पिघल कर उसका रिसाव सामाजिक जीवन की भीतरी तहों तक पहुँच गया है, इसे यह कहानी अपनी विलक्षण सहजता में प्रकट करती है। धार्मिक अस्मिता का यह अपेक्षाकृत निश्छल-निर्भ्रांत रूप है, जो अबोध रशीद के भीतर सहज ही दाख़िल है, और जिसे साम्प्रदायिक मनोवृत्ति कह कर परिभाषित तो नहीं किया जा सकता, लेकिन स्वयं और अन्य के जिस द्वैत पर वह टिका है, जड़ीभूत हो कर अन्ततः वह हिन्दू-मुस्लिम अन्तर्विरोध में ही प्रकट होता है। एक बच्चे के निर्दोष अन्तःकरण में इस द्वैत की छाया पड़ती है—यह अपरिचित तथ्य नहीं है लेकिन कहानी उसे मामूली सूचना की तरह नहीं, सचाई की विलक्षण कौंध की तरह उजागर करती है। कहानी का अन्त 'हिन्दू या मुसलमान होने से क्या फ़र्क़ पड़ता है'-जैसे सेकुलर आप्त-संदेश में भले हो जाता हो, लेकिन उसका मर्म इस सचाई पर एकाग्र है कि धार्मिक अस्मिता के दायरे में व्यक्ति का समाजीकरण उसकी नियति है। इस नियति से उपजी त्रासद विडम्बना का संकेत सतीश आयसवाल की कहानी 'सचमुच इंद्रधनुष' भी देती है। यह कहानी भी धर्म-आधारित समुदाय-बोध के बरअक़्स अबोध और निश्छल मानवीयता की उपस्थिति को रेखांकित करती है।

अखिलेश और नीलाक्षी सिंह की कहानियाँ साम्प्रदायिकता के विषवृक्ष की शाखाओं और उस पर लदे फलों के विस्तृत चित्र खींचती हैं तो आनन्द हर्षुल और सतीश जायसवाल की कहानियाँ धीरे से उसकी जड़ों में दाख़िल होती है। यह यथार्थ को ऊपर से नहीं, भीतर से देखने की कोशिश है। इनमें कोई गढ़ा हुआ वृत्तान्त नहीं, एक मामूली प्रसंग है जो बिना किसी जोड़-तोड़ के यथार्थ को सहजता से पकड़ता है। ऐसी सहजता कूट-रचना की सम्भावना को अपने-आप निरस्त कर देती है।

कथा-रचना में यथार्थ का कम और उसे गढ़ने के कौशल का प्रयोग अधिक हो तो पाठक को शिल्प की चमक भले ही अभिभूत कर दे, जीवन की धड़कन सुनने के लिए उसे कहानी के सीने पर कान लगाना ही पड़ता है। कूट-सृजन के साथ तो कम-से-कम ऐसा ही होता है।

भावुकता के पक्ष में

फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानी 'संवदिया' ने इतनी आर्द्रता उत्पन्न कर दी कि मन भीग गया। इन दिनों, रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में हो या कला-साहित्य की दुनिया में, वर्तमान और उसकी वास्तविकता की रोशनी ऐसी तीखी हो चली है कि मन थोड़ी मद्धिम रोशनी में जाने को तरसता है। चुँधियाई आँखों को ज़रा सुकून चाहिए। 'संवदिया' कहानी से यह सुकून मिला। वरना ज्वलंत वर्तमान की तीव्रता को बर्दाश्त करना मुश्किल मालूम पड़ता है। वह लगातार दिमाग़ को जगाए रखता है और न चाहते हुए भी आप उसे लेकर चौकन्ने रहते हैं।

इधर की कहानियों ने भी समय के साथ अपने को ऐसा तन्मय कर लिया है कि उन्हें पढ़ने के लिए थोड़ी-बहुत बौद्धिक सजगता—उनके ज़रिए समय को जानने-समझने की विकलता—की दरकार होती है। मालूम पड़ता है कि सौ बरस का सफ़र पूरा करते-करते हिन्दी कहानी का मक़सद बदल गया है। पहले जहाँ वह संवेदना जगाने के लिए दिलोदिमाग़ को ज़रा नाज़ुक तरीक़े से छूने की कोशिश करती थी, वहीं अब थोड़ा तटस्थ और निर्मम हो कर सचाई को उघारने और पाठक को झकझोरने, उसे बौद्धिक रूप से उत्तेजित करने का जतन करती है। वास्तविकता के एंद्रिक प्रत्यक्षीकरण की तुलना में उसके बौद्धिक प्रत्यक्षीकरण पर ज़ोर बढ़ गया है। बेशक अब भी कहानी मनोरंजन के लिए पढ़ी जाती है लेकिन उसे पढ़ने और उस पर चर्चा करने वाला एक 'प्रबुद्ध' पाठक वर्ग अस्तित्व में आ गया है। कहानी उसे ही सम्बोधित होती है। तथाकथित आम पाठक अब प्रायः अमूर्त्त हो चला है। प्रेमचन्द युग की कहानियाँ शायद इस आम पाठक के लिए रही हों लेकिन अब कहानी का समूचा कार्यकलाप शिक्षित और बौद्धिक रूप से सजग मध्यवर्ग के बीच दिखाई देता है।

मध्यवर्ग के भीतर भयानक हाहाकार है। दुनिया-जहान की फ़िक्र है; हालाँकि यह फ़िक्र एक तरफ़ और अपनी मोह-माया में लिथड़े होने की बेफ़िक्री दूसरी तरफ़—मध्यवर्ग का यह अजब विरोधाभास है। उसकी चिन्ताग्रस्त नैतिक मुद्रा उसके बौद्धिक सरोकारों में—उसके सृजन की दुनिया में—प्रकट होती है। भले ही उसका असली चेहरा क्षुद्र और स्वार्थी कार्यकलापों से निर्मित हुआ हो, वह छिपा हुआ होता है। अपनी चिन्ता और दुनिया की चिन्ता में वह एक साथ चौकन्ना है। इसलिए उसकी समस्त इंद्रियाँ वर्तमान पर एकाग्र हैं। यही कारण है कि साहित्य की तमाम विधाएँ वर्तमान और उसकी प्रत्यक्ष वास्तविकता की गिरफ़्त में हैं।

शायद यह वर्तमान के प्रति एकनिष्ठ समर्पण की वजह से है कि जीवन में

बुद्धि-चातुर्य बढ़ा है और साहित्य में भावुकता कम हुई है। वह थोड़ी-बहुत बची है तो प्रेम-कहानियों या प्रेम-कविताओं में। शायद वहाँ भी नहीं, क्योंकि प्रेम भी इधर बहुत सजग और प्रैग्मेटिक तरीक़े से होने वाला मानवीय क्रियाकलाप बन गया है। सीधे दिल को छू लेने वाले प्रेम की फुहार से सराबोर 'तीसरी क़सम' या 'कोसी का घटवार'-जैसी कहानियाँ अब नहीं दिखाई पड़तीं। कहानी से भावप्रवणता बिलकुल ग़ायब नहीं तो विरल ज़रूर हो गयी है।

ऐसे में 'संवदिया' पढ़ कर राहत मिलना स्वाभाविक है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वर्तमान की वास्तविकता पर पिल पड़ी आज की कहानी से राहत पाने के लिए चालीस-पचास पहले लिखी कहानियों की शरण ली जाये। यह सदिच्छा प्रकट की जानी चाहिए कि आज की कहानियों में भावप्रवण यथार्थ और भावुकता की भी, समुचित प्रतिष्ठा हो।

आज की कहानियाँ अगर निपट वर्तमान पर केन्द्रित होने के कारण ऊब पैदा करती हैं तो यह भी देखा जाना चाहिए कि 'संवदिया' कहानी भी अपने वर्तमान से परहेज नहीं करती। 1962 में जब यह प्रकाशित हुई, तब देश को आज़ाद हुए डेढ़ दशक बीत चुका था। कहानी में बड़ी बहू की निस्सहायता, सामन्ती समाज के जिस विघटन की ओर इशारा करती है, वह आज़ादी मिलने के बाद की ऐतिहासिक परिस्थितियों में अवश्यम्भावी था। साथ ही इस बात पर भी ग़ौर किया जाना चाहिए कि विकास की पटरी सिर्फ़ शहरों तक पहुँच सही थी—जैसे कि कहानी में उल्लिखित कटिहार जंक्शन में हुए बदलाव से सूचित होता है—गाँव अब भी ज्यों-के-त्यों थे। गाँवों में बदलाव सिर्फ़ इतना ही था कि लोग शहरों की तरफ़ दौड़ रहे थे। कहानी उस दौर की इसी सामाजिक वास्तविकता की तरफ़ संकेत करती है।

जिस तरह आजकल वैश्वीकरण की सामाजिक प्रक्रिया—बाज़ार, उपभोगवाद, सूचना-क्रान्ति, सूक्ष्म आर्थिक शोषण, सांस्कृतिक क्षय आदि—को कहानियों में वर्तमान के अनुभवों के ज़रिये व्यक्त किये जाने का चलन हो रहा है, यानी वैश्वीकरण या उसके प्रतिरोध के उदाहरण के तौर पर कहानियाँ लिखी जा रही हैं, क्या ठीक उसी तरह 'संवदिया' कहानी स्वतन्त्र भारत में सामन्ती विघटन, ग्रामीण समाज के पिछड़ेपन और उसकी यथास्थिति का साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए लिखी गई होगी?

शायद नहीं; क्योंकि 'संवदिया' सामाजिक प्रक्रिया को प्रतिबिम्बित करने की बजाये उसके परिप्रेक्ष्य में मानवीय संवेदना की एक मर्मगाथा गढ़ने के वृहत्तर लक्ष्य पर केन्द्रित है। इसके विपरीत आज की ज़्यादातर कहानियाँ अपने समय में घटित हो रही सामाजिक प्रक्रिया को अभिव्यक्त करने के लेखकीय दायित्ववश लिखी जा रही हैं। समाज को प्रतिबिम्बित करना ही उनका उद्देश्य है इसलिए वे समाज और उसकी तात्कालिक वास्तविकता के विस्तृत विवरण देती हैं। मगर 'संवदिया' में ऐसे विवरण नहीं हैं जो सामाजिक प्रक्रिया का उद्घाटन करते हों बल्कि ऐसे संकेत अवश्य हैं जो तात्कालिक वास्तविकता को सूचनात्मक ढंग से इंगित करते हैं। वास्तविकता के ऐसे

संकेत रेणु के यहाँ प्रायः गौण हैं। वर्तमान के इस तरह के ब्यौरों को वे पृष्ठभूमि में ले जाते हैं और उसके बरअक्स मानवीय संवेदनशीलता के मर्म-भरे प्रसंगों को उभारते हैं। 'संवदिया' भी ऐसे ही एक प्रसंग पर केन्द्रित है।

ज़ाहिर है, 'संवदिया' अपने रचनात्मक क्षितिज का विस्तार करते हुए तात्कालिक वर्तमान का अतिक्रमण करती है। यह इसलिए महत्वपूर्ण है कि आज की ज़्यादातर कहानियाँ तात्कालिकता के दलदल में इतनी धँसी हुई हैं कि एक दुर्लभ मानवीय क्षण तक पहुँचने के लिए संवेदना के विस्तीर्ण आकाश में उड़ने की ताक़त खो बैठी हैं।

'संवदिया' में सूचित वर्तमान को 1960 के दशक की वास्तविकता से मिलान कर सत्यापित किया जा सकता है, आज की वास्तविकता से नहीं। बीसवीं सदी ख़त्म होने के बाद सामाजिक वास्तविकता यूँ भी बहुत बदल चुकी है। इसे ध्यान में रखें तो 'संवदिया' अतीत की कहानी मालूम पड़ने लगती है। संचार-क्रान्ति के युग में जब पृथ्वी का हर कोना-अँतरा संवाद की वैश्विक पहुँच के भीतर आ चुका है, संवदिया के द्वारा ख़बर भेजने का मध्यकालीन तरीक़ा चलन से बाहर हो चुका है, तब इस कहानी में चित्रित रेणु का वर्तमान आज पुराना पड़ चुका है। स्वयं संवदिया आज अतीत के प्रति एक तरह का 'एक्ज़ॉटिक' आकर्षण जगाता है। कहा जा सकता है कि यह पूर्व-आधुनिक जीवन की कहानी है। यह जीवन समय की धारा में बह कर बीत चुका है। यूँ देखें तो आज के आधुनिक के साथ 'संवदिया' के पूर्व-आधुनिक का एक गहरा विरोधाभास है।

लेकिन जिस मानवीय धरातल पर दो व्यक्तियों के बीच संवेदना रूप ग्रहण करती है, क्या वह भी बीत चुका है? बड़ी बहू की असहाय दशा और उसकी कारुणिकता, हरगोबिन का असमंजस और संकोच या दोनों के बीच निश्छल आत्मीय राग क्या पूर्व-आधुनिक यथार्थ की अभिव्यक्ति-मात्र है या वे ऐसी सार्वभौम मानवीय प्रवृत्तियाँ हैं जो किसी स्थान या काल से बँधी नहीं होतीं? एक अच्छी कहानी अपने को देश-काल में रोप कर अन्ततः संवेदना के सार्वभौम सत्य को छूने की कोशिश करती है। यह सत्य सदैव बीतता रहता है। कहानी का प्रभाव उसे पकड़ने की प्रविधि पर टिका होता है, न कि कहानी में सूचित या चित्रित वास्तविकता पर। इस तरह से देखने पर 'संवदिया' का पूर्व-आधुनिक यथार्थ उसके कथ्य के सम्प्रेषण में बाधा नहीं बनता बल्कि पाठक के वर्तमान से ऐसा कालगत अन्तराल निर्मित करता है जिसमें कहानी का यथार्थ इतिहास और वर्तमान के बीच पेंडुलम की तरह डोलता प्रतीत होता है। एक क्षण वह वर्तमान में होता है, अगले क्षण अतीत में—मगर हर क्षण गतिशील रहता है।

यह रेणु की विलक्षण कथा-शैली है। वे यथार्थ के विस्तृत ब्यौरे देते हैं लेकिन उनकी निगाह यथार्थ की बजाये उसकी संवेदना पर होती है। अगर वे इक्कीसवीं सदी के कथाकार होते तो भी उनकी कहानियाँ भावप्रवण और मर्मस्पर्शी होतीं, यह उम्मीद करना ग़ैर-वाजिब न होगा। तब शायद संवेदना का परिप्रेक्ष्य बदल जाता, लेकिन उसकी बनावट ज्यों-की-त्यों रहती, क्योंकि रेणु अपनी कहानियों में जिस मानवीय स्पर्श या

विजय मोहन सिंह के शब्दों में कहें तो 'मानुष-गंध' से संवेदित जान पड़ते हैं उसकी पहचान और परख मनुष्य के बुनियादी स्वभाव और उसके सार्वभौम आयाम की समझ के बिना मुमकिन नहीं। 'संवदिया' में भी संवेदना की यही लपट है।

ये लपटें अब कहानियों में यदा-कदा ही उठती हैं। लेकिन जब उठती हैं तो यक़ीनन वही सुकून और आत्मिक शीतलता देती हैं जो रेणु की कहानियों में है। समकालीन कथाकारों में यह विरल है लेकिन जब मुकेश वर्मा की कहानी 'खेलणपुर' कुछ इसी तरह का सुकून देती है, तो यह अप्रत्याशित मालूम होता है।

'खेलणपुर एक तपिश-भरी व्याकुल यात्रा की कहानी है। इस यात्रा पर बूढ़े कथानायक को उसका नौजवान पोता प्यारासिंघ ले जा रहा है। पैसेंजर गाड़ी धीरे-धीरे दूर गंतव्य की ओर बढ़ रही है। ऊब, बेचैनी और गरमी से भरी हुई इस यात्रा में लोग किसी स्टेशन पर चढ़ते और कहीं उतर जाते हैं मगर बूढ़े की मंज़िल खेलणपुर बड़ी दूर है और बेचैनी के मारे बार-बार वह 'खेलणपुर कब आयेगा' पूछता हुआ और 'सच्चा पातशाह खेलणपुर ज़रूर दिखायेगा' की प्रार्थना करता हुआ सफ़र काट रहा है।

खेलणपुर बहुत दूर है लेकिन बूढ़े की स्मृतियों में है। प्यारा सिंघ से वह कहता है कि खेलणपुर को उसने सपने में देखा है, उसके बारे में बुजुर्गों से सुना है; यह गाड़ी वहाँ जाती है, लेकिन कब, कह नहीं सकता। जब बसन्तपुर आया था, वह सत्रह-अठारह साल का था। प्यारासिंघ प्रतिवाद करता है कि बसन्तपुर तो कल आया था। लेकिन बूढ़ा उसे झिड़क देता है—बेवकूफ, कल तो रंगपुर निकला है। प्यारासिंघ फिर प्रतिवाद करता है कि कल खुद अपनी आँखों से उसने साइनबोर्ड पर सुनहरे हर्फ़ों में 'बसंतपुर' लिखा हुआ देखा है। वहाँ गुरु का एक बंदा बहुत उम्दा चंग बजा रहा था। प्यारासिंघ ने जब चंग के बोल सुनाये तो बूढ़े ने पहचान लिया कि यह बसंतपुर का ही चंग है। प्यारासिंघ ने बताया कि उसके सकूल के यार चमकौर सिंघ ने इसे सुनाया जो इसी पैसेंजर गाड़ी में चढ़ा है। मगर बूढ़े के लिए यह नेकचन्द के निकम्मे लड़के का बजाया चंग है। चंग के साथ बूढ़ा स्मृतियों में चला गया है जहाँ गुणवंत-कलावंत लेकिन निकम्मे लड़के और चार लड़कियों के ग़म में मर-खप गया नेकचन्द है। उसकी बड़ी लड़की बाप के उम्र के आदमी से ब्याह दी गयी जिसने उससे छोटी लड़की को भी रख लिया। तीसरी लड़की लॉरी-ड्राइवर के साथ भाग गयी। चौथी मुहल्ले के एक लड़के से प्रेम कर बैठी लेकिन बदनामी के डर से लड़का लुधियाना भाग गया। अकेली रह गयी लड़की ने हौसला नहीं खोया और धीरज के साथ दुनिया का सामना किया। कच्ची नौकरी वाले लंगड़े पति के साथ जिन्दगी सम्हाली। स्वाभिमानी थी, किसी की मदद क़बूल न की।

यह सब बताते-बताते बूढ़ा सो गया। प्यारासिंघ को लगा कि बूढ़े का दिमाग़ चल गया है। वह चमकौरसिंघ को डिब्बे में ढूँढने निकल पड़ा मगर अँधेरे में रुआबसिंघ से टकरा गया। रुआबसिंघ से पूछने पर कि 'क्या बसन्तपुर निकल गया' कुछ सहयात्रियों ने परस्पर विरोधी जवाब दिये और आपस में लड़ पड़े कि रंगपुर आने वाला है, कि

जोतपुर, कि इच्छापुर निकल गया है। उस भीड़ में घिर गये प्यारासिंह को किसी ने खींच कर निकाला। यह चमकौरसिंघ था। उसने बताया कि रंगपुर आने वाला है। वहाँ हम सब मज़े करेंगे। उसने इसमें शामिल होने के लिए प्यारासिंघ से भी कहा, लेकिन अपने दादा का ख़्याल कर वह लौट आया। बूढ़ा नींद से जागा, सरदारों के झगड़ा-फ़साद की आवाज़ें सुन चुका था। सुन कर सूखी हँसी हँसते हुए वह बोला—'किसी को कुछ पता नहीं...मैंने पूच्छी ते सब निकल गया...झलकनपुर...रंगपुर...बसन्तपुर... इच्छापुर...जोतपुर...शामपुर...सब निकल गये...सब झूठे थे...सो सारे निकल गये...मन से भी निकल गये...जो झूठा होता है, कभी-न-कभी निकल ही जाता है...जो सच है, वही मन में ठहर जाता है...सिर्फ़ यादें सच्ची होती हैं...सपने सच्चे होते हैं, उन्हीं की याद रह जाती है...और जो यादें हैं, वही तो हमारे सपने हैं...' बूढ़ा बड़बड़ाते हुए फिर स्मृतियों में डूब गया। खेलणपुर उसके लिए स्वप्न, स्मृति और सच है।

उसकी स्मृति में अब अपना बचपन है। दादा के साथ दंगल देखने बसन्तपुर जाने और नेकचन्द के लड़के का गाना सुन पहली बार दिल में दर्द और तन-बदन में आग लग जाने का वाक़या। उसके भीतर उस ज़माने को न समझ पाने की कचोट है। वह बसन्तपुन और वह ज़माना गुज़र चुका है लेकिन खेलणपुर अब भी आस है। बूढ़े की बड़बड़ाहट के बीच अब प्यारासिंघ भी नींद में चला गया है। नींद में वह चमकौर, गुरमीत, जोगिन्दर और अन्य हमजोलियों के साथ नहर में मस्ती का सपना देख रहा है। वह घिरा हुआ है, सब हँस रहे हैं और उसे डुबाने का खेल खेल रहे हैं। तभी उसे लगता है, एक झुर्रियों-भरा बूढ़ा हाथ उसकी ओर बढ़ रहा है। वह हाथ फैल रहा है। अकस्मात सुनाई देता है, खेलणपुर आ गया। सपना टूट चुका है। गाड़ी रुक गई है। खेलणपुर आया जान कर बूढ़े की खुशियों का ठिकाना नहीं है। वह खिड़की के पास जा कर आँख-भर खेलणपुर को देख लेना चाहता है पर बुढ़ापे का शरीर और कमज़ोर नज़रें साथ नहीं देते। स्मृतियों के सहारे पोते से खेलणपुर की मस्जिद के हरे गुंबद, उसके आगे नहर, फिर बाज़ार गुरुद्वारा और उसके आगे सफ़ेद मकान के बारे में पूछता है। पोता बताता है कि सब मौजूद है। बूढ़ा ईश्वर को धन्यवाद देता है—'यह दिन देखने वास्ते मैं कितना तड़फा...ज़िन्दगी में सब किया...सिर्फ़ एक उसके वास्ते कुछ न कर सका...ग़लती मेरी थी...मैं डर गया...लुधियाना भाग गया...भूल एक पल दी ते सारी ज़िन्दगी भूल बन गई।' पश्चाताप और पाप के बोझ से दरकती छाती लिए बूढ़ा अब हलका हो गया है। यह उसकी मुक्ति का क्षण है। प्यारासिंघ को अकस्मात लगा कि बूढ़े की आवाज़ धीमी हो गई है। पलट कर देखा तो बूढ़े की गरदन सीट से लटक गई थी। प्यारासिंघ दहाड़ मार कर रोने लगा। गाड़ी रुकी नहीं, चली जा रही थी। बूढ़े की यात्रा ख़त्म हो चुकी थी।

'संवदिया' की तरह 'खेलणपुर' भी मूलतः एक तरल आत्मीय अनुराग की कहानी है। 'संवदिया' में जहाँ अनुराग का केन्द्रस्थल वर्तमान का तात्कालिक अनुभव है, वहीं 'खेलणपुर' में वह स्मृति के भीतर से फूट पड़ा है। अनुराग दोनों कहानियों में

परिताप या पीड़ा-भरा अनुभव है। 'खेलणपुर' का बूढ़ा कथानायक आमरण पछतावे की लपटों से घिरा होता है और 'संवदिया' का हरगोबिन संवाद न सुना पाने की मजबूरी, बेचैनी और पीड़ा के साथ बड़ी बहू के पास दुखी मन से लौट आया है। लेकिन यह अनुराग ही हरगोबिन को मुक्त करता है जब वह बड़ी बहू के वात्सल्य की छाँह में अपनी पीड़ा से छुटकारा पाता है। बूढ़े कथानायक के लिए तो खेलणपुर मानो मोक्षस्थल है। 'वह लीलाभूमि है जहाँ सब अरमान पूरे होते हैं।' यहाँ उसका परिताप उसकी स्मृति के भीतर लहराते अनुराग से एकमेक हो जाता है। मृत्यु की देहरी पर बूढ़े कथानायक का झुका हुआ माथा और बड़ी बहू की देहरी पर अचेत पड़ा संवदिया—क्या ये एक ही फ्रेम में ढले दो दृश्य नहीं हैं? ये दोनों आत्म-विसर्जन के दृश्य हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि आत्म-विसर्जन अनुराग की चरम परिणति है। ये दृश्य उस वास्तविकता की भावप्रवण छवियाँ हैं जो इधर कहानी में प्रायः कम देखने में आती हैं। सच कहा जाये तो भावुकता इन दोनों कहानियों की ताक़त है।

मगर इन दोनों कहानियों में एक बुनियादी फ़र्क़ भी है। 'संवदिया' का निकट सन्दर्भ बीसवीं सदी के सातवें दशक की सामाजिक वास्तविकता है। कहानी का यथार्थ इस वास्तविकता की संगति में है। शहरों तक सिमटी आज़ादी, गाँवों के पिछड़ेपन और शहरों की ओर पलायन की यह सामाजिक वास्तविकता शहर और गाँव के द्वैत अर्थात् आधुनिक और पूर्व-आधुनिक के विरोधाभास की पृष्ठभूमि में प्रकट हुई है। लेकिन 'खेलणपुर' का यथार्थ किसी बाह्य वास्तविकता से प्रमाणित नहीं होता; न ही बाह्य वास्तविकता को वह परिप्रेक्ष्य या पृष्ठ भूमि की तरह बरतता है। खेलणपुर सिर्फ़ सचाई नहीं, आकांक्षा भी है।

दूसरा फ़र्क़ यह है कि ठेठ वर्तमान की नज़र से देखने पर 'संवदिया' की सामाजिक वास्तविकता पुरानी पड़ गयी मालूम होती है लेकिन 'खेलणपुर' का निकटवर्ती सन्दर्भ कोई ऐतिहासिक वास्तविकता नहीं है इसलिए उसका यथार्थ नये-पुराने की झंझट से मुक्त है। वस्तुतः खेलणपुर का देश-सन्दर्भ तो प्रत्यक्ष है (पंजाब और पंजाबीका सांस्कृतिक लोक) लेकिन उसका काल-सन्दर्भ अन्तर्लीन हो गया है, जबकि 'संवदिया' का देश-काल सन्दर्भ (बीसवीं सदी के सातवें दशक में बिहार का लोकजीवन) स्पष्ट है।

'खेलणपुर' में यात्रा का रूपक दो स्तरों पर घटित होता है। एक यात्रा लौकिक है, जिसमें पेसेंजर-गाड़ी पर सवार कथानायक और उसका पोता गरमी, ऊब, व्याकुलता, अधीर प्रतीक्षा और तमाम तकलीफ़ें सहते धीरे-धीरे खेलणपुर जा रहे हैं। दूसरी यात्रा स्मृतियों की है। उसकी दिशा उलट गई है, लेकिन गंतव्य वही है—खेलणपुर। मुकेश वर्मा ने विलक्षण कौशल के साथ स्मृति और वास्तविकता को एक-दूसरे में गूँथ दिया है—कुछ इस ढंग से कि पैसेंजर-गाड़ी में यात्रा की बेचैनी, प्रतीक्षा और कष्ट अनायास ही स्मृति की यात्रा के त्रासद अनुभव मालूम पड़ने लगते हैं। लगता है पैसेंजर-गाड़ी तमाम वास्तविक स्टेशनों को पार कर स्मृतियों के खेलणपुर की तरफ़

बढ़ रही है। बूढ़े कथानायक के लिए तो स्मृतियों का खेलणपुर ही वास्तविक खेलणपुर है। एक-दूसरे के समानान्तर चलती स्मृति और वास्तविकता सहसा एक-दूसरे में कब स्थानान्तरित होती है, पता नहीं चलता। जिस बिन्दु पर कथानायक की यात्रा का अन्त होता है, वास्तविकता और स्मृति का अन्तर मिट जाता है। स्मृति की यात्रा वास्तविक खेलणपुर पहुँच जाती है और पैसेंजर-गाड़ी स्मृतियों के खेलणपुर में। खेलणपुर एक तीर्थस्थल है जहाँ पहुँच कर बूढ़ा कथानायक अपने पापों का प्रक्षालन करता है।

इस बिन्दु पर यात्रा का रूपक एक तीसरे स्तर पर भी अपना अर्थ उद्घाटित करता प्रतीत होता है—आध्यात्मिक स्तर पर। इस अर्थ की छटाएँ लौकिक और स्मृति परक यात्राओं में भी देखी जा सकती है। क्या इन यात्राओं में तीर्थयात्रा-सरीखी आस्था और मुक्तिकामी विह्वलता नहीं है? इस कोण से देखें तो यह अनन्त यात्रा है। खेलणपुर तो यात्रा के बीच महज़ एक पड़ाव है जहाँ बूढ़ा कथानायक देह के बोझ से मुक्ति पाता है लेकिन यात्रा जारी रहती है। अन्तहीन यात्रा के इस रूपक की पुष्टि करते संकेत कहानी में अकारण ही नहीं उभरते। उदाहरण के लिए कहानी के प्रारम्भ में पैसेंजर-गाड़ी के चलने का काव्यात्मक वर्णन करने के बाद नैरेटर का यह कथन—'कितने रंग...कितने रूप...लेकिन हर सरूप के पीछे हाहाकार करती कोई एक आत्मा...किसकी...करुण क्रन्दन किसका...कोई रोकना क्यों नहीं इसे?...आख़िर कहाँ से आई, कहाँ जाना है...' या फिर नैरेटर का आगे यह कहना—'एक-से-एक गुणी-जानकार लोगों में कोई ऐसा नहीं मिला जो बिना हिचक और झिझक के बता सके कि गाड़ी कहाँ से शुरू हुई और इसका आख़िरी पड़ाव आख़िर क्या है?' क्या इन उक्तियों में सृष्टि की सनातनता का संकेत नहीं है? नैरेटर जब कहता है कि 'ड्राइवर को देखा नहीं, गार्ड का पता नहीं... केवल रोना-कलपना ही मुसाफ़िरों के मुक़द्दर में है' या फिर वह कहता है कि स्टेशनों के नाम को 'ज्ञानी भी बच्चों की तरह हिचकोले खाते, जोड़-जोड़ कर पढ़ने की कोशिश करते और अन्त में माथा ठोक कर बायें या दायें बैठ जाते' तो लगता है यह रेल-यात्रा न होकर संसार-यात्रा का वृत्तान्त है। यह अज्ञेय-अव्याख्येय-अनन्त सृष्टि का रूपक है। मनुष्य-जीवन के सन्ताप और कष्ट सहते बूढ़े कथानायक के लिए खेलणपुर एक अन्तहीन प्यास है। उसकी आध्यात्मिक अतृप्ति और आकुलता का अन्त खेलणपुर में ही सम्भव है। खेलणपुर अपर लोक है जहाँ उसकी लौकिक यात्रा विसर्जित होती है। खेलणपुर उसका चिर प्रतीक्षित सत्य है, बाक़ी बचे 'झलकनपुर...बसन्तपुर...रंगपुर... इच्छापुर...जोतपुर...शामपुर...सब निकल गये...सब झूठे थे...सो निकल गये।' मिथ्या नष्ट हो गया, सत्य रह गया।

कहानी के आरम्भ में वर्णित तपती दोपहर और उससे गुज़रती गाड़ी का चित्र दुबारा पाठ में बूढ़े कथानायक की जीवन-यात्रा के संताप और कष्टों की व्यंजना करने लगता है। यह लौकिक स्तर पर उसके पश्चाताप और आत्मिक स्तर पर 'हलक़ से तड़फ कर उठती प्यास' की व्यंजना है। पैसेंजर-गाड़ी के चलने के दृश्य का वर्णन करते हुए कथाकार ने अद्भुत बिम्बमाला निर्मित की है। निस्संदेह यह कहानी के वातावरण के प्रभावों को गहराई प्रदान करने की युक्ति है। 'आग-बबूला दोपहर में कोड़े

की तरह बरसती हवाएँ, ज़मीन की भुखमरी देह, चीलों की तरह कौंध मारती तमतमाती धूप, हाँफती-घुरघुराती मादा जानवर की तरह हड़काई-भगाई जा रही पैसेंजर-गाड़ी, उसके गले की रिरिआती चीख़ और ढेर-सारा काला-कसैला धुँआ, जबड़ों में खंजर भोंकती कर्कश लोहे की काली लगाम, ज़िन्दगी की आख़िरी निर्णायक लड़ाई का औसान, घिरती रात के सन्नाटे में दसों दिशाओं से उठती आर्त्त आवाज़ें'—इन तमाम बिम्बों में भय और भोक्तृत्व के जो अर्थ-संकेत उठते हैं, उन्हें कथानायक के जीवन की उत्तप्त सचाइयों से जोड़ पाना कठिन नहीं हैं। इन भयावह बिम्बों से शुरू हुई कहानी अन्त में जाकर कथा-नायक के गहरे सुकून में ख़त्म होती है। क्या कहानी के आरम्भ और अन्त की बिम्ब-रचनाएँ कथानायक की कष्ट-मुक्ति के थीम को अनायास ही लक्षित नहीं करतीं?

एक बारीक विडम्बना कहानी में ज़रूर ध्यान खींचती है। बूढ़े की कथित सनक या स्मृति के अतिचार ने नौजवान प्यारासिंघ की हसरतों को भी ग्रस लिया है। अपने दादा की देखभाल को पुण्य कार्य की तरह सर्वोपरि महत्व देने के कारण प्यारासिंघ न सिर्फ़ रुआबसिंघ के 'दस पैसा पाइंट' खेलने के प्रस्ताव को बल्कि अपने यार चमकौरसिंघ के रंगपुर में मौज करने के आग्रह को ठुकरा देता है। नतीजा यह है कि नहर में नहाते हुए आनन्द मनाने का स्वप्न उसकी नींद में है और एकाएक झुर्रियों-भरे बूढ़े हाथ के उभरने का दुःस्वप्न भी। यह अतृप्त युवा आकांक्षाओं और बूढ़ी स्मृतियों का अन्तर्विरोध-भरा संयोजन है।

इस कहानी के सन्दर्भ में दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि 'संवदिया' में जहाँ कहानी के अपने यथार्थ और उसके समसामयिक सन्दर्भों के बीच न्यूनतम कलात्मक दूरी मौजूद है जिसके चलते कहानी का गल्प-सौन्दर्य और समाजशास्त्रीय वास्तविकता दोनों अक्षुण्ण हैं, वहीं, 'खेलणपुर' में कहानी के अपने यथार्थ का कोई समसामयिक सन्दर्भ नहीं है। उसकी जगह स्मृति है जो यथार्थ को सत्यापित करती है। स्मृति से सत्यापित यथार्थ गल्प-सौन्दर्य तो प्राप्त कर लेता है, पर उसकी समाजशास्त्रीय वास्तविकता के तरल हो जाने का ख़तरा पैदा हो जाता है। इस दृष्टि से ऊपरी तौर पर लगता है कि स्मृति पर एकाग्र होने की वजह से 'खेलणपुर' सामाजिक यथार्थ की कहानी नहीं है, रुमानी कहानी है। इसकी जाँच किये जाने की आवश्यकता है।

कहानी की बनावट में स्मृति की महत्वपूर्ण भूमिका है। निर्मल वर्मा के पात्रों की तरह बूढ़ा कथानायक भी स्मृतियों में लीन है लेकिन उनकी तरह स्मृतिजीवी नहीं है। वह उदास स्मृतियों का उत्सव मनाने की बजाये उनसे पीछा छुड़ाने की कोशिश में बेचैन है। विजय मोहन सिंह ने निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' को 'सन्दर्भहीन शब्द-बिम्बों से सजी हुई स्मृति' कहा है। उनकी दृष्टि में ''निर्मल घटनाओं तथा सन्दर्भों में जाना ही नहीं चाहते, केवल उन्हें 'हवा में झूलता हुआ' पकड़ना चाहते हैं। इसके विपरीत यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि 'खेलणपुर' के कथानायक की स्मृति का एक ठोस सन्दर्भ है—एक ऐसी वास्तविकता जो बरसों पहले घटित हुई है लेकिन कथानायक को भावाकुल किये हुए है। स्मृति का 'हैंग ओवर' कथानायक को एक ऐसे

व्याकुल क्षण तक ले आता है, जहाँ उसे और बर्दाश्त करना कठिन है। ज़ाहिर है, कहानी अपनी तार्किक परिणति स्मृति और भावाकुलता के उन्मोचन में प्राप्त करती है, उसे 'एन्जॉय' करने में नहीं। हवा में झूलती स्मृति का उत्सव मनाया जा सकता है, स्मृति के ठोस सन्दर्भों को जीने और भुगतने से बचा नहीं जा सकता। इस तरह जीने-भुगतने में जितना रोमान है, उतना ही यथार्थ भी।

कहानी का मुख्य बिन्दु कथानायक का पलायन, उसका पश्चाताप और उसकी प्रेमिका का अविचल जीवन-संघर्ष है। वह विश्वासघात का दंश भोगती है, मगर हौसला नहीं खोती। न उसने किसी से शिकायत की, न मदद माँगी। स्वाभिमान और संघर्ष ने उसके चरित्र को ऐसी ऊँचाई दी कि कथानायक बौना पड़ गया और आजीवन पछतावे की आग में जलता रहा। क्या कोई कह सकता है कि समाज में थू-थू होने के डर से भाग गये प्रेमी की कायरता और उसके विपरीत साहस के साथ अपनी बदनामी झेलती प्रेमिका का अडिग संघर्ष सामाजिक यथार्थ नहीं है? क्या यह स्त्री के धैर्य और पुरुष की पराजय की कहानी नहीं है? स्त्री अपनी चारित्रिक उदात्तता को अपने जीवन-कर्म से प्रकट करती है। पुरुष की अकर्मण्यता उसके पछतावे से व्यक्त होती है। लेकिन यह पछतावा भी क्या कोई अर्थ नहीं रखता? दरअसल, यह आत्मशोधन के ज़रिए प्रेम की उदात्तता को छूने की कोशिश है—एक तरह का आध्यात्मिक परिष्कार, जो कहानी के यथार्थ को रुमान में उलट नहीं देता, बल्कि उसे पूर्णता देता है। यह यथार्थ और रुमान के योग से बनी पूर्णता है।

'खेलणपुर' इस दृष्टि से उल्लेखनीय कहानी है कि यह सामाजिक वास्तविकता को आज की कहानी के चालू ढर्रे और तात्कालिक मुहावरे में व्यक्त नहीं करती, बल्कि इसके विपरीत यह वास्तविकता को तात्कालिकता से मुक्त कर स्मृतियों में लपेट कर प्रस्तुत करती है। इसलिए जो दूसरी बात स्पष्ट होनी चाहिए, वह यह है कि रुमानी ढंग की कहानी नहीं है।

ग़ौरतलब है कि स्मृति के जिस ठोस सन्दर्भ में कहानी की वास्तविकता का वृत्तान्त है, वह विस्तार के साथ विवरणबद्ध नहीं है, बल्कि संक्षिप्त और संकेत-रूप में है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह आज की कहानी में प्रचलित रिवाज़ के विपरीत है जिसके अनुसार यथार्थ घटना के विस्तृत विवरणों में व्यक्त होता है; यानी वास्तविकता प्रत्यक्ष, किन्तु रोमान या तो ग़ायब होता है या नेपथ्य में। 'खेलणपुर' में रोमान प्रत्यक्ष और वास्तविकता नेपथ्य में है। लेकिन यह देखना दिलचस्प है कि किस तरह यहाँ रोमान वास्तविकता को 'मैग्नीफ़ाई' करता है और प्रभावी बनाता है। ज़ाहिर है, यह कहानी घटनात्मक विवरणों में जितनी खुलती है, उससे कहीं अधिक विवरणों में दबी चुटकी-भर वास्तविकता के 'मैग्नीफ़िकेशन' में। स्मृति और रोमान अपना स्वभाव खो कर किस तरह कथात्मक यथार्थ की रचना में योग दे सकते हैं—'खेलणपुर' कहानी यही बताती है।

वह यह भी बताती है कि कहानी में भावुकता का प्रवेश निषिद्ध नहीं, है और

भावुकता या रोमान अनिवार्यतः यथार्थ-विरोधी नहीं। क्या ठीक यही बात 'संवदिया' कहानी नहीं बताती?

लेकिन आधुनिक जीवन की बौद्धिक सजगता—जिसका निकृष्ट रूप रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में व्यावहारिकता के नाम पर महिमामंडित की गई स्वार्थपरता और चतुराई है और जिसका उत्कृष्ट रूप कला-साहित्य में यथार्थवाद है—का प्रभाव कुछ ऐसा है कि जीवन में ईमानदारी को अव्यावहारिक और कला-साहित्य में भावुकता को आदर्शवादी करार दिया गया है। इस प्रैग्मेटिक नज़रिये से देखें तो कहानी में भावुकता की रचनात्मक उपयोगिता अपने आप संदिग्ध हो जाती है। ईमानदार व्यक्ति और भावुकतापूर्ण कहानी आउटडेटेड और पिछड़ेपन के प्रतीक समझ लिये गये हैं। वे उस आदर्शवाद के अन्तिम स्मारक बना दिये गये हैं जो आज के तर्कशील आधुनिक युग में अपना अर्थ, उपयोगिता और औचित्य खो चुके हैं। इस सोच के पीछे आदर्शवाद और यथार्थवाद को एक-दूसरे का विरोधी मान लेने की सरलीकृत समझ भी काम करती है।

इसलिए अचरज नहीं कि भावुकता को यथार्थ-विरोधी या रोमेंटिक भाववाद समझ कर आज की कहानी से बहिष्कृत कर दिया गया है। नई कहानी में भी उसके प्रति तिरस्कार का भाव था। नामवर सिंह ने निर्गुण और विष्णु प्रभाकर की आलोचना उनकी कहानियों में भावुकता के आधार पर ही की थी। मगर उस दौर में थोड़ी-बहुत भावुकतापूर्ण कहानियाँ लिखी तो गई थीं; उसके बाद तो भावुकता को इस तरह हाशिए पर फेंक दिया गया कि प्रेम कहानियों में भी उसका टोटा पड़ गया। छायावादी भावुक प्रेम की जगह अब प्रेम की दैहिक विकलता थी। छाया की जगह वास्तविक काया थी। शरतचंद्रीय भाव-मूर्तियों की जगह अब बौद्धिक और ऐंद्रिक रूप से सजग चरित्र थे। इन चरित्रों में एक तरफ़ देह की आकांक्षाओं को समझने की ललक थी, लेकिन दूसरी तरफ़ सम्बन्धों की ठंडी-निर्मम सचाई से उपजा अपरिचय और अकेलापन था। ये अभावुक चरित्र थे जिनके बीच प्रेम एक ग़ैर-रोमेंटिक रिश्ता बन गया था। इसके बाद तो कहानी को सामाजिक यथार्थ का ऐसा दौरा पड़ा कि भावुकता को वह भूल ही गई।

भावुकता की अवमानना के बीच इधर 'खेलणपुर'-जैसी कहानी यदि उसकी याद दिलाती है तो क्या इसे भावुकता की वापसी या उसके नये प्रस्थान के रूप में देखा जाना चाहिए? और, क्या नई कहानी के ठीक बाद के दौर में 'संवदिया' की भावुकता उसी दौर की कहानियों में लोकप्रिय हुए 'डिरोमेंटिसाइज़ेशन' (देवीशंकर अवस्थी का शब्द) का प्रत्याख्यान नहीं था? अगर 'भावुकता' शब्द में नकारात्मक अर्थछटाएँ परेशान करें तो उसकी जगह 'भावप्रवणता' शब्द रख दें। इन दोनों कहानियों के सन्दर्भ में मुझे 'भावुकता' और 'भावप्रवणता' के बीच कुछ ख़ास अन्तर नहीं लगता; हालाँकि नामवर जी ने इन दोनों में भेद करने का, एक भिन्न सन्दर्भ में और सम्भवतः उचित ही, आग्रह किया है।

जिन लक्षणों के आधार पर नामवर जी ने भावुकतापूर्ण कहानियों की आलोचना की है, उन्हें ध्यान में रखें तो 'खेलणपुर' में मुकेश वर्मा ने करुण या सहानुभूति जगाने

के लिए कोई अतिरिक्त उद्यम नहीं किया है, जैसे कि 'एक शिल्पहीन कहानी' में निर्गुण या 'धरती अब भी घूम रही है' में विष्णु प्रभाकर ने किये हैं। न यहाँ निरीहता है, न नाटकीयता, न आँसुओं की धारा। नैरेटर कहानी के उपसंहार को प्रभावशाली बनाने के लिए अपनी तरफ़ से कोई टिप्पणी भी नहीं करता। वह तटस्थ होकर विवरण देता है। विवरण में न उतावली है, न भावोच्छ्वास। बल्कि लेखक अपने चरितनायक की मनोदशा में प्रवेश करता है, उसके भाव-संसार को उघारता है, उसके पश्चाताप की अन्तर्ध्वनियाँ सुनता है। बेशक बूढ़े कथानायक के चरित्र की निर्मिति शरतचन्द्रीय कथानायक के मॉडेल से प्रभावित है लेकिन नेकचन्द की चौथी बेटी शरतचन्द्रीय नायिकाओं की तरह अतीत से चिपके रह कर विगत प्रेम की स्मृतियों में अपने स्वत्व को खपा देने वाली समर्पिता स्त्री नहीं है। प्रेम में धोखा खा कर वह प्रेम के बोझ को ही उतार देती है और दुख सहकर भी स्वाभिमान की ज़िन्दगी जीती है। वह स्मृतियों में सिरजी गई पात्र है किन्तु वह अतीत की छायामूर्ति नहीं, वर्तमान के हाड़-माँस से बनी हुई स्त्री है। उसका स्वाभिमान उसे स्त्री की समकालीन छवि से जोड़ता है।

बूढ़ा कथानायक हाड़-माँस की स्त्री को छोड़ कर उसकी छाया से प्रेम करते हुए अजब विडम्बना का शिकार है। लेकिन वह किसी मनोवैज्ञानिक गाँठ या नियति की तर्कहीन विडम्बना की वजह से नहीं बल्कि सामाजिक प्रवाद के भय के कारण पलायन करता है। यही उसके पश्चाताप का ठोस सन्दर्भ है। यही उसकी आत्मवेदना को शरतचन्द्रीय नायकों के आत्मसन्दर्भी परिताप से अलग करता है। वह लहना सिंह की तरह प्रेम का प्रतिदान नाटकीय संयोग के किसी आकस्मिक क्षण में देने को प्रस्तुत पात्र भी नहीं है। स्मृतियों के बोझ को आजीवन ढोते हुए वह अन्ततः उसे एकबारगी उतार देने के संकल्प के साथ मुक्ति के मार्ग पर आ खड़ा हुआ है। यह उसकी भावोच्छ्वसित नहीं, भावोज्ज्वल मुक्ति है। सच पूछा जाये तो इसमें भावुकता की जानी-पहचानी भंगिमा भी नहीं है। इसलिए कहानी के अन्त तक पहुँच कर पाठक भी भावुक नहीं होता। भावुकता बूढ़े कथानायक की जटिल मनोदशा में है, जिसके प्रति कथाकार पाठक को संवेदनशील बनाता है।

ज़ाहिर है, न लेखक ने भावुक होकर कहानी लिखी, न पढ़ कर पाठक भावुक हुआ। सिर्फ़ पात्र भावुक है। (मगर उसके पास भी भावुकता का एक यथार्थपरक तर्क है जो उसके जीवन के ठोस सन्दर्भों में से प्रकट होता है।) ऐसी निर्मम तटस्थता कितनी कहानियों में मिलती है? भावुकता इसमें सतह पर तैरती नज़र नहीं आती। आप चाहें तो इसे अवश्य ही भावप्रवण कहानी कह सकते हैं। भावुकता और भावप्रवणता के बीच यदि अन्तर है तो इससे बेहतर और कौन बता सकता है?

निस्सन्देह लहना सिंह लौट कर नहीं आयेगा लेकिन क्या हमें हरगोबिन या बूढ़े कथानायक की खोज बन्द कर देनी चाहिए जो कहीं-न-कहीं हमारे यथार्थ के भीतर किसी कोने में अवश्य मौजूद होंगे?

द्विचर मॉडेल में यथार्थ

समाज मानवीय संसर्ग की एक सुनिश्चित व्यवस्था से बनता है। यह व्यवस्था और उसके भीतर की हलचल मनुष्य-जीवन की विविधता और उसके स्वभाव में निहित अनेकरूपता का नतीजा है। कहानी या कोई भी कला-विधा इसे ही व्यक्त करती है। वास्तविकता के रूप में जिसे हम जानते हैं, वह दरअसल हलचल का ऊपरी लक्षण है, जिसे कहानी भाषा की ख़ास तरह की बुनावट में समेटने की चेष्टा करती है। समाज की कल्पना एक ऐसी प्रणाली (सिस्टम) के रूप में की जा सकती है, जिसके भीतर अणु-परमाणु की तरह अनिश्चित गति से संचरित होते और एक-दूसरे से टकराते व्यक्ति और उनकी मानवीय प्रवृत्तियाँ हैं। वास्तविकता की हलचल इस तरह के टकरावों से मुमकिन होती है। अनुमान किया जा सकता है कि बेतरतीब टकरावों से बनने वाली सामाजिक वास्तविकता की कोई अपनी तरतीब (पैटर्न) तो ज़रूर होगी, वरना समाज में ऊपरी तरतीब भला कैसे पैदा होगी। ऐसी एक तरतीब, जो एक नज़र में तुरन्त दिखाई देती है, शायद यथार्थ के द्विचर (बाइनेरी) पैटर्न में मौजूद है। यह पैटर्न दो व्यक्तियों या प्रवृत्तियों के मानवीय संसर्ग, यानी उनकी आपसी टकराहट से जन्म लेता है। अक्सर ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी होते हैं; उनके द्वन्द्व में यथार्थ क्रमशः विकसित होता है।

यह द्वन्द्व सभ्यता के जन्म से जुड़ा है। शायद यही वजह है कि यह न केवल सभ्यता के निर्माण की प्रेरक शक्ति है बल्कि उसकी अभिव्यक्ति के मूल पैटर्न में भी किसी-न-किसी रूप में मौजूद है। कथात्मक यथार्थ के ढाँचे में इसकी मौजूदगी नायक-प्रति नायक के द्वैत में दिखाई देती है। इतिहास के किसी भी दौर की कथाओं में इस द्वैत के होने के प्रमाण मिलते हैं। शायद यह मनुष्य के मनोजगत में सत् और असत् के आदिम द्वन्द्व की बार-बार उभर आती प्रतिच्छाया है जो उसके पीछे तब से लगी हुई है जब ईश्वर और शैतान के द्विचर यथार्थ का जन्म हुआ था। यम-नचिकेता के औपनिषदिक आख्यान में जन्म और मृत्यु का विमर्श इस द्विचर यथार्थ के अँदरूनी द्वन्द्व की ही अभिव्यक्ति है। पौराणिक-क्लासिकल साहित्य में देव-दानव-संघर्ष या राम-रावण, कृष्ण-कंस, प्रह्लाद-हिरण्यकशिपु, कौरव-पांडव के बीच के टकराव दरअसल यथार्थ के द्विचर मॉडेल की उपस्थिति को सूचित करते हैं। इतिहास के भीतर राजा-प्रजा के वास्तविक आख्यानों पर ग़ौर करें या स्वैर कथाओं के राक्षस-राज कुमारी, राजा-रंक, परी-दानव के वृत्तान्तों या नीतिकथाओं के शेर-सियार, हिरण-बन्दर और अन्यान्य मनुष्येतर प्राणियों की कहानियों की बात करें, दो परस्पर विरोधी चरित्रों या प्रवृत्तियों के टकराव को सहज ही लक्ष्य किया जा सकता है। ज़ाहिर है, दो विलोक-धर्मी सत्ताएँ

एक-दूसरे के साथ अन्तर्क्रिया के ज़रिए वास्तविकता का सृजन करती हैं। द्वन्द्वात्मक यथार्थ का यह मूलभूत पैटर्न है जिससे न जीवन अछूता है, न कथा-कहानी अछूती है। इसलिए जीवन में जहाँ व्यवहार के स्तर पर अच्छे-बुरे, ताक़तवर-कमज़ोर, संत-असंत का द्वैत या सामाजिक ढाँचे में दलित-सवर्ण, स्त्री-पुरुष, अमीर-ग़रीब, शोषक-शोषित का द्वैत प्रत्यक्ष है, वहीं कथा में भी यही द्वैत प्रतिबिम्बित होता है। सच पूछा जाये तो कथात्मक यथार्थ का सार्वभौम और सबसे लोकप्रिय ढाँचा यही है। अचरज नहीं कि आज की बहुत-सी हिन्दी कहानियाँ यथार्थ की द्वैतपरक प्रकृति और उसके प्रकट अन्तर्विरोध को कथ्य के रूप में जब चुनती हैं तो स्वभावतः यथार्थ के द्विचर मॉडेल को अपनाती हैं।

यह मॉडेल हिन्दी कहानी के प्रायः जन्मकाल से सक्रिय है। माधव राव सप्रे की 'एक टोकरी-भर मिट्टी' में ग़रीब विधवा और ज़मींदार के चरित्र दो विपरीत सामाजिक हैसियत के चरित्र हैं जिनकी अन्तर्क्रिया से कहानी का अर्थ एक तार्किक परिणति तक पहुँचता है। कश्मीरी लोककथा पर आधारित होने के बावजूद यह कहानी यदि हिन्दी की पहली आधुनिक कहानी होने का दावा करती है तो इस वजह से कि उसका कथ्य आधुनिक है जो महल और झोपड़ी के 'अन्तर्विरोध' में से आकार लेता है। अन्तर्विरोध या विडम्बना विलोम चरित्रों और स्थितियों के बीच तनाव का स्वाभाविक परिणाम है जो यथार्थ की द्विचर संरचना में सहज ही विद्यमान होता है। इसे प्रेमचन्द की 'ठाकुर का कुआँ' या 'सद्गति' के दलित-सवर्ण-युग्म में या 'शतरंज के खिलाड़ी' के पतनोन्मुख सामन्तशाही और आततायी साम्राज्य के बीच उभरे अन्तर्विरोध में ही नहीं बल्कि 'ईदगाह' और 'बूढ़ी काकी' जैसी कहानियों की तरल और मार्मिक संवेदना के रचाव में, अपेक्षाकृत सूक्ष्म स्तर पर निहित अभाव और इच्छापूर्ति के विलोम युग्म के भीतर, भी देखा जा सकता है। 'लन्दन की एक रात' सत्ता की अदृश्य अतिक्रामकत और उसके समक्ष व्यक्ति के निस्सहाय होते जाने की पीड़ा—इन दो विलोम स्थितियों के टकराव से उपजे अन्तर्विरोध की कथा है। नई कहानी और उसके बादके कथा-दौर की अनेक कहानियों में अनुभव-ग्रहण की पद्धति पर द्विचर-युग्म का निर्णायक प्रभाव देखा जा सकता है। नई कहानी में स्त्री-पुरुष द्वन्द्व या गाँव-शहर द्वन्द्व इसकी गवाही देता है। यह द्विचर-युग्म का ही प्रभाव था कि सन् 1960 के बाद के विभिन्न कथा-आन्दोलनों में भारतीय लोकतन्त्र के निर्माणाधीन ढाँचे पर क़ब्ज़ा जमाने की कोशिश करती प्रभुसत्त और उसकी पसरती महत्वाकांक्षाओं के बरअक़्स उसके क़दमों-तले कुचली जा रही नागरिक आकांक्षाओं के द्वन्द्व और उसके अलग-अलग रूपकों में समकालीन वास्तविकता प्रकट हो रही थी। आगे चल कर समान्तर कहानी और जनवादी कहानी में ये रूपक अधिक उत्कट हुए। इनमें शोषक-शोषित या सत्ता-सत्ताहीन का द्वन्द्व मुखर था। इसलिए द्विचर संरचना न सिर्फ़ कहानी के रूपगठन को बल्कि यथार्थ की तार्किक परिणति को भी निर्धारित करती जान पड़ती थी। इस दौर की कहानियों में सामाजिक संघर्ष का जो मुहावरा विकसित हुआ था, साफ देखा जा सकता है कि उसका उद्गम

द्विचर यथार्थ के भीतर विरुद्धों के उत्कट होते टकराव (बाइनरी ऑपोज़िशन) में ही था।

हमारे देश में लोकतांत्रिक समाज के गठन की प्रक्रिया के दौरान उत्पन्न सामाजिक अन्तर्विरोध 1980 के दशक तक ऐसा विकट रूप धारण कर चुके थे कि कहानी-सरीखी यथार्थ-संवेदी विधा उससे अप्रभावित नहीं रह सकती थी। इस दौर के कथा-आन्दोलनों से अलग रह कर युवतर कथाकारों द्वारा लिखी जा रही कहानियों में भी इन अन्तर्विरोधों को 'द्विचर विलोम' के रूप में सक्रिय देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए 1981 में प्रकाशित 'टेपचू' (उदय प्रकाश) और 'भरतनाट्यम' (शिवमूर्ति) जैसी कहानियाँ व्यवस्था के साथ असामंजस्य के अनुभव से गुज़रते कथानायकों की त्रासद नियति का साक्षात्कार उस अन्तर्विरोध के भीतर करती हैं जिसमें एक तरफ उत्पीड़ित मनुष्य है, दूसरी तरफ़ उत्पीड़क व्यवस्था। व्यक्ति बनाम व्यवस्था के इस द्विचर युग्म का आख्यान में प्रसंस्करण करते हुए 'टेपचू' कहानी जहाँ संगठित प्रतिवाद का विकल्प प्रस्तुत करती है, वहीं 'भरतनाट्यम' कहानी व्यवस्था द्वारा व्यक्तिगत प्रतिवाद को आत्मसात कर लिए जाने की नियति की ओर संकेत करती है। दोनों ही कहानियों में, और उस दौर की अनेक कहानियों में, प्रतिवाद एक स्थायी मुद्रा की तरह उभरा था। ज़ाहिर है, प्रतिवाद या विकल्प की सम्भावना बीसवीं सदी के आठवें दशक की सामाजिक वास्तविकता के भीतर स्वयमेव मौजूद थी। कहानियाँ उनकी तरफ़ केवल इशारा कर रही थीं। याद किया जाना चाहिए कि उस दौरान समूचे भारतीय समाज का ढाँचा अँदरूनी खलबलियों के चलते तेज़ी से बदल रहा था। शोषण की प्रक्रिया प्रकट और तीव्र थी। हर तरह की सत्ता का आततायी चरित्र उघर चुका था। शीत कुछ चरम पर था और क्रान्ति का स्वप्न खण्डित नहीं हुआ था। प्रतिरोध, परिवर्तन के लिए छटपटाते समय की पुकार था। वह कला की दुनिया में भी दाख़िल था और कहानी के सौन्दर्य-बोध को प्रभावित कर रहा था। प्रतिरोध द्विचर समय की अनिवार्य माँग बन चुका था और उसके भीतर अन्तर्विरोध के तीव्र हो उठने का परिणाम था। कहने की ज़रूरत नहीं कि वह केवल समसामयिक यथार्थ से नहीं, उसकी द्विचर संरचना से भी उपजा था।

ग़ौर से देखें तो 'क़फ़न' के घीसू-माधव का विद्रोह प्रेमचन्द के समसामयिक जीवन की 'सचाई' की अपेक्षा उसकी एक 'सम्भावना' अधिक है। इसलिए 1980 के दशक के प्रतिरोध की तुलना में 1930 के दशक का यह विद्रोह कथात्मक यथार्थ की द्विचर संरचना में उत्पन्न खलबली का नतीजा अधिक तथा अपने समय की माँग कम प्रतीत होता है। घीसू-माधव चूँकि अपने यथार्थ की सम्भावना है—समाज से उनका बेगानापन और विद्रोह वस्तुतः उनके असहज और तिर्यक चारित्रिक विकास के चलते है—इसलिए वे स्वैरमूलक गल्प-चरित्र हैं प्रातिनिधिक और सामान्य चरित्र नहीं। इसी वजह से वास्तविक जीवन में उनका 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' ढूँढ पाना आसान नहीं इसके विपरीत टेपचू या ज्ञान (भरतनाट्यम कहानी का कथानायक) अपने समय की सचाई से मेल खाते प्रातिनिधिक या प्रारूपिक पात्र हैं इसलिए वे यथार्थपरक चरित्र हैं।

(इसका एक प्रमाण तो यही है कि जिस पत्रिका में 'टेपचू' कहानी छपी थी, उसमें एक पाठकीय प्रतिक्रिया के अनुसार टेपचू से मिलता-जुलता एक वास्तविक पात्र हरियाणा के उस पाठक के गाँव में भी उन दिनों मौजूद था।) 1930 के दशक का गल्पात्मक चरित्र और उसका रोमेंटिक विद्रोह अगर 1980 के दशक के यथार्थपरक चरित्रों और उनकी प्रतिरोध-वृत्ति में विकसित होता है तो यह बदलते हुए समाज की गतिशीलता को ही सूचित नहीं करता बल्कि यह भी प्रमाणित करता है कि प्रतिवाद की गल्प-सम्भावना मूलतः यथार्थ की द्विचर प्रकृति में निहित है।

1980 के दशक में लिखना शुरू करने वाले कथाकारों के लिए निकट परिप्रेक्ष्य की तरह यथार्थ का द्विचर मॉडेल और वृत्तान्त की विवरणात्मक प्रविधि पहले से मौजूद थी। उसका प्रभाव इतना गहरा था कि कुछ अपवादों को छोड़ दें तो ज़्यादातर कथाकारों ने उसे आत्मसात कर लिया। कुछेक ने उस प्रभाव-वृत्त के भीतर रहकर ही रास्ता बनाने की कोशिश की। इस कोशिश में वे सतह से कुछ और भीतर की गहराई में जाने का जतन कर रहे थे या फिर भाषा की सघन लय और अन्तर्वीक्षण की सूक्ष्म दृष्टि से वृत्तान्त को गढ़ते हुए लीक से अलग होने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन द्विचर मॉडेल के प्रभाव से वे मुक्त नहीं हो सके। अपनी विशिष्ट पहचान के प्रति सजग कथाकारों में से एक उदाहरण लें तो कथाकार आनन्द हर्षुल की ही आरम्भिक कहानियों में एक तरफ़ प्रभुता-सम्पन्न और दूसरी तरफ़ विरीह पात्रों के द्विचर संयोजन को लगभग कथा-युक्ति की तरह अपनाया जाना यही साबित करता है कि यह संयोजन उस दौर के कथाकारों के लिए प्रभावी सन्दर्भ की तरह था।

वस्तुतः द्विचर संरचना के दोनों घटकों के बीच निर्मित तनाव और आवेश को छूने के प्रयत्न में कहानी का अभिप्राय झंकृत होता है। इस प्रयत्न में बनने वाली कथा-संरचना प्रायः वृत्तान्तपरक होती है। समान्तर कहानी और जनवादी कहानी ने यह साबित भी किया था। इसलिए 1980 के दशक में कहानी की नई लीक बनाने के लिए वृत्तान्त की नई विधियों की खोज की दरकार थी। इस खोज की छटपटाहट यदि नहीं दिखाई देती तो इसका कारण द्विचर यथार्थ और उसके आधिकारिक शिल्प का सर्वसुलभ और लोकप्रिय होना तो है ही, कथाकारों में रचनात्मक दुस्साहस की कमी होना भी है। 1990 के बाद उदय प्रकाश की कुछ चर्चित कहानियों में जब यह दुस्साहस दिखाई दिया तो न सिर्फ़ उनमें कहानी का वृत्तात्मक रूपगठन भंग हुआ बल्कि यथार्थ का द्विचर मॉडेल भी चरमराता मालूम पड़ा और विखण्डन की अभियांत्रिकी से उसका एक पुनर्गठित रूप सामने आया। उदय प्रकाश ने यथार्थ को उसके समकालीन विन्यास में, और समावेशिता के साथ, पकड़ने की कोशिश की तो वह अनेकाग्र और अपकेन्द्रिक निकला। इसके चलते कहानी गुणात्मक रूप से प्रभावित हुई। वास्तविकता का आख्यान न रह कर अब वह उसका विमर्श बन गई। कहानी की भूमिका और उद्देश्य उदय प्रकाश के यहाँ बदला हुआ है। उनकी कहानियाँ वास्तविकता को प्रस्तुत करने के प्रयत्न में वास्तविकता के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण को व्यक्त करती हैं। इस

वजह से भी वे विमर्शात्मक हैं।

कहानी में यथार्थ के दीगर पैटर्न भी हैं जो द्विचर पैटर्न से अलगा देने या उसे नज़रअन्दाज़ कर देने से बनते हैं। 'उसने कहा था' (गुलेरी), 'शरणागत' (जयशंकर प्रसाद), 'परदा' (यशपाल), 'गैंग्रीन' (अज्ञेय), 'परिन्दे' (निर्मल वर्मा), 'दोपहर का भोजन' (अमरकान्त) और न जाने कितनी ही कहानियों में द्विचर युग्म या तो अनुपस्थित है या धुँधला पड़ गया है। ऐसी कहानियाँ अन्तर्विरोध की रचना-विधि पर आश्रित होने की बजाये वास्तविकता के संवेदनशील और मार्मिक चित्रों का सहारा लेती हैं। इनमें अनपेक्षित और उदात्त चरित्र या प्रसंग होते हैं। फणीश्वर नाथ 'रेणु' की कुछ क्लासिक कहानियों में द्विचर यथार्थ के धुँधला जाने के साथ यह भी देखा जा सकता है कि कहानी रास्ता बदल कर अपनी जड़ों की तरफ़—यथार्थ की देशज बनावट या अनाधुनिक ढाँचे के क़रीब—लौटती जान पड़ती है। 'लाल पान की बेगम' या 'तीसरी क़सम' का भावप्रवण यथार्थ अन्तर्विरोधमूलक नहीं है इसलिए उसमें सत्ता-विमर्श या शक्तियों के टकराव पर आधारित 'बाइनेरी ऑपोज़िशन' नहीं है। उसमें एक शान्त कथात्मक सुर और संवेदनों की मार्मिक छुअन से गति पाती जीवन-स्थितियाँ हैं। वास्तविकता की यह लोक-भंगिमा है। यह रेणु की कहानियों को प्रागाधुनिक भावबोध के नज़दीक ले जाती है। यहाँ टकराव नहीं, समरसता की सहज लय है; अन्तर्विरोध और संघर्ष नहीं, संवेदना का सरस बहाव है; विलोम-युग्म नहीं, सहधर्मिता है। अकारण नहीं कि ये कहानियाँ प्रतिरोध की बजाये मार्मिकता का सौन्दर्य-बोध जगाती हैं। अन्तर्विरोधों की मौजूदगी अगर पश्चिम से आयातित आधुनिक कहानी का प्रमुख लक्षण है तो रेणु की ये कहानियाँ उसे लगभग विरस्त कर, छोटी-छोटी विडम्बनाओं का सहारा लेती हुई लोक-मर्म को पकड़ती हैं और आधुनिक कहानी के देशज संस्करण की पेशकश करती हैं। यूँ देखें तो 'लाल पान की बेगम', 'तीसरी क़सम' या 'ठेस'-जैसी कहानियाँ आधुनिक कहानी के बुनियादी संकल्प—उसकी द्विचर संरचना को ध्वस्त कर ही लिखी जा सकती हैं। उन्हें आंचलिक कहानी या ग्राम-कथा कह देना उनके महत्व को सीमित कर देना है।

द्विचर संरचना पर आधारित कथात्मक ढाँचे का नज़रअन्दाज़ कर वास्तविकता के अन्य प्रारूपों में कहानी सम्भव करने वाले इधर के कुछ कथाकार निश्चय ही नये सौन्दर्यात्मक आयाम उद्घाटित करते और कई स्तरों पर नवाचार का प्रस्ताव करते हैं। पर द्विचर संरचना को नज़रअन्दाज़ करने की क़ीमत वे सामाजिक यथार्थ से चुकाते हैं जो उनकी कहानियों में अपनी तेजस्विता खो कर झीना पड़ गया होता है, या फिर निपट आत्मगत जान पड़ता है। कहीं-कहीं तो सामाजिक यथार्थ के प्रकट रूपों से बचने या उनसे न्यूनतम कलात्मक दूरी बनाये रखने की कोशिश में कथाकार बेतरह चौकन्ना दिखाई देता है। शशांक, प्रियंवद, जयशंकर, सारा राय, नवीन कुमार नैथानी की कुछ कहानियों में यथार्थ के द्विचर मॉडेल के प्रति उदासीनता बेशक अनायास ही होगी लेकिन सामाजिक यथार्थ की मुखर भंगिमाओं से छुटकारा पाने की कोशिश वे

यत्नपूर्वक करते प्रतीत होते हैं। यह भी सम्भव है कि उनके अनुभव के सर्जनात्मक विन्यास में यथार्थ की प्रकट सामाजिकता अँट न पाती हो। यहाँ फिर रेणु की कहानियाँ याद आने लगती हैं जो द्विचर मॉडेल से परहेज करने के बावजूद पूरी एकाग्रता स सामाजिक यथार्थ के भीतर पैठती दिखाई देती हैं और यथार्थ की वाचालता को कलात्मक रूप से संयमित भी करती हैं।

इस सिलसिले में शैलेश मटियानी की कहानियों, उदाहरण के लिए 'अर्द्धांगिनी', का स्मरण किया जा सकता है। 'अर्द्धांगिनी' यूँ तो एक सैनिक के अपने गाँव आने और परिवार के साथ छुट्टियाँ बिता कर लौट जाने की सहज-साधारण घटना पर आधारित कथा है, लेकिन वृत्तान्त की घटनात्मक वास्तविकता को सूक्ष्म कलात्मक विवरणों में पकड़ने के साथ ही वह ग्रामीण समाज में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की बारीक़ियों को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती है। इस कहानी में स्त्री-पुरुष की द्विचर उपस्थिति अन्तर्विरोध पर नहीं, सहधर्मिता पर आधारित है। सहधर्मिता मानों इस कहानी की तार्किक परिणति है जिसे प्राप्त करने के लिए क्रमशः कहानी घटनात्मक विवरणों में अग्रसर होती है। इस प्रक्रिया में द्विचर मॉडेल टूट कर साहचर्य की लय में बह जाता है। यह दाम्पत्य के रागात्मक सौन्दर्य की अद्‌भुत कहानी है। नाटकीयता, अतिरंजना, अन्तर्विरोध या विडम्बना-जैसी कथा-युक्ति का सहारा लिए बिना यह निहायत सादगीपूर्ण शिल्प में विलक्षण कथा-रस सिरजती है। अतिरिक्त कथा-युक्ति के बगैर भी अच्छी कहानी सम्भव है—यह कहानी इसका भरोसा दिलाती है।

यदि 'अर्द्धांगिनी' में कहानी के यथार्थ का रेणु की कहानियों-सरीखा देशज संस्करण झलकता है तो कहना होगा कि कथा-युक्तियों की खोज और उनकी विलक्षणता से पाठक को चकित करने के प्रयत्न पर कहानी के समूचे सर्जनात्मक उद्यम को केन्द्रित करने की बजाये जीवनानुभव की छोटी-छोटी तरंगों को पकड़ने की कोशिश कहीं ज़्यादा सार्थक होगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि पश्चिम से आये जिस यथार्थवाद को हिन्दी मं कहानी विधा की एक प्रमुख शर्त के रूप में अपनाया गया था, उसके कुछ बुनियादी आग्रहों—द्विचर विलोम, अन्तर्विरोध, विडम्बना आदि—को दरकिनार कर देने से कहानी अपनी देशज भूमि के समीप जा सकती है। क़िस्साग़ोई की देशज पद्धति इसमें सहायक होगी। 'अर्द्धांगिनी' एकरैखिक वृत्तान्त के प्रचलित ढाँचे में अनुभव का पसारा फैलाती है लेकिन सूक्ष्म पर्यवेक्षण से उठाये गये ब्यौरों में उसका चमत्कार खिलता है। जीवनानुभव और उसके स्वाभाविक विकास पर एकाग्र दृष्टि यहाँ यथार्थ को उसकी सहज गति में पकड़ती है। इसलिए 'अर्द्धांगिनी' का यथार्थ, सामाजिक वास्तविकता और कलात्मक वास्तविकता, दोनों रूपों में बोधगम्य और विश्वसनीय मालूम पड़ता है।

ग़ौरतलब है कि इधर अनेक कहानियों में अनुभव और पर्यवेक्षण पर भरोसा कम होता दिखाई पड़ता है और यथार्थ के द्विचर मॉडेल पर निर्भरता उत्तरोत्तर बढ़ रही है। ज़्यादा ज़ोर यथार्थ की गोचर मुद्राओं को कहानी के अनुभव में झटपट बदल देने पर

होता है। ऐसे में कथात्मक अनुभव अपनी स्वाभाविक परिणति की बजाये द्विचर मॉडेल के यथार्थ में अपने आप ढलने लगता है। उसके अन्तर्विरोधों और विडम्बनाओं का पकड़ना मुश्किल लगता है, उन्हें गढ़ना आसान। इस प्रकार कहानी गढ़ंत (कॉन्कॉक्शन) बन जाती है। वह अपनी राह कहीं और जाना चाहती है मगर कहानीकार उसे घसीट कर द्विचर यथार्थ के बाड़े में ले आता है। उसे पीट-पीट कर बाड़े में क़ैद रखने की कोशिश करता है। उदय प्रकाश की कहानी 'मोहनदास' ऐसी ही गढ़ंत है। उसका यथार्थ अपनी चालू मुद्रा में है और घटनात्मक वास्तविकताओं के सुनियोजित अम्बार में से सामाजिक अन्तर्विरोध को परचम की तरह निकाल कर लहराता नज़र आता है। व्यवस्था बनाम व्यक्ति का द्विचर विलोम (बाइनेरी ऑपोज़िशन) यहाँ अत्यन्त मुखर है।

सामाजिक अन्तर्विरोध को प्रत्यक्ष करना अगर कहानी का एकमात्र लक्ष्य मान लिया जाये तो यथार्थ के द्विचर मॉडेल पर निर्भर होना स्वाभाविक ही है। पर कहानी अक्सर इसे सुलभ उपाय की तरह अपना तो लेती है, उसके अन्तर्विरोधों को कलात्मक समाहार की तरफ़ पहुँचाने का सहज कौशल नहीं ढूँढ पाती। इसके लिए उसे कुछ बनावटी उपाय करना पड़ता है और गढ़ंत का सहारा लेना पड़ता है। पिछले सालों में लिखी गई अधिकतर लम्बी कहानियों में यह विवशता दिखाई देती है। ये कहानियाँ पूर्व-आकल्पित धारणाओं अथवा विचार-सूत्रों की मदद से लिखी गयी हैं और उनकी व्याख्या या पुष्टि के लिए अनुभव को मनमाने ढंग से गढ़ती हैं। अखिलेश की 'ग्रहण', दूधनाथ सिंह की 'निष्कासन' या वेणुगोपाल की 'अन्ताक्षरी' सहित कई कहानियाँ पिछले कुछ सालों में चर्चित हुई हैं जो द्विचर यथार्थ के अन्तर्विरोधों को अनुभव के जोड़तोड़ या गढ़ंत में सुलझाने की कोशिश करती हैं। दूसरी तरफ़ उदय प्रकाश की कुछ चर्चित कहानियाँ हैं, जो कलात्मक स्तर पर दुस्साहस का जोखिम उठा कर अनुभव के गठन में दिलचस्प खिलवाड़ या तोड़फोड़ करती हैं। इस कोशिश में उदय प्रकाश विचार-सूत्रों की मदद से अनुभव को गढ़तें-बाँधते-सहेजते हुए गढ़ंत रचते हैं। अनुभव खिसक कर छूट न जायें, इसलिए वे विचार की मतबूत गाँठ लगाते हैं और चमकदार पन्नी लगाकर उसे सजाते हैं। इन कहानियों में वृत्तान्त आकर्षक, चमकदार और ख़ासा चामत्कारिक होता है। लेकिन सच यही है कि इन सभी कहानियों में विचार की लाठी से अनुभवों को हकालने का काम लिया गया है। लाठी खा-खा कर द्विचर यथार्थ के भीतर वे दौड़ लगाते रहते हैं, उसकी बाड़ नहीं लाँघ पाते।

यथार्थ के द्विचर-मॉडेल की सर्जनात्मक सम्भावनाओं का दोहन अभी बहुत बाक़ी है। इस प्रयत्न में यदि कहानीकार यथार्थ की नब्ज़ ढूँढने का जतन करे तो पहले उसे अपने अनुभव पर भरोसा करना होगा। कहानी विधा के लिए श्रेयस्कर यही है कि अनुभव के भीतर से उभरते द्विचर यथार्थ को स्वायत्त किया जाये, बजाये इसके कि उसके पूर्व-कल्पित ढाँचे में अनुभव को सँजो दिया जाये।

औसत का अतिचार

अपने समय पर एकटक निगाह रखना कहानी-जैसी विधा के लिए अब प्रायः अनिवार्य मान लिया गया है। इसलिए आज की कहानी से अगर कोई शिकायत करे कि वह प्रेम, घृणा, सौन्दर्य-सरीखी सार्वकालिक मानवीय संवेदनाओं और उनके बीच से उभरती नियति की पेंच पर उँगली रखने से कतराती है तो इस शिकायत को यह कह कर टाल दिया जायेगा कि ऐन आँखों के सामने गुज़रते समय से छुटकारा पायें तो सनातन मानवीय प्रवृत्तियों पर लिखें। कहानी की नियति यही है कि वह समय से घिरे होने के अहसास में लिखी जाये।

समय गोचर वास्तविकताओं के साथ प्रकट है। कहानीकार उन्हें अपने सामने देखता है और उन्हें ताबड़तोड़ समेटने में जुट जाता है। घटनात्मक वास्तविकता के प्रत्यक्ष रूपों से घिर कर वह समय से घिरे होने का बोध प्राप्त करता है लेकिन भूल गया है कि यथार्थ की कई भीतरी तहें हैं। समय उनमें से भी रिस रहा है। यथार्थ की ऊपरी सतह ऐसी मायामंडित है कि समय का समूचा सच उस पर फैला नज़र आता है और सतह के भीतर की तहों में जाने की ज़रूरत ही महसूस नहीं होती।

सतह की गोचर वास्तविकताएँ जनजानी-अनोखी नहीं हैं। इसलिए कहानियाँ पढ़ते हुए अक्सर हमारा समय और उसका यथार्थ सुपरिचित मुद्राओं में प्रकट हुआ दीखता है। ये जानी-पहचानी मुद्राएँ कोई कुतूहल या उत्तेजना उत्पन्न नहीं करतीं। ऐसी कहानियों को पढ़ना एक ठण्डा और उद्वेगहीन अभ्यास हुआ करता है। उनसे कुछ-कुछ वैसी ही निर्विकार प्रतिक्रिया उपजती है, जैसी कि किसी सुपरिचित व्यक्ति से किसी के द्वारा मिलवाये जाने पर होती है।

तो क्या कहानी ऐसी होनी चाहिए जो पाठक को किंचित अपरिचय के कुहासे में खींच ले जाये? क्या यथार्थ अपने प्रत्यक्ष और उसकी प्रतीति के बीच की गोधूलि में प्रकट हो कर कहानी की काया धरता है और झीने पड़ते उजाले में अपनी पहचान के लिए उत्सुकता और असमंजस जगा कर कलात्मक सौन्दर्य प्राप्त करता है? अगर यह सच है तो ग़ौर किया जाना चाहिए कि कहानी के 'पारभासी' के भीतर से उसका 'वास्तविक' किस तरह झलकता है।

कहानी का 'प्रत्यक्ष' वही है जो चारों तरफ़ है—गोचर यथार्थ, जिसे एक नज़र में पहचाना जा सकता है। उसकी खोज में कथाकार जिधर निगाह डालता है, कहानी मिल जाती है। समय की ऊपरी हलचल से बनने वाला यह सामान्य, सुपरिचित, प्रायः

दैनंदिन यथार्थ है—औसत अनुभवों से निर्मित औसत यथार्थ, जो भूमण्डलीकरण, उपभोक्तावाद, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रवाद, अस्मितावाद, बाज़ारवाद और न जाने किन-किन संज्ञाओं में समाज और मनुष्य को घेरे हुए है। उसकी प्रत्यक्ष उपस्थिति सर्वत्र सुपरिचित है—अपने सर्वथा औसत रूप और चरित्र में, वास्तविक जीवन में भी और कहानी में भी। वास्तविक जीवन में वह सामाजिक आचरण को नियंत्रित और रूपायित करता है। कहानी उसके साक्ष्य जुटाती है। तो क्या कथा-कर्म का उद्देश्य औसत यथार्थ के साक्ष्य एकत्र करना-भर रह गया है? अचरज नहीं कि इधर कुछ ऐसा ही होता दिखाई देता है। कहानी का मौजूदा परिदृश्य औसत के अतिचार से आक्रान्त है।

औसत के बरअक्स अपूर्व, विलक्षण, असाधारण, अनहोनी या अविश्वसनीय की मौजूदगी से कहानी में ताज़गी, कुतूहल या हैरानी पैदा करने का गुण विकसित होना लाज़िमी है। यह कहानी में सौन्दर्य-मूल्य सिरजता है। ऐसा न हो, तब भी 'औसत' या 'सुपरिचित कुछ दबे-ढँके कोने-अँतरे ज़रूर होने चाहिए जिनके प्रकट होने पर कहानी में कुछ अलभ्य-अचीन्हा हासिल कर लेने का सुख और औत्सुक्य मिले। यह भी अब धीरे-धीरे दुर्लभ होता जा रहा है।

दरअसल कहानी में होता वही है जो जीवन में है। कहानी के आधुनिक चाल-चलन और यथार्थवादी पद्धति से उसके सृजन का बुनियादी तर्क जीवन से उसका जुड़ाव है। इसलिए अगर रोज़मर्रा के जाने-पहचाने अनुभव या जीवन की सतह पर प्रकट हुई सचाई में वह अपनी जड़ें फैलाती है तो भला इसमें क्या ऐतराज़ हो सकता है?

अगर समाज में हिंसा, फ़रेब, नफ़रत, वहशीपन, दुराचार और चालाकी बढ़ रही है, रिश्तों में दरारें पैदा हो रही हैं, सामाजिक मूल्य नष्ट हो रहे हैं, ग़ैर-बराबरी की खाई फैलने लगी है, कमज़ोर आदमी के जीवन-स्रोत सूखने लगे हैं, ताक़त का बोलबाला है, जीने की लड़ाई कठिन होती जा रही है, पूँजी-तकनीक-बाज़ार का संयुक्त दैत्य-अभियान चरम पर है, पाशविक भोगवाद ने मानवीय संवेदनाओं को चर डाला है तो इसे आख़िर कौन झुठला सकता है कि यह आज की खरी सचाई है। हमारे जीवन की सतह पर इस सचाई के प्रकट रूप वे अनुभव हैं जिनका रोज़मर्रापन उन्हें सुपरिचित या औसत यथार्थ में तब्दील करता है। अगर कहानी उन अनुभवों से ही बनती है तो पूछा जा सकता है कि इसमें अचरज कैसा? यही तो हमारा दैनिक यथार्थ है, हम जिसके आदी हैं।

लेकिन यथार्थ कोई सुपरिभाषित, सर्वनिष्ठ और वस्तुपरक चीज़ नहीं है कि परिस्थिति और परिप्रेक्ष्य के अनुसार उसका रूप-गुण-स्वभाव और चरित्र न बदलता हो। इसलिए दो व्यक्तियों का अनुभव एक जैसा नहीं होता। उसमें विशिष्टता या आत्मपरकता होती है। लेकिन अनुभव का एक ऊपरी आवरण होता है, उसका एक प्रकट-प्रत्यक्ष रूप जो प्रायः सामान्य या औसत रूप में सबसे रूबरू होता है। उसके

पीछे यथार्थ की अँदरूनी-अगोचर हलचलें होती हैं। ये हलचलें पकड़ में न आयें तब भी अगर औसत यथार्थ को ज़रा अलग ढंग से देखने और नये सिरे से रचने की कोशिश की जाये तो वह एक नई रोशनी में, दृष्टि की एक नई कौंध में जगमगा उठता है। देखने के एक नये ढंग में जानी-पहचानी वास्तविकता भी नई या अनोखी जान पड़ती है। यही कहानी की अन्तर्दृष्टि और उसकी सौन्दर्य-विधि है। वह सुपरिचित को किंचित अपरिचित बना कर देखने की कला है—औसत को अनूठे-असाधारण में तब्दील करने का विस्मयजनक खेल।

सामाजिक अनुभव के रोज़मर्रापन को छाँट कर कहानी की अन्तर्दृष्टि उसके एक पहलू को छूती है और उसे इस प्रकार आलोकित कर देती है कि वह कुछ और ही नज़र आता है। दैनंदिन या अभ्यासगम्य वास्तविकता यदि ऐसी ही विशिष्ट-विलक्षण मालूम पड़े तभी वह कहानी की वास्तविकता होगी। वरना राज़मर्रा की सचाई से अलग वह कलात्मक सचाई कैसे बन सकेगी? तात्पर्य यह है कि जानी-पहचानी वास्तविकता को प्रस्तुति का ख़ास तरीक़ा विशिष्ट बनाता है। हम उसे एक नई सौन्दर्यात्मक अर्थवत्ता में प्रकट होते देखते हैं और किंचित विस्मय से भर उठते हैं। कहानी दरअसल यथार्थ नहीं, यथार्थ की विशिष्ट भंगिमा है।

इसे समझने के लिए, उदाहरण के तौर पर, विकास के नाम पर आबादी के विस्थापन की त्रासदियों पर नज़र डालें तो देश को आज़ादी मिलने के बाद से लेकर हाल-हाल के टिहरी या हरसूद तक एक लम्बी शृंखला दिखाई देती है। इन त्रासदियों के अख़बारी वृत्तान्तों में लाखों विस्थापितों की पीड़ा और आक्रोश की तथ्यपरक अभिव्यक्ति हुई है। बड़े बाँधों के ख़िलाफ़ जन-आन्दोलनों, अख़बारी रपटों, औपन्यासिक आख्यानों में विस्थापन के सामाजिक-सांस्कृतिक-पर्यावरणीय-जनांकिकीय पहलुओं को लेकर एक विशद चित्र निर्मित हुआ है। सामाजिक कार्यकर्ताओं, आन्दोलनकारियों, भुक्त भोगियों, समाज वैज्ञानिकों, स्वयंसेवी संगठनों, पत्रकारों की समवेत अभिव्यक्तियों से बना यह चित्र विस्थापन के उस यथार्थ को रूपायित करता है जो हमारा जाना-पहचाना है और हमारी नागरिक चेतना में औसत रूप से बसा हुआ है। विस्थापन का ज़िक्र होते ही औसत यथार्थ की सुपरिचित बिम्ब-शृंखला उभर आती है—विशाल बाँध, नदी-किनारे गाँवों से खदेड़ी जा रही जनता, विस्थापितों का उजड़ता काफ़िला, उजाड़ बस्तियाँ, ढोर-डांगर, आँगन, चबूतरा, गोठान, देवालय में पसरा सूनापन जो विस्थापितों की आँखों में उतर आया हो, विस्थापित आबादी की बदली हुई मनोसांस्कृतिक स्थितियाँ, उसकी बदहाली, आक्रोश और संघर्ष आदि। वीरेन्द्र जैन के चर्चित उपन्यास 'डूब' में विस्थापन की विभीषिका कमोबेश इसी क़िस्म की बिम्ब-शृंखला में, अद्‌भुत प्रामाणिकता और मार्मिकता के साथ व्यक्त हुई है। यह उपन्यास विकास के नृविज्ञान और उसकी नृशंस महत्वाकांक्षाओं की सत्यगाथा है। विस्थापन का सामान्य मानचित्र ऐसे ही आख्यानों से निर्मित हुआ है।

विस्थापन की इस त्रासदी को पूरन हार्डी की कहानी 'बुड़ान' भी व्यक्त करती है।

(संयोगवश छत्तीसगढ़ी में बुड़ान का अर्थ डूब ही है।) 'डूब' उपन्यास इसे औपन्यासिक वृत्तान्त के यथार्थवादी ढाँचे में चित्रित करता है जो उसकी अनिवार्य विधागत माँग है। दूसरी ओर 'बुड़ान' कहानी विस्थापन की तथ्यात्मकता और वस्तुपरकता से कतरा कर उसकी सचाई को एक अलग कोण से देखती है। उसे औसत अनुभव या जानी-पहचानी वास्तविकता की तरह नहीं, एक विशिष्ट अनुभव की तरह पकड़ती है। अगर उसे विस्थापन के ब्यौरेवार और वृत्तात्मक वर्णन के रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया जाता तो 'बुड़ान' औसत यथार्थ पर निर्भर रचना ठहरती। इसकी बजाये वह एक अप्रत्याशित जगह से विस्थापन के सच को देखने की कोशिश करती है। विस्थापन के सामान्य वृत्तान्त में जहाँ विकास और विस्थापन के समाजशास्त्र और उसमें निहित राजनीति के चलते विकसित हुई समझ के सहारे रची गई एक प्रत्याशित चित्रावली हुआ करती है या हो सकती है, वहीं 'बुड़ान' नागरिक चेतना में पैठ चुकी इस औसत समझ से परे जा कर विस्थापन को लोकसुलभ सहजबोध के साथ देखती है। औसत यथार्थ वस्तुतः शिक्षा-तंत्र, प्रचार-माध्यम और सामाजिक प्रशिक्षण के दायरे में अनुभवों की कंडिशनिंग का नतीजा है। यह उपन्यास के अनुकूल है, क्योंकि उपन्यास आधुनिक ज्ञानानुशासनों के साथ-साथ विकसित हुआ एक अधुनातन कला-रूप है, लेकिन कहानी अपनी लम्बी परम्परा और स्मृतियों से पूरी तरह मुक्त हो कर, गोचर यथार्थ और उसके औसत रूपों तक सीमित न रहकर, यदा-कदा रोमेंटिक दुस्साहस के साथ यथार्थ के नये इलाक़े में जाने की कोशिश करती है। 'बुड़ान' में यह कोशिश दिखाई देती है।

'बुड़ान' में विस्थापन का बिलकुल अपरिचित दृश्य है। यह उजड़ते गाँव का जाना-पहचाना दृश्य नहीं, उजड़ कर डूब चुके गाँव को पानी के भीतर टटोल कर उसे स्मृतियों में फिर से पाने और फिर खो देने की मार्मिक विडम्बना की कथा है। (डूबे हुए गाँव को फिर से देखने की कोशिश क्या अप्रत्याशित और दुस्साहसिक नहीं लगती? सच कहा जाये तो यह कोशिश अविश्वसनीय भी लगती है जो गन्नू और चोंई अपनी मौज में करते हैं, लेकिन वह असम्भव लगती कोशिश नहीं है। यूँ भी कहानी का यथार्थवाद अविश्वसनीय में विश्वास पैदा करने की प्रतिश्रुति का उल्लंघन नहीं करता।) वस्तुतः 'बुड़ान' में चित्रित विडम्बना एक अप्रशिक्षित कथा-सर्जक के अकृत्रिम अनुभव-संसार में से उपजी है। इसे वह अपनी सहज अन्तर्दृष्टि से देख पाता है। विस्थापन के सैकड़ों वृत्तात्मक ब्यौरों के बीच गन्नू और चोंई की दुस्साहसिकता, वर्जनाहीनता, मनमौजीपन और दुर्लभ क़िस्म की विनोद-वृत्ति से निर्मित यह 'पिकारेस्क' कथा अलग से पहचानी जायेगी। यह वास्तविकता को ऊपर से नहीं, भीतर से देखने का सुफल है। अनुभव का यह अचीन्हा इलाक़ा है, जिसमें कोई रचनाकार बग़ैर रचनात्मक इंस्टिंक्ट के क़दम नहीं रख सकता। हमारी नागरिक चेतना में पैठा हुआ विस्थापन का सुपरिचित बिम्ब यहाँ बिखर जाता है। कहानी विस्मय और अपरिचय के धरातल पर नये सिरे से उसे सँजोती हे। यह बिलकुल नया ही बिम्ब है, जानी-पहचानी वास्तविकता की सर्वथा नई भंगिमा। अख़बारी या औपन्यासिक वृत्तान्तों या जनसंघर्षों द्वारा प्रस्तुत वास्तविकता

यहाँ रद्द नहीं हो जाती। कहानी में उसकी अत्यन्त संवेदनशील अपूर्ण मुद्रा प्रकट होती है। उपन्यास, रपट या किसी और माध्यम में यथार्थ की यह मुद्रा सम्भव नहीं है, क्योंकि यह गोचर वास्तविकता की सपाट सतह पर नहीं, कल्पना के विरल इलाक़े में साकार हुई है। इसमें औसत या सामान्य अनुभव की बजाय विशिष्ट-विलक्षण अनुभव की झलक मिलती है। विस्थापन की वास्तविकता वही है लेकिन उसे देखने की जगह और कोण बदल गये हैं। वह नागरिक-परिप्रेक्ष्य से नहीं, किंचित् लोक-परिप्रेक्ष्य से देखी गई वास्तविकता है। परिप्रेक्ष्य बदल जाने से अनुभव में मार्मिकता और तीव्रता—एक अनूठी दीप्ति—सहज ही आ गई है।

औसत वास्तविकता से साक्षात्कार का अर्थ है, जाने हुए को फिर से, और प्रायः उसी रूप में जानना। इसी मायने में वह सुपरिचित वास्तविकता होती है। वह आसपास की दुनिया के सामान्य अनुभवों, मीडिया-रपटों और सूचनाओं से निर्मित बोध में चरितार्थ होती है। लेकिन 'बुड़ान' कहानीमें गन्नू और चोंई द्वारा अपनी सुपरिचित दुनिया को ढूँढने के क्रम में पाठक को जिस वास्तविकता का साक्षात्कार होता है उसका अनुभव न गन्नू-चोंई के लिए जाना पहचाना है, न पाठक के लिए। गन्नू-चोंई के लिए निस्संदेह एक त्रासद अनुभव है जिसे वे निस्संग भाव से, लोकसुलभ सहजता के साथ टकराते हैं और अपनी जिजीविषा को सहेजते हैं। पाठक के लिए यह विस्थापन के यथार्थ का सर्वथा अपरिचित-अप्रत्याशित पहलू है जो विस्मयजनक और मार्मिक ढंग से उसके सामने आता है।

फ्रैंक ओ'कोन्नोर होते तो कहते कि यथार्थ के इस पहलू को सिर्फ़ कहानी प्रकाशित कर सकती है, उपन्यास या रपट नहीं। गोगोल की विख्यात कहानी 'ओवर कोट' को केन्द्र में रख कर कहानी के विधागत स्वभाव की व्याख्या करते हुए ओ'कोन्नोर ने उसके नायक अकाके अकाकेविच के बेतुके, हास्यास्पद और निहायत ही मामूली चरित्र के वैशिष्ट्य को रेखांकित किया है और कहा है कि 'उसे आधार बना कर उपन्यास लिखना वैसे ही है जैसे टॉमी टापकिन्स नामक उस बच्चे पर उपन्यास लिखना जिसका पैसा नाली में गिर गया था।' इस चरित्र की साधारणता में असाधारणता ऐसी प्रबल है कि वह ओ'कोन्नोर की राय में कहानी के अलावा किसी और विधा में अँट नहीं सकता। ओ'कोन्नोर कहते हैं कि कहानी के पात्र सामान्य से अलग होते हैं इसलिए उनके साथ पाठक का तादात्म्य नहीं हो पाता, फिर भी उनकी जीवन्तता चकित करती है। इस दृष्टि से विचार करें तो गन्नू और चोंई भी अत्यन्त साधारण किन्तु विरल और असाधारण चरित्र हैं और पाठक उनके साथ तादात्म्य क़ायम नहीं कर सकता, न ही किसी वास्तविक चरित्र से उसे आइडेंटिफ़ाई किया जा सकता है, जैसे कि आज की कहानी के दलित-स्त्री पात्र किसी वास्तविक प्रतिरूप से या किसान-मजदूर-पूँजीपति-अफ़सर आदि पात्र अपने ही जैसे सचमुच के चरित्रों से पहचाने जा सकते हैं। गन्नू-चोंई का अनुभव एक मध्यवर्गीय पाठक का अनुभव नहीं हो सकता इसलिए अपनी विलक्षणता से वह अभिभूत करता है। ज़ाहिर है, यह कहानी के

विधागत स्वभाव से मेल खाता अनुभव है। यह पाठक को अपरिचय के कुहासे में विस्मित छोड़ देता है। यह जाने हुए को थोड़े नये ढंग से जानना है। इस क़िस्म के अनुभव के क़रीब पहुँच कर कहानी औसत वास्तविकता के अतिचार से मुक्त होती है। यह ऐसा अनुभव है जा सिर्फ़ कहानी के रूपाकार में व्यक्त हो सकता है। उसका सच कहानी का अपना सच है।

गन्नू और चोंई हांडियों की नाव पर चढ़कर जिस नॉस्टेल्जिया में उतरते हैं और उसमें अपने अतीत के अन्तर्द्वन्द्वों को जिस वर्जनामुक्त ढंग से स्मरण करते हैं, क्या उसकी पद्धति अनौपन्यासिक होने के साथ-साथ काव्यात्मक नहीं प्रतीत होती? उनकी निस्संग तटस्थता में छिपी त्रासद स्मृतियाँ क्या उन्हें कॉमिक कार्रवाइयों के लिए प्रेरित नहीं करतीं? यह विचार ही अपने-आप में कितना काव्यात्मक है कि कोई अपने डूबे हुए गाँव को, उसके इतिहास-भूगोल को टटोलने लबालब जल में उतर पड़े और उसमें अपने अतीत को छू-छू कर रोमांचित-आह्लादित हो? निर्मल वर्मा ने जिसे 'दुर्लभ चमत्कार' कहा है, कि कोई 'कहानी अपनी संरचना में काव्यात्मक हो किन्तु उद्देश्य में कथ्यात्मक', उसे 'बुड़ान' विलक्षण ढंग से चरितार्थ करने वाली कहानी है। वह उपन्यास की तरह विस्थापन के यथार्थ को इतिहास की सतह पर फैला नहीं देती, न ही उससे उपजी संवेदना को कविता की तरह 'शब्दों के स्वायत्त तंत्र' में सँजोने की कोशिश करती है। निर्मल वर्मा के ही शब्दों में कहा जाये तो वह 'उपन्यास और कविता के बीच की जगह को समेटती है' और इस प्रयत्न में अपनी विधागत सार्थकता को अर्जित करती है।

ज़ाहिर है, औसत या सामान्य अनुभव उपन्यास में तो खप सकते हैं, कहानी में नहीं। कहानी में उन्हें खपाने की कोशिश खुद कहानी को औसत या सामान्य बना देती है। कहानी सामान्य अनुभव के विशिष्ट पहलू की खोज करती है। इस प्रयत्न में औसत यथार्थ को रूपान्तरित या अनुकूलित करती है। अगर कहानी ऐसा न कर पाये तो उसे औसत यथार्थ—जो दरअसल यथार्थ को लेकर रचनाकार की औसत समझ का ही नतीजा है—पर निर्भर रहना पड़ता है। इस निर्भरता के चलते आसपास की वास्तविकताएँ, अपने औसत स्वरूप में, वृत्तात्मक विस्तार के साथ फैली दिखाई देती हैं। सम्प्रदायवाद को दंगों के विवरणों में, उपभोगवाद को वस्तुओं के प्रति मध्यवर्गीय ललक के चित्रण में, शोषण को क्रूर सामन्ती चरित्रोंके बीच किसान-मज़दूर की निरीह उपस्थिति में समेट कर देखने का रिवाज़ इसी औसत समझ का नतीजा है। इसी के चलते जातिवाद की जटिलता को दलित पात्र की प्रताड़ना में सरलीकृत कर कहानियाँ लिखी जा रही हैं। अचरज नहीं कि औसत समझ के सहारे चित्रित वास्तविकता के साथ औसत स्टीरिओटाइप चरित्र जन्म लेते हैं।

कहने की ज़रूरत नहीं कि औसत यथार्थ पर कहानी की बढ़ती निर्भरता का प्रमुख कारण सर्जक कल्पना और कथादृष्टि की अल्पता या अभाव तो है ही उस सर्जक साहस की कमी भी है जो कथाकार को नये-नये प्रदेशों की जोखिम-भरी यात्राओं के

लिए प्रेरित करता है। दूसरे, शिक्षा-संस्कृति के मौजूदा परिवेश में प्रशिक्षित कथाकार की मनोरचना (माइंड-सेट) उसे अपनी दुनिया और उसमें अपने अनुभव को ख़ास ढंग से देखने को बाध्य करती है। वह अनुभव की नैसर्गिक गति को नज़रअन्दाज़ करती है। दरअसल औसत और प्रत्यक्ष वास्तविकता की नैसर्गिक वृत्तात्मक गति और उसका स्वभाव घटनात्मक (इसलिए औपन्यासिक) होता है। लेकिन उसे कहानी में नापने की कोशिश की जाती है। औपन्यासिक स्वभाव का यथार्थ कहानी की काया में ठूँस दिया जाता है। (वृत्तात्मक गठन की अनेक कहानियों में यह दिखाई देता है) इससे यथार्थ की स्वभावगत औपन्यासिकता और सर्जक कल्पना की स्वभावगत काव्यात्मकता के बीच अन्तराल बढ़ जाता है। दोनों के बीच सूत्र टूट जाने से यथार्थ कल्पना से अर्थात् औपन्यासिकता काव्यात्मकता से विच्छिन्न हो उठती है। कहानी यथार्थ में समा जाती है। कितना अजीब है कि कहानी के नाम पर चारों तरफ़ यथार्थ का मलबा बिखरा पड़ा है। औसत समझ से गढ़े यथार्थ का मलबा।

क्या ऐसा नहीं लगता कि गन्नू और चोंई का यथार्थ इस मलबे से अलग दिखाई दे रहा है?

रूपक में कायान्तर

किसी भी विधा का रूप, गुण और चरित्र हमेशा एक-सा नहीं होता। उसमें बदलाव होता रहता है। अगर वह बदलने से इन्कार करती है, या बदलते ज़माने की सचाइयों से मुँह चुराती है तो हाशिये पर चली जाती है, जैसे कि महाकाव्य समाज में हो रहे आधुनिक बदलाव का सामना न कर सका और अप्रासंगिक हो गया। कहानी ने आधुनिक देह में अवतरित होकर अपनी सार्थकता साबित करने के लिए गुण-धर्म और स्वभाव से अपने को इतना बदल डाला था कि पुरानी कहानी की आत्मा को छोड़ उसका सब-कुछ नया था। नई काया में वह जीवन की ठोस वास्तविकताओं को सुगम और संश्लिष्ट तरीक़े से सँजोने की कोशिश में स्वयं एक सुडौल विधा बन गई। उसके भीतर एक पका हुआ यथार्थ था जो संवेदना की धीमी आँच में एक ख़ास स्वाद-गन्ध पैदा करता था। यह उसका कहानीपन था—उसका ख़ास गुणधर्म।

पुरानी कहानी अपने स्वभाव में निहित स्वच्छन्द कल्पनाशीलता का भरपूर इस्तेमाल करती थी और लगातार अपने को बदलती रहती थी। कभी वह परी-कथा बन जाती, कभी रूपक, कभी बोध-कथा या दृष्टान्त या आख्यायिका। महाकाव्य में, पुराण में न जाने कितनी कहानियाँ एक-के-भीतर-एक घुस पड़ी थीं। कहानी एक नहीं अनेक रूप-छवियों में प्रकट होती थी। लेकिन इस कल्पनाजीवी विधा को जैसे ही आधुनिक समय के यथार्थ-बोध का डंक लगा, वह सुध-बुध खो बैठी और एक आधुनिक विधा के आत्मबोध में अपने को समेट लेने पर विवश हुई। अपनी मर्ज़ी से कई-कई रूप धारण करने में समर्थ यह विधा अपनी रोमेंटिक स्वतन्त्रता गँवा कर लगभग एक क्लासिकल देहयष्टि में समा गई थी।

लेकिन कल्पनाजीविता और रोमेंटिक स्वतन्त्रता को किसी हद तक फिर से हासिल करने की हसरत अब भी बची थी। आधुनिक कहानियाँ इसी हसरत में लिखी गईं। अपनी पूर्व रूप-छवियों में वे समा नहीं सकती थीं इसलिए उनकी छाया को छूकर या उनकी स्मृतियों में डूब कर कुछ कहानियाँ अब अपनी यह हसरत पूरी करने की कोशिश करती दीखती हैं। ऐसी कहानियाँ लोककथा (राजा निरबंसिया), रूपक (पक्षी और दीमक), ऐतिहासिक रोमांस (आकाशदीप), फैंटेसी (लाक्षागृह) को शिल्पगत युक्ति के रूप में अपनाती हैं। पूर्व-आधुनिक युग के ये कथा-रूप शायद इसी तरह से अनुकूलित होकर आधुनिक कहानी में लौटते हैं। मगर जब भी वे लौटते हैं, किसी-न-किसी तरह वे कहानी की पुरानी स्वच्छन्द स्मृतियाँ जगाते हैं।

स्मृतियों में लौटना किसे पसन्द न होगा। कला भी स्मृतियों में जाती है—मनुष्य

की स्मृतियों में ही नहीं, खुद अपनी स्मृतियों में। कहानी अपनी बीती हुई देह-छवियों को अपनी स्मृतियों में निहारती है। ऐसे आत्ममुग्ध क्षणों में कहानी की चरम आकांक्षा शायद यही होती हो कि वह फिर से लोककथा, नीति-कथा, आख्यायिका, रूपक या फैंटेसी बन जाये। वह जानती है कि आधुनिक जीवन का यथार्थ उसकी यह आकांक्षा कभी पूरी नहीं होने देगा। वह कसमसाती है और अपनी विधागत सीमाओं को तोड़ने की चेष्टा करती है। इस चेष्टा में वह कुछ और भले न बन पाये, कभी-कभी रूपक की लय अवश्य प्राप्त कर लेती है।

प्रियंवद की कहानी 'बहुरुपिया' में रूपक की लय पाने की यह आकांक्षा देखी जा सकती है। इसका केन्द्रीय चरित्र एक बूढ़ा लाइब्रेरियन है जिसने एक दिन किताबों की आलमारी के पीछे दीवार पर कत्थई रंग की आड़ी-तिरछी रेखाएँ खिंची देखीं और भय और आशंका से सिहर उठा। ये दीमकों का हमला था। उसने पाया लाइब्रेरी की इमारत की नींव पर दीमकों की बस्तियाँ बस रही हैं। अगर समय रहते उपचार न किया गया तो पूरी नींव को खोखला कर देंगी। क़िताबें नष्ट हो जायेंगी। क़िताबें जो मनुष्य होने का गौरव, सभ्यता के डूबते जहाज़ों का आख़िरी प्रकाश-स्तम्भ हैं—अंधेरे के ख़िलाफ़ आख़िरी चीख़। वे नहीं बचेंगी तो सब-कुछ नष्ट हो जायेगा। बूढ़ा लाइब्रेरियन उन्हें बचाने की कोशिश में जी जान से जुट गया।

उसने ज़िले के डी॰ एम॰ से मुलाकात की। दीमकों के उपचार और लायब्रेरी की दीगर ज़रूरतों के लिए अर्ज़ी दी। डी॰ एम॰ को पढ़ा-लिखा-समझदार जान उसने प्राचीन बेबीलोन, अलेक्ज़ेंड्रिया, यूनान, विक्रमशिला, नालंदा, कुस्तुनतुनिया के महान ग्रंथालयों के हवाले दिये; उन्हें नष्ट करने और बचाने की कोशिशों की मिसालें रखीं। गुज़ारिश की कि डी॰ एम॰ साहब लारब्रेरी को और दुर्लभ क़िताबों को बचा लें। साहब ने सहानुभूति जताई और आश्वस्त किया।

बूढ़े लाइब्रेरियन पर जैसे जुनून सवार था। लाइब्रेरी की फ़िक्र में वह असामान्य हरकतें करता। रातों की नींद कम होने लगी थी। नींद में वह बड़बड़ाता था। गहरी-गहरी साँसें लेता। हमेशा बेचैन रहा करता। दो हफ़्ते बाद उसे डी॰ एम॰ के पत्र द्वारा लाइब्रेरी के निरीक्षण के लिए एम॰ एल॰ ए॰ के आने की सूचना मिली। हिदायत थी कि उन्हें सारी समस्या समझा दी जाये। उनके स्वीकृत करते ही फ़ौरन रुपये मिल जायेंगे।

नियत दिन लम्बे इन्तज़ार के बाद एम॰ एल॰ ए॰ अपने सचिव और एक पिस्तौलधारी के साथ पहुँचा। अशिक्षा, क्रूरता और असभ्यता उन सबके हावभाव से टपक रही थी। उनकी हरकतों से भी प्रकट हो रही थी। एम॰ एल॰ ए॰ हैरान था कि लाइब्रेरी के सदस्य नई क़िताबें माँग रहे हैं जबकि पुरानी किताबें उन्होंने पढ़ी नहीं हैं। दीमक-उपचार के लिए तीस हज़ार रुपये का ख़र्च सुनकर उसकी आँखें फैल गईं। उसने रुपये मंज़ूर करने से मना कर दिया। कहा कि घरों में जैसे धूप दिखा कर या दवा छिड़क कर दीमकों को साफ़ किया जाता है, वैसे ही किया जाये। उसने सदस्यता शुल्क बढ़ाने की भी बात कही। उसे लाइब्रेरी पर पैसा ख़र्च करने की बजाये ग़रीब

बच्चों की पढ़ाई, विधवा आश्रम, शौचालय बनवाने, चौराहों पर मूर्तियाँ लगवाने, विदेशों में नौटंकी-दल भेजने के लिए अनुदान देना ज़्यादा ज़रूरी लग रहा था। उसके उद्‌गार थे—'ये पढ़ने वाले समाज को, हमें क्या देते हैं? सब साले रोज़ नये सवाल करते हैं...जीना हराम किये रहते हैं...हर बात की जड़ खोदते हैं...गुलाम बनने से इन्कार करते हैं। हमारे चाबुक पकड़ लेते हैं। रौंद देना चाहिए इन सबको।'उसकी आँखें घृणा और क्रोध से जलने लगी थीं। चेहरा वीभत्स हो गया था। थोड़ी देर बाद सामान्य हो जाने के बाद उसने रजिस्टर पर संस्तुति लिखी कि लाइब्रेरी की दीवारों पर महापुरुषों की तस्वीरें और उनके अमर वचन लिखे जायें। मगर जब बूढ़े लाइब्रेरियन ने दीमक की याद दिलाई तो बुरी तरह बिगड़ उठा।

कहानी के अन्तिम दृश्य में अचानक एक छोटा लड़का काउंटर से दौड़ता आया और पिस्तौलधारी की कमीज़ से लटकी पिस्तौल को खिलौना समझ कर उसने पकड़ लिया। पिस्तौलधारी चीख़ा और बौखला कर उसने पूरी ताक़त से लड़के पर हाथ चला दिया। लड़का चीख़ कर रोने लगा। उसकी माँ दहशत में उसे देख रही थी। एम॰ एल॰ ए॰ जा चुका था। लाइब्रेरियन हतप्रभ और अवसन्न था।

एक नज़र में यह कहानी सत्तासीन वर्ग की क्रूरता और उसके नैतिक फूहड़पन का आख्यान जान पड़ती है। नौकरशाही की उदासीनता और शासकों की उपेक्षा के चलते ज्ञान और शिक्षा के केन्द्रों के विघटन, उनकी रक्षा के लिए सन्नद्ध प्रयत्नों की व्यर्थता, सत्ता की असंवेदनशीलता और लक्ष्यहीनता, दीर्घकालीन सामाजिक हितों की अपेक्षा तात्कालिक स्वार्थ के लिए शक्ति के इस्तेमाल-जैसे मुद्‌दों पर यह ध्यान खींचती है। यह लोकतांत्रिक राजनीति की उस विडम्बना को भी उजागर करती है जिसके चलते वर्चस्व के केन्द्र में बैठा यथास्थितिवाद जन-शिक्षा और उससे प्रेरित राजनैतिक चेतना के उभार के कारण, अपने पक्ष में झुके शक्ति-संतुलन के गड़बड़ा जाने की आशंका से भर उठता है। ज्ञान के केन्द्रों का खोखला हो जाना उसके लिए सुविधाजनक स्थिति है क्योंकि ज्ञान वस्तुतः प्रतिरोध का भी केन्द्र है। बर्बर राजसत्ता सदैव ज्ञान-केन्द्रों को अपने विरुद्ध पाती है इसलिए इतिहास में आक्रांताओं ने बार-बार पुस्तकालय ढहाए। आधुनिक लोकतंत्र में भी सत्ता का यह आचरण बदल नहीं गया। वह अब भी उतनी ही क्रूर और बर्बर है; बल्कि पहले से कहीं ज़्यादा चालाक भी, क्योंकि वह जान गई है कि ज्ञान के मन्दिरों को ढहाने-जैसे असभ्य तरीक़ों की बजाये उन्हें ठिकाने लगाने का अधिक सुगम उपाय उनकी उपेक्षा करना है। सच यह है कि ज्ञान के आधुनिक केन्द्र भी किसी-न-किसी तरह की सत्ता की दया के मोहताज हैं। उन्हें बचाने के लिए की गई गुहार, आश्चर्य नहीं कि अनसुनी रह जाये। यह कहानी जिस हताशा और बेबसी में ले जाती है, उसकी सचाई ज़ाहिर है।

सत्ता-केन्द्र के सशक्तीकरण और लोकतन्त्र के सामन्तीकरण की प्रक्रिया में ज्ञान-केन्द्र के विघटित होने की नियति को यह प्रभावी ढंग से रेखांकित करती है। यही इस का कथ्य है। सरसरी तौर पर पढ़ने पर कहानी यही बताती है।

लेकिन क्या यह कहानी सिर्फ़ इतना ही बताती है? क्या यह लाइब्रेरी की इमारत में दीमक लग जाने से उसके नष्ट होने की आशंका और उसके प्रति सत्ता की संवेदनहीनता की कहानी-भर है? अथवा अपनी इंगिति में यह समूची व्यवस्था की नींव में दीमक पड़ जाने और उसके विनाश की आशंका की भी कथा है? यदि यह सही है तो ध्यान दिया जाना चाहिए कि प्रत्यक्ष कथा-विवरणों से बाहर जा कर कहानी यह पहचानने का आग्रह भी करती है कि हमारे सामाजिक ढाँचे को सचमुच किस तरह के दीमक खोखला करने में लगे हुए हैं। यह अपने विवरणों में प्रकट होती वास्तविकता तक सीमित न रह कर पाठक को उकसाती है कि वह उसके आशय का विस्तार करे। पाठक अपनी सर्जनात्मक उत्तेजना में कहानी में चित्रित वास्तविकता के समानान्तर तथा उसके अनुरूप एक नई वास्तविकता निर्मित करता है। यानी लाइब्रेरी की जगह वह सामाजिक व्यवस्था के ढाँचे को रखता है और कहानी को एक भिन्न परिप्रेक्ष्य में, बल्कि व्यापक परिप्रेक्ष्य में पढ़ता है। लाइब्रेरी सहसा सामाजिक व्यवस्था का प्रतिरूप, उसका प्रतीक बन जाती है।

ग़ौर से देखें तो लाइब्रेरी को व्यवस्था का प्रतिरूप बनाने का इरादा कहानी के भीतर एक संकेत के रूप में, स्वयं उसके पाठ में मौज़ूद है। यह अनायास नहीं है कि लाइब्रेरी की दुर्दशा और दीमक लगने से उसके विनाश की आशंका का बयान बूढ़ा लाइब्रेरियन प्रायः अतिनाटकीय ढंग से करता है—'एक दिन वे इस पूरी नींव को खोखला कर देंगी। ये सब क़िताबें...यह ज्ञान...यह मनुष्य होने का गौरव, सब नष्ट हो जायेगा। एक भी क़िताब नहीं बचेगी। हमारे डूबते जहाज़ों के ये आख़िरी प्रकाश-स्तम्भ हैं...आख़िरी रोशनी। अंधेरे के ख़िलाफ़ हमारी आख़िरी चीख़। आख़िरी उम्मीद।' ज़ाहिर है, लाइब्रेरी के नष्ट होने के डर को समाज-व्यवस्था के व्यापक सन्दर्भ में पहचानने का यह सनसनीदार (मेलोड्रामेटिक) और मर्मोद्घाटक (एपोकेलिप्टिक) अन्दाज़ कहानी के प्रत्याशित पाठ से इतर उसके एक सम्वर्धित पाठ की सम्भावना निर्मित करता है—'उनका साम्राज्य लगातार बढ़ रहा है। भयानक बात यह है कि इस विस्तार के लिए उनको हमारी या ऊपर की हमारी इस दुनिया की कोई ज़रूरत ही नहीं होती।...इनके राजा-रानी सबसे अन्दर के सुरक्षित हिस्सों में रहते हैं। उन तक पहुँचने के रास्ते एक-दूसरे में उलझे भटकाने वाले होते हैं। इनके लिए लड़ने वाले सिपाहियों की आँखें नहीं होतीं। बस अंधों की तरह वे इनकी सुरक्षा के लिए लड़ते रहते हैं।'

सम्वर्धित पाठ का यह अर्थसंकेत गहरा होता जान पड़ता है और वृहत्तर सभ्यता-सन्दर्भ धारण कर लेता है जब प्रतिदिन लाइब्रेरी में सबसे पहले आने वाला बूढ़ा नाटककार इलब्रेरियन को धन्यवाद देते हुए कहता है—'टैकिटस की क़िताब अद्भुत सुख देती है मुझे। कोई मुझसे पूछे कि तुम जीवन में क्या चाहते हो, तो मैं एक ही बात कहूँगा...उन विलक्षण सीजर्स के विलक्षण समय में जीना। वह सब अपनी आँखों से घटित होते हुए देखना। जूलियस सीजर से लेकर डोमीनियन तक का रोम...आह...क्या नहीं है उसमें। पारसी थियेटरों ऐसे संवाद बोलते असली लोग।

अपरिमित पराक्रम...उन्मादी प्रेम...अदमित वासना। ख़ून में तैरते दर्शन...धर्मग्रंथ। नरमुंडों के बीच पलती कविता। स्वप्न-भंग से टूटी पराजित आत्माएँ...कालजयी उद्घोष करती आत्महत्याएँ। जो सुन्दरतम है...घृणितम है...व्यापक है...मायावी है...सब है वहाँ। लबलबाता जीवन।' लाइब्रेरी में रखी किताबें उसके लिए मानव-सभ्यता की मर्मगाथाएँ हैं। वह उनमें लबलबाता जीवन देखता है जबकि एम॰ एल॰ ए॰ और उसके साथियों के लिए वे तीन किलो वज़न की पोथियाँ-भर हैं।

अचरज नहीं कि क़िताबों की सांस्कृतिक मूल्यवत्ता की गहरी समझ के चलते लाइब्रेरियन उन्हें बचाने के लिए अतिरेक की हद तक व्याकुल है। उसके भय और हाहाकारी व्यग्रता के नाटकीय अर्थ-संकेत क्या हैं? यही कि इस कहानी में लाइब्रेरी हमारे समाज-प्रतिष्ठान का, सभ्यता के ढाँचे का, रूपक है। दीमकें व्यवस्था की नींव में हैं। उसे ख़तरा दीमकों से ही नहीं, जो उस पर हमला कर खोखला करने में लगी हैं, बल्कि व्यवस्था का संचालन करने वाली ताक़तों से भी है। वे भी दीमकों की तरह भीतर-भीतर सक्रिय रह कर उसे विघटित कर रही हैं। इस तरह से सोचें तो कहानी अपने यथार्थ का अन्यापदेशिक अर्थ, उसका रूपकात्मक विस्तार, एक नया पाठ निर्मित करती है। यह अर्थ-विस्तार एक मायने में इस कहानी का रूप-विस्तार भी है। कहानी की छाया अनायास ही रूपक की काया में ढलने का आभास देने लगती है।

कहानी को रूपक की काया में घटित करने का जतन मुक्तिबोध के यहाँ देखा जा सकता है। सुरेन्द्र चौधरी ने उनकी कहानियों की रूपकधर्मी अन्तर्दृष्टि को उचित ही रेखांकित किया था। 'बहुरुपिया' पढ़ कर मुझे मुक्तिबोध की 'विपात्र' कहानी का स्मरण हो आया। शायद इसलिए कि 'विपात्र' के विद्या-मन्दिर में भी 'बहुरुपिया' के लाइब्रेरी की तरह रूपक के भीतर यथार्थ की नई अर्थ-छायाएँ एकत्र होती हैं। मुक्तिबोध विलक्षण कलात्मक तटस्थता के साथ 'विपात्र' की रूपकवत्ता की गुंजाइश, उसके कथ्य के विस्तार की सम्भावना निर्मित करते हैं; यह कार्य वे इतनी दक्षता के साथ करते हैं कि कहानी में शायद ही कहीं रूपक के छिपे होने का संकेत, विवरण के स्तर पर, मिलता है। पाठ की प्रक्रिया में सहसा यह रूपक उजागर होता है और एक क़स्बे का विद्या-मन्दिर विराट् सत्ता-प्रतिष्ठान में बदल जाता है। लेकिन 'विपात्र' का रूपक से भिन्न, सिर्फ़ विद्या-मन्दिर की कथा के रूप में भी पढ़ा जा सकता है, जैसे कि रूपक होने के अन्तर्निहित संकेतों के बावजूद 'बहुरुपिया' को लाइब्रेरी के सम्भावित विनाश की त्रासदी की तरह पढ़ा जा सकता है।

दोनों कहानियाँ इस तरह वास्तविकता और रूपक दोनों स्तरों पर एक साथ घटित होती हैं। प्रत्यक्ष वास्तविकता की कोई लय एकाएक रूपक के घेरे में दाख़िल होती है और एक नई वास्तविकता की छवि गढ़ने लगती है। इस प्रकार यहाँ अर्थ की दो धाराएँ हैं—घटनात्मक और अन्योक्तिपरक। अन्योक्ति या रूपक वास्तविकता से निकल कर उसके समानान्तर सक्रिय होता है। रूपक यहाँ यथार्थ से स्वतन्त्र नहीं, यथार्थ की उपशाखा (ऑफशूट) है। इन कहानियों की ख़ासियत यह है कि इनमें प्रचलित तरीक़े

के रूपक नहीं हैं, जिनमें वास्तविक आशय अर्थात् कहानी का अभिप्रेत उसके अन्योक्तिपरक अर्थ में छिपा होता है और उसका प्रत्यक्ष घटनात्मक अर्थ गौण हो जाता है। इनमें वास्तविकता पर रूपक लद नहीं जाता, बल्कि दोनों साथ-साथ चलते हैं। ये दोनों कहानियाँ प्रेमचन्द की 'दो बैलों की कहानी' या जैनेन्द्र कुमार की 'नीलम देश की राजकन्या' की तरह दृष्टान्त कथा (पैरेबल) नहीं हैं जिनमें अन्योक्तिपरक अर्थ (वास्तविक आशय) घटनात्मक अर्थ (गौण आशय) से स्पन्दित हो कर ही ध्वनित हो पाता है। प्रेमचन्द के दो बैल जिस प्रकार राजनीति की दो धाराओं के प्रतीक समझे गये हैं, सचमुच के बैल नहीं, उस प्रकार प्रियंवद की लाइब्रेरी प्रतीक-भर नहीं है, वह सचमुच की लाइब्रेरी भी है। 'बहुरुपिया' जैनेन्द्र कुमार की 'तत्सत' कहानी की तरह बोधकथा (फ़ेबल) भी नहीं है जिसमें कथा का प्रत्येक घटक किसी अन्य वास्तविकता का प्रतीक हो और उसका प्रतिनिधित्व करता हो।

स्पष्ट है, 'विपात्र' या 'बहुरुपिया' में रूपक की उठान के साथ उनके यथार्थ का अन्यथाकरण नहीं होता। यानी रूपक यथार्थ को विस्थापित कर उसकी जगह खुद नहीं बैठ जाता बल्कि उसे नये सन्दर्भ में रख कर उसकी यथार्थता को ही प्रतिष्ठित करता है। सुरेन्द्र चौधरी ने ठीक ही लक्ष्य किया था कि ऐतिहासिक समय का नाश करने के लिए रूपक का उपयोग करने की पश्चिमी पद्धति के विपरीत मुक्तिबोध रूपक की मदद से ऐतिहासिक समय की जटिलता को मूर्त करते हैं। मुक्तिबोध हिन्दी के सम्भवतः पहले कहानीकार थे, जिन्होंने कहानी में चित्रित वास्तविकता को अमूर्त या क्षतिग्रस्त किये बिना उसकी अर्थछायाओं को रूपक में सँजोया। प्रायः यह लघु यथार्थ की विस्तृत रूपक-छाया थी। 'विपात्र' का विद्या-मन्दिर इसी ढंग से व्यापक व्यवस्था-तंत्र का छोटा-सा नमूना जान पड़ता है, या 'क्लॉड ईथरली' के अभिशप्त नायक का निजी अन्तर्द्वन्द्व आधुनिक सभ्यता की अन्तरात्मा का उद्वेलन बन जाता है, अथवा 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' ज्ञान के बोझ से दबी मानवीय अन्तश्चेतना की पीड़ा के रूपक की तरह दिखाई देता है। मुक्तिबोध के ये रूपक व्यापक परिप्रेक्ष्य में यथार्थ को उपलक्षित करते हैं, यथार्थ का अर्थविस्तार या पुनराविष्कार करते हैं। 'बहुरुपिया' का यथार्थ भी इसी पद्धति से अन्यार्थ में, रूपक में बदलता है।

रूपक यहाँ यथार्थ की कूट-निर्मिति नहीं, उसका ही आख्यान है। उसे पाने के लिए यथार्थ पर अविश्वास को इरादतन स्थगित करने (विलिंग सस्पेंशन ऑव डिसबिलीफ़) की ज़रूरत नहीं होती जैसा कि फैंटेसी में होता है। यह कहानी के भीतर से उत्पन्न हुआ रूपक है, उस पर ऊपर से चढ़ा दी गई जिल्द नहीं। एक तरह से यथार्थ का अपना ही विस्तार है। ध्यान से देखें तो रूपक में बदल कर कहानी अपनी विधागत सीमाओं का प्रसार करती है। रूपक उसकी आभासी (वर्चुअल) देह है। यथार्थ उसमें कायान्तर प्राप्त करता है।

कहानी की विधागत सीमाओं के प्रसार की प्रचलित विधि उसका वृत्तात्मक विस्तार या औपन्यासिकीकरण है जिसका प्रयोग इधर खूब हुआ है। मगर ऐसी दूसरी

कहानी शायद ही याद आती हो, जिसमें कहानी रूपक की सीमा में दाख़िल होती है। प्रायः औपन्यासिक सीमान्तों को छूने वाली कहानियाँ अपनी पुरानी सीमाओं के भीतर लौट नहीं पातीं, इसलिये वे अपनी अलग विधागत पहचान की माँग करती हैं। इधर उन्हें लम्बी कहानी कहा जाने लगा है जो दरअसल वृत्तान्त की महत्वाकांक्षा जागने पर औपन्यासिक ढाँचे में विन्यास प्राप्त करने की मजबूरी के कारण लम्बी हो चली हैं। लेकिन रूपक में कायान्तरित कहानी वापस जब चाहे अपनी मूल काया में लौट सकती है। कहानी के रूप में उसकी पहचान सुरक्षित रहती है। कोई चाहे तो 'विपात्र' या 'बहुरुपिया' के रूपकधर्मी विस्तार की अनदेखी कर उन्हें क्रमशः विद्या-मन्दिर की कहानी या लाइब्रेरी के वृत्तान्त के रूप में देख सकता है। इसलिए उनकी विधागत पहचान को किसी नई संज्ञा या किसी उपसर्ग की ज़रूरत नहीं है। कहानी में रूपक की यह प्रच्छन्न उपस्थिति सम्भवतः यत्नपूर्वक नहीं बल्कि सहज रूप में मुमकिन हुई है। यह सहजता करतब-सरीखी लगती है।

क्या यह भी करतब-सरीखा नहीं लगता कि कहानी जब रूपक के पंख लगा कर आकाश में उड़ती है तो ऊपर से उसे यथार्थ कुछ अधिक स्पष्ट और सही परिप्रेक्ष्य में दिखाई देता है? शायद यह लेखक की कल्पना का करतब है कि रूपक यथार्थ को स्थगित नहीं, निरूपित करता है। 'बहुरुपिया' का रूपक दरअसल उसके यथार्थ की आन्तरिक लय है जिसमें उसके वृहत्तर आशय ध्वनित होते हैं।

लाइब्रेरियन का प्रलाप और उसकी कसमसाती मुखरता इन आशयों की ओर संकेत ही नहीं करती, उन्हें उत्कट भी बनाती है। उसकी बेचैनी, भयाकुलता और निरीहता के बरअक़्स एम॰ एल॰ ए॰ की बेपरवाही, अहम्मन्यता और असभ्यता का एक तीखा कंट्रास्ट निर्मित होता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह हमारे समाज के ढाँचे में मौंज़द कंट्रास्ट की ओर भी इशारा करता है। इसके रहते एक तरफ़ सत्ता अपने वर्चस्व के उन्माद में व्यवस्था के संहार का कारण बनने लगती है और दूसरी तरफ़ उसकी नैतिक असंगतियों, मिथ्याचारों, आत्मछलनाओं की ओर उँगली उठाने की कोशिश व्यर्थ साबित होती है। लाइब्रेरियन आज के नैतिक फूहड़पन, शक्ति के दम्भ और हिंस्र महत्वाकांक्षाओं से घिरे संसार में मनुष्य की अन्तरात्मा की बेचैनी, असहायता और निरीहता का प्रतीक जान पड़ता है।

संयोगवश मुक्तिबोध का कथानायक भी ऐसी ही निरीहता, संशय और निरूपाय व्याकुलता से घिरा है, फिर भी संघर्षरत है। यह हमारी सभ्यता के श्रेष्ठ मूल्यों की रक्षा के लिए संघर्षरत नायक है जो मुक्तिबोध के युग से लेकर आज भी सक्रिय है। वह थका नहीं है, लड़ रहा है। 'बहुरुपिया' उसके संघर्ष की कहानी है। मुक्तिबोध की कहानियों में उनके मित्र शमशेर बहादुर सिंह को यूनानी ट्रैजेडी का भाव महसूस होता था। शमशेर जी होते और प्रियंवद की यह कहानी पढ़ते तो शायद लाइब्रेरियन को भी ट्रैजिक नायक के रूप में देखते, जो अपनी नज़रों के सामने अपनी ही दुनिया को उजड़ते देख रहा हो और विवश हो।

मुक्तिबोध के कथानायक की ट्रैजेडी यह थी कि मानवद्रोही ताक़तें सभ्यता के अँधेरे में छिपकर प्रहार करती थीं और कथानायक जैसे अपनी अन्तश्चेतना में उन्हें झेलता लहुलुहान होता था। प्रियंवद के कथानायक की ट्रैजेडी इस मायने में थोड़ी अलग है कि मानवद्रोह की कार्रवाई अब खुले-उजाले में होती है और कथानायक उसे देखकर भौंचक है। मुक्ति-बोध का कथानायक भीतर-ही-भीतर घुटता था। प्रियंवद का कथानायक एकाएक चीख़ पड़ा है। एक ट्रैजिक नायक की चीख़ में क्या हमारे समय की गूँज नहं सुनाई देती?

कहानी में बसी कविता

पता नहीं, पहले कविता जन्मी या कहानी? हो सकता है, दोनों का जन्म साथ-साथ हुआ हो। शायद आदिम मनुष्य ने प्रकृति के कोप का सामना करते हुए, या उसके सौन्दर्य से अभिभूत हो कर अपने सृजनात्मक क्षणों में जो भी व्यक्त किया होगा, उसमें कविता और कहानी गुत्थमगुत्था रही हो—इस तरह कि उन्हें अलगाना ही मुमकिन न हो। आखिर अब भी लोकगीतों में हम कोई कथा छिपी हुई पाते हैं और गाथाएँ आज भी गाई जाती हैं जिनमें कथा और काव्य की अभिन्नता स्वाभाविक रूप में होती है। महाकाव्य का मूल तत्व भी अन्ततः कथा है।

कविता और कथा की परस्पर निर्भरता शायद सभ्यता के जन्मकाल से लेकर क्लासिकल साहित्य के दौर तक जारी रही। यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि सभ्यता की क्लासिकल चेतना पर आधुनिकता के प्रहार के साथ कलाएँ जब समग्रता का बोध खो कर व्यक्ति की आत्मचेतना के घेरे में दाखिल हुईं तो वे एक और तरह से विपन्न हो चुकी थीं—दरअसल वे अपने अस्तित्व से गुँथी हुई अपनी बुनियादी काव्यात्मकता से वंचित हो उठीं। अगर पूरी तरह से वंचित नहीं भी हुईं तो उससे जोड़ने वाला धागा एकाएक कमज़ोर पड़ गया। उपन्यास का जन्म इन्हीं परिस्थितियों में हुआ जब कथा ने सहसा काव्यात्मक संवेदना से पिंड छुड़ा कर अपने को सामाजिक वास्तविकता की सतह पर एकाकी और स्वतन्त्र खड़ा पाया। उपन्यास अब महाकाव्य का विकल्प था और यह हैसियत उसने कविता के साथ कथा के सदियों पुराने सम्बन्धों को तोड़ कर हासिल की थी। सच पूछा जाये तो इन सम्बन्धों की क़ीमत पर ही उपन्यास सेकुलर अनुभव की ज़मीन पर क़दम रख सका था और भूल चुका था कि धार्मिक संवेदना से मुक्त होने की चेष्टा में उसे काव्यात्मक संवेदना से भी हाथ धोना पड़ा है। यथार्थवाद उपन्यास विधा की प्रविधि और उसकी चारित्रिक पहचान इस वजह से बन सका कि वह क्लासिक और रोमेंटिक दोनों का निषेध करता था। लेकिन कहानी ने आधुनिक युग के यथार्थवाद को अपनी शर्तों पर क़बूल किया। उसने रोमेंटिकता और काव्यात्मकता को पूरी तरह तज नहीं दिया, बल्कि चुटकी-भर उसे बचा लेने का जतन किया। इसी से कहानी में एक स्वतन्त्र विधा का स्वाद उतरा। यह स्वाद कहानी की संवेदना में बसा हुआ है, जो मूलतः काव्यात्मक संवेदना से भिन्न नहीं होती। दोनों का प्रभाव और उनकी परिणति अमूमन एक सरीखी होती है।

इसे समझने के लिए मिसाल के तौर पर सारा राय की कहानी 'वेटिंग रूम' को लें। यह एक सीधी-सरल कहानी है। कथानायक सुभाष एक स्टेशन के वेटिंग रूम में

ट्रेन का इन्तज़ार करता लेटा है। एकाएक नींद खुलने पर उसे थोड़ी देर तक कुछ भी याद नहीं आता कि वह कहाँ है। याद आने पर उसे लगता है, अतीत और कठिन वर्तमान का बोझ उसकी साँसों में उतर आया है। कॉलेज के हलके-बेफ़िक्र दिन, भविष्य की आकर्षक और रहस्यमय सम्भावनाओं में मचलते हुए अनायास कब अतीत की छाया में सरक गये उसे पता ही न चला। ऐशोआराम में बचपन और जवानी गुज़री। पिता ने उसे काम-धंधे के झमेले से दूर रखने की कोशिश की और कहा कि 'मैंने तो सात पुश्तों का इन्तज़ाम कर दिया है। पैसा तो नसीब से होता है।'

लेकिन सुभाष का नसीब ही खोटा था। पिता की मृत्यु के बाद कारोबार धीरे-धीरे डूबता गया। कारोबार सम्हालने की कोशिश में थके-हारे सुभाष को उसकी बड़ी बहन सुषमा ने अपने सख्त अनुशासन में सम्हाला और इसी फेर में उसने खुद शादी नहीं की। अपनी नाक़ामयाबी के लिए सुभाष अपने पिता को ज़िम्मेदार मानता था और सुषमा उसकी क़ाहिली को। सुषमा कहती थी कि अब सुभाष को हाथ-पैर माने की ज़रूरत नहीं है, अपनी नौकरी से वह अच्छी तरह घर सम्हाल लेगी। पर सुभाष अपनी अंदरूनी बेचैनी से निज़ात पाने की कोशिश में अनजाने शहर में स्माल इंडस्ट्रीज़ कार्पोरेशन के अधिकारी से मीटिंग के लिए पहुँचा है, इस उम्मीद से कि मीटिंग सफल रही तो उसका प्रोजेक्ट मंज़ूर हो जायेगा और कारपोरेशन से कुछ पैसे मिल जायेंगे। लेकिन दुर्भाग्य से मीटिंग निरर्थक रही। लौट कर सुभाष मायूसी और हताशा में स्टेशन पहुँचा है।

लम्बी प्रतीक्षा में वेटिंग रूम से निकल कर सुभाष भीड़-भरे प्लैटफ़ार्म पर बेचैन टहलने लगा। उसके मन में अंधेरा छाया हुआ है। मछली की फ़ार्मिंग, सिल्वर फिलिग्री, एंटिक मूर्तियों की बिक्री, साड़ियों की छपाई-जैसे कितने ही काम उसने किये लेकिन हर कोशिश बेकार गई। अब वह यहाँ खड़ा है, 'एक अड़तालिस साल का आदमी जिसकी ट्रेन छूट गई थी और उसे नहीं मालूम था कि उसे क्या करना चाहिए।' ऊब और प्रतीक्षा में गहरी हताशा और थकान घुली-मिली है। बेंच पर एक लड़की बैठी हुई है। बातचीत के दौरान उसके यह पूछने पर कि वह काम क्या करता है, सुभाष ने 'बिज़नेसमैन हूँ' कहते हुए अपने नाकाम धंधों की फ़ेहरिस्त गिना दी और लड़की के प्रभावित होने पर शर्मिंदगी महसूस करने लगा।

स्टेशन पर धूल थी, मानों समूचा स्टेशन धूल के भूरे रंग में रंगा हो। सुभाष को लगा उसकी ज़िन्दगी मैले-भूरे वेटिंग रूम में बदल गई है। चलते-चलते वह प्लैटफ़ार्म पर काफ़ी आगे पहुँच गया था। अचानक उसने देखा ऊपर से रंग की बूँदें टपक रही हैं। प्लैटफ़ार्म पर बने पुल की सबसे ऊँची वाली रेलिंग पर एक आदमी औंधा लटका हुआ हाथ में ब्रश लिये पुल को रंग रहा था। वह एक सरदार था। उसे इस तरह लटके हुए देख सुभाष का सिर घूम गया। रेलिंग का निचला भाग रंग कर सरदार सीधा हो गया और एकाएक गाने लगा। गाना ख़त्म हुआ तो सुभाष ने उससे पूछा—'इतनी ऊँचाई पर लटके हुए हो। तुम्हें डर नहीं लगता? गिरोगे तो सीधे मौत के मुँह में।

सरदार ने पहले तो कोई जवाब नहीं दिया। थोड़ी देर बाद बोला, यह तो उसका रोज़ का काम है। गिरने पर बदन के कई टुकड़े हो जायेंगे। मगर इसकी उसे क्या ख़बर होगी। फिर जीने-मरने का क्या भरोसा? इसके लिए कोई अपना काम कैसे छोड़ दे? वह फिर गुनगुनाने लगा।

सुभाष हैरान रह गया। उसने ज़िन्दगी के बारे में इतने आसान शब्दों में कभी नहीं सोचा था। उसे लगा कि आने वाले कल के इन्तज़ार में उसका आज पीछे छूटता जा रहा है। उसे आज की फ़िक्र करनी चाहिए। सरदार ने कितनी आसानी से ज़िन्दगी और मौत-जैसे भारी-भरकम शब्दों का सामना कर लिया। कल ज़िन्दगी का अन्त होगा। और उसकी अहमियत भी उतनी ही है जिसे जीते वक़्त इन्सान महसूस करे। सुभाष के दिमाग़ से जैसे मनों का बोझ हट गया हो।

यह मामूली-सी लगती कहानी है, लगभग घटनाहीन-सी। न वृत्तान्त की चमक, न शिल्प का चमत्कार। सादगी के साथ बयान करती भाषा। बिलकुल भी बनाव-सिंगार नहीं। लेकिन जीवन में नाकामयाबी से टकराता और निराशा से जूझता कथानायक जिस तरह अनायास ही राहत का क्षण पा लेता है और उस क्षण तक पहुँचने की कोशिश में जिस तरह कहानी अपनी सहजता और सादगी को बनाये रखती है, वह मामूली नहीं है। यह विलक्षण कलात्मक संयम के साथ लिखी गई कहानी है।

कथानायक की हताश मनोदशा और सुखद भविष्य के लिये उसकी छटपटाहट को स्मृति-चित्रों और विवरणों में ढालते हुए कहानी उसके सुखद अतीत, त्रासद वर्तमान और अनिश्चय-भरे डाँवाडोल भविष्य के बीच एक संगति की तलाश में है। भविष्य सँवारने की चिंता में कथानायक का वर्तमान भी बिखर चुका है। यही उसकी समस्या है। कल की फ़िक्र में वह अपने आज को भी सही तरीक़े से नहीं जी पा रहा है। लेकिन ऊँचाई पर उल्टा लटक कर, रेलिंग को रंगने का जोख़िम उठा कर भी बेफ़िक्र गुनगुनाते सरदार का जवाब सुन कर सहसा कथानायक जीवन की उस सचाई से रू-ब-रू होता है, जिससे नावाकिफ़ होने के कारण वह स्वयं अपने यथार्थ का ठीक तरह से सामना नहीं कर पा रहा है। कथानायक के लिए यह आत्म-साक्षात्कार की घड़ी है। उसे अनायास ही एक नया जीवन-दर्शन, जीने के संघर्ष में एक नई रौशनी मिल गई है। उसके जीवन में ऐसा सहज चमत्कार हुआ है जिसकी उसे उम्मीद क़तई नहीं थी। यह अप्रत्याशित-अयाचित क्षण है जिसे पा कर वह अपने भीतर की जकड़न से मुक्ति पा लेता है। नामवर जी के शब्दों में कहूँ तो यह कहानी में 'सांद्र-सघन अनुभूति' का क्षण है।

कथानायक के लिए यह भले ही अप्रत्याशित क्षण हो, लेकिन कहानी को तो दरअसल इसी की तलाश थी। उसका समूचा सर्जनात्मक उद्यम इस बिन्दु तक पहुँचने की एकाग्रता के साथ चरितार्थ हुआ है। इस बिन्दु पर केन्द्रित अनुभव ही सच पूछें तो कहानी का लक्ष्य है। इसके आगे कहानी कहीं और नहीं जाना चाहती। वह इस बिन्दु पर फूटते प्रकाश में दमकती है। यह कहानी की पहचान का क्षण है—आत्मबोध का

क्षण।

उपन्यास होता तो इस क्षण से कतरा कर निकल जाता, इतिहास की लम्बी-अँधेरी गलियों की तरफ़, जहाँ ऐसे कितने ही क्षण जुगनू की तरह टिमकने की हिमाक़त करते बुझ जाते हैं। उपन्यास सामाजिक वास्तविकता और उसके ब्यौरों में अपने पाँव फैलाता है। कहानी उसके भीतर से उठी अनुभव की दीप्ति में सचाई का साक्षात्कार करती है। कहानी में सामाजिक वास्तविकता से ज़्यादा महत्वपूर्ण है अनुभव की दीप्ति, जिसमें वास्तविकता की कोई नई झलक, कोई नया जीवन-सत्य, कोई अप्रत्याशित रहस्योद्घाटन उभर आये और अपनी तीव्रता (इंटेंसिटी) से अभिभूत कर दे। यह नया या अप्रत्याशित न हो कर जाना-पहचाना भी हो तब भी उसके प्राकट्य में ऐसी विलक्षणता हो कि किसी और तरह से उसे पाना या देखना आसान न हो। ऐसी विलक्षणता कहानी में ही होती है, या फिर कविता में। कविता भी वास्तविकता की बजाये वास्तविकता के प्राकट्य में छिपे सौन्दर्य की तलाश करती है।

इस दृष्टि से देखें तो क्या ऐसा नहीं लगता कि 'वेटिंग रूम' के कथानायक के आत्म साक्षात्कार का क्षण अपनी परिणति और प्रभाव में मूलतः काव्यात्मक है? इस क्षण की अकस्मात कौंध की अनुभूति क्या अपनी सघनता और सांद्रता में काव्यानुभूति नहीं जान पड़ती? यह विस्मय की दीप्ति से आलोकित और सत्योद्घाटन की गरिमा से परिपूर्ण एक सौन्दर्यात्मक क्षण है। यह सीधे पाठक के मर्म को छूता हे। सचाई का प्रकट होना और उसके चलते पाठक के भीतर विस्मय का उभरना—यह काव्यात्मक अनुभव की प्रक्रिया है। इसका मूल स्वरूप वैदिक ऋचाओं में प्रकृति-विषयक उद्गारों से लेकर रेणु के 'लाल पान की बेगम' की मुग्ध आत्मगौरव में दमकती बिरजू की माँ तक प्रायः एक-सा है। यह कविता और कहानी, दोनों विधाओं में प्रायः एक ही तरीक़े से काम करता है। यूँ कहें कि सौन्दर्यात्मक प्रक्रिया की दृष्टि से कहानी और कविता के अनुभव की प्रोसेसिंग और परिणति में बुनियादी तौर पर फ़र्क़ नहीं होता। इसलिए कभी-कभी एक ही अनुभव कहानी और कविता दोनों में ढल सकता है। 'वेटिंग रूम' के अनुभव को कविता में ढालना मुश्किल नहीं है; लेकिन किसी और विधा में इतने प्रभावी ढंग से उसे शायद ही रूपान्तरित किया जा सकेगा—उपन्यास में तो बिलकुल नहीं।

अगर कविता और कहानी की सौन्दर्यात्मक प्रक्रिया मूलतः एक-जैसी है तो कहना होगा कि उनकी संवेदना भी भिन्न नहीं हो सकती। आधुनिक कहानी ने कथा और काव्य की अभिन्नता के दायरे से कथा-तत्व को बाहर तो खींच लिया और उसे देश-काल की चौहद्दी के भीतर तर्क, विवेक और कार्य-कारणवाद के औज़ारों से एक नई सेकुलर रूप-छवि में विन्यस्त भी कर लिया, लेकिन उसके भीतर स्थित कविता की स्मृति को अखण्ड लौ की तरह जीवित रखा। बौद्धिकता कहानी की नई मुद्रा थी लेकिन संवेदना अब भी उसमें प्राण-तत्व की तरह मौजूद रही। इसी प्राण-ऊर्जा के सहारे कहानी नितान्त समसामयिकता के दबाव से बची रह सकी। उम्दा कहानियाँ हमेशा

यथार्थ की समसामयिकता को ज़रा दबा कर ही लिखी गई हैं। (यह सुखद है कि 'वेटिंग रूम' समसामयिक यथार्थ के आगे नतमस्तक होकर लिखी गई कहानी नहीं है; यद्यपि वह समसामयिकता को पूरी तरह दरकिनार नहीं कर देती—कम-से-कम उसका नायक अपनी हताशा और निरीहता के बावज़ूद मध्यवर्ग से सामयिक यथार्थ से विलग नहीं है।) समय उनमें उदग्र रूप में नहीं, किंचित् अंडरटोन में मौजूद होता है। समय बोलता भी है तो बुदबुदा कर—मगर कुछ इस तरह कि उसकी गूँज भीतर-ही-भीतर सुनाई देती रहे। दूर तक गूँजते समय की अन्तर्ध्वनियों के साथ कहानी काल की चौहद्दी पार कर पाती है; कालोत्तीर्ण होती है। 'उसने कहा था' कहानी में बीती सदी के शुरूआती दशकों का अमृतसर और पहला महायुद्ध प्रायः सांकेतिक रूप में प्रकट हुआ है और पृष्ठभूमि के तौर पर चित्रित हुआ है। यह संवेदना को देश-काल में सन्दर्भित करने की अनिवार्यता के तहत एक सहज कथा-विधि के चलते हुआ है। यहाँ ज़ोर समाज और समय को चित्रित करने पर नहीं, संवेदना पर है। इसलिए समय और समाज कहानी को जकड़ नहीं पाते बल्कि वे कहानी में घटित अनुभव को आधार-भूमि प्रदान करते हैं। एक अच्छी कहानी में यह आधार-भूमि सिर्फ़ इतनी होती है कि उस पर खड़ी होकर वह आने वाले समय की तरफ़ छलांग लगा सके; वह ऐसी विस्तृत नहीं होती कि कहानी छलांग लगाना भूल कर उस पर पसर जाये। इस तरह समय की सतह, अपनी आधार-भूमि, पर पसर जाने वाली कहानियाँ, कहने की आवश्यकता नहीं कि, अल्पजीवी कहानियाँ हैं।

हर कहानी को अनुभव की आधार-भूमि—देश और काल में टिकने की थोड़ी-सी जगह चाहिए। 'उसने कहा था' में इस थोड़ी-सी जगह के बहुत थोड़े-से ब्यौरे हैं—बिल्कुल न्यूनतम मात्रा में। कथाकार जब संवेदना को उभारने पर ज़्यादा ज़ोर देता है तो देश-काल के ब्यौरे गौण हो उठते हैं। इन ब्यौरों की वह अपने-आप छँटनी कर देता है। कहानी उसके लिए 'इतिहास का दस्तावेज़' नहीं, 'संवेदना का स्फुरण' हो उठती है। वह धीरे से संवेदना की नोंक को अपनी जादुई उँगलियों से छूता है और पाता है कि अकस्मात् कोई चिनगी फूट पड़ी है—विस्मय को जगाती हुई, भीतर के किसी धूसर कोने को दीप्त करती हुई एक काव्यात्मक अनुभूति-सी। 'उसने कहा था' में यह काव्यात्मक अनुभूति लहनासिंह को कैशोर्य की मधुर स्मृतियों में ले जाती है और उसके कर्तव्य-बोध को जगाती है। यही उसका आत्मज्ञान है। 'वेटिंग रूम' के नायक सुभाष के भीतर भी एक इन्ट्यूटिव कौंध की तरह, काव्यानुभूति से मिलता-जुलता भाव, उसका आत्मबोध जाग पड़ता है। उसके आलोक में वह भविष्य की आश्वस्ति देखता है। सारा राय का ज़ोर अपने कथानायक के भीतर उभरी काव्यानुभूति के क्षण पर अधिक है, उसके देश-काल पर कम यह कलात्मक दृष्टि से उचित भी है। इसलिए कहानी न तो स्टेशन का नाम बताती है जहाँ उसमें वर्णित घटनाएँ घटित होती हैं, न ही स्टेशन और प्लैटफ़ार्म के ग़ैर-ज़रूरी ब्यौरे देती है। उसे उतनी ही जगह की दरकार थी, जिसमें उसका अनुभव टिक कर खड़ा हो सके। यहाँ कथा के दो पात्र हैं और वे अनाम नहीं

हैं—शायद इसलिए कि अगर वे नामहीन रह जाते तो कहानी के अनुभव के टिकने की जगह सिकुड़ जाती और न्यूनतम से कम जगह में खड़ा न रह कर वह लड़खड़ा उठता जैसे कि नई कहानी और उसके बाद के दौर की अस्तित्ववादी भावबोध की कहानियों में 'वह' सर्वनाम में सिकुड़ा नामहीन कथानायक देश-काल की न्यूनतम उपस्थिति से भी पिंड छुड़ाता नज़र आता है और शून्य में शरण ढूँढता है। अपने भीतर के संत्रास और वर्तमान की विभीषिका से छुटकारा पाने की कोशिश में न तो वह इन्ट्यूशन की चमक देख पाता है, न किसी काव्यात्मक अनुभूति के क़रीब जाने की कोशिश करता है। उसकी मुक्ति तो आत्मग्रास और आत्मद्रोह में है, जिसका कोई इतिहास-भूगोल या देश-काल नहीं होता। इसके विपरीत सारा राय का कथानायक अपने वर्तमान की जिस विभीषिका से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा होता है, उसके अनुभव का ठोस देश-काल विद्यमान है और मुक्ति के जिस काव्यात्मक क्षण में उसके भीतर का विश्वास आत्मज्ञान (सेल्फ़ रिवेलेशन) की तरह प्रकट होता है, वह उसी अनुभव की उपज है।

अनुभव का यह कोई दिव्य-अलौकिक क्षण नहीं है। इसके ठोस वस्तुगत सन्दर्भ हैं। लेकिन यह इतना आकस्मिक और अनायास प्रकट हुआ है कि असाधारण मालूम पड़ता है। इस क्षण का पहले कहानी में, और फिर पाठक के भीतर, घटित होना एक सहज-सुलभ किन्तु प्रायः अलक्षित सचाई के दुर्लभ प्राकट्य की तरह रोमांचक और विलक्षण है। विस्मय, रोमांच और विलक्षणता की अप्रत्याशित चमक को, कुछ नया हासिल करने के सर्जनात्मक आनन्द को काव्यानुभूति के सिवाय और क्या कहा जाना चाहिए? कहानी को गढ़ने और उसका आस्वाद पाने में, मुझे लगता है कि, इसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह कहानी में जीवन-तत्व की तरह बसी हुई होती है। बहुत सपाट और देश-काल के प्रकट विवरणों से भरी कहानी भी, अगर कहानी बन पाती है तो इसी जीवन-तत्व के कारण। अन्यथा वह निरा गद्य रह जाती है—एक निष्प्राण काया में सँजोये शब्दों का ढेर-भर।

कहानी में काव्यानुभूति की बसाहट उसकी अँदरूनी तहों में होती—सूक्ष्म और अन्तर्निहित। कुछ इस तरह कि उसका होना अकसर हम जान नहीं पाते। जानते तभी हैं जब भाषा की देह पर उसकी छाप उभरती दीखती है। कहानी की काव्यात्मकता की बात हमारे यहाँ जब भी की गई है, उसे गद्य-भाषा के एक अतिरिक्त गुण के रूप में ही देखा गया है। रेणु या निर्मल वर्मा की कहानियों की काव्यात्मकता भाषा के सजग सर्जनात्मक प्रयोग का नतीजा है। रेणु की चित्रात्मकता या लोकध्वनियों की चमत्कारी व्यंजना या निर्मल वर्मा की कहानियों में 'बिम्बों, प्रतीकों, संकेतों, वक्रोक्तियों तथा गद्य में कविता के अप्रत्यक्ष तत्वों की बहुलता' (विजय मोहन सिंह के शब्द) पर अगर ध्यान जाता है तो इसलिए कि कहानी के प्रभाव को तीव्र करने के लिए ये कथाकार जिस तरह की सघन काव्यात्मकता रचते हैं वह भाषा की ऊपरी सतह पर ही पड़ी मिल जाती है। निर्मल वर्मा की अविस्मरणीय 'सांगीतिकता' या रेणु की कथित 'ठुमरी धर्मिता' उनकी कहानियों के आवबोध और विन्यास को इतने विलक्षण ढंग से घेरती है कि

उससे उत्पन्न काव्यात्मक प्रभाव उनकी पहचान बन जाता है। लेकिन भीष्म साहनी या अमरकान्त की कहानियाँ काव्यात्मकता का ऊपरी घटाटोप पैदा किये बिना कहानी के उस मर्मस्थल को उकेरती हैं जहाँ उसका प्राणतत्व—कथासत्व से साक्षात्कार का काव्यात्मक क्षण मौजूद रहता है। मर्मोद्घाटन का यह क्षण, चाहे कविता में हो या कहानी में, अपने प्रकृत रूप में अन्ततः काव्यानुभूति का क्षण होता है—भले ही उसे कुछ और नाम दे दिया जाये, अगर काव्यानुभूति शब्द से परहेज़ हो तो। हर कला का सौन्दर्यात्मक अनुभव अपने उत्कट रूप में मूलतः काव्यानुभूति है। वह कहानी की भाषा या उसके विन्यास में नहीं, उसके भीतर आकार लेते अनुभव के स्थापत्य में विन्यस्त होती है—अन्दर किसी कोने में टिमटिमाती हुई।

काव्यात्मकता को कथाभाषा का अतिरिक्त गुण मानने का और उसे कथाकार के विशिष्ट कौशल के तौर पर मान्यता देने का परिणाम यह हुआ कि एक कवि-कथाकारों की एक विशिष्ट कोटि की बात की जाने लगी थी और उनका एक अलग सम्प्रदाय निर्मित किये जाने का आग्रह हो रहा था। गनीमत है कि कुंवर नारायण, रघुवीर सहाय और श्रीकान्त वर्मा-जैसे कवियों की नितान्त ग़ैर-काव्यात्मक क़िस्म की कहानियाँ इस आग्रह का प्रतिवाद करती हुई मौजूद थीं। इसी तरह, काव्यात्मक अनुभूति को कहानी के मर्म-बिन्दु पर एकाग्र प्रभाव और उसकी अनिवार्य परिणति के रूप में नहीं देखा जायेगा तो प्रियंवद, आनन्द हर्षुल, जयशंकर, नवीन कुमार नैथानी आदि की कथा-भाषा में उतराती काव्यात्मकता में ही उनकी कहानियों का सौन्दर्य सिमट जायेगा। काव्यात्मकता को कथाकार की अतिरिक्त उपलब्धि या उसकी भाषिक कुशलता का नतीजा समझने पर कथा के मर्म तक पहुँचने के उसके कौशल की अनदेखी तो होगी ही, काव्यात्मक भाषा में लिखी कहानियों को ही बेहतर कहानियाँ मान लेने का भ्रम भी उठ खड़ा होगा। इससे उन कथाकारों के साथ न्याय नहीं हो सकेगा जो सहज-सरल भाषा में कहानी कहते हुए अनुभव के काव्यात्मक मर्म को सहजता से खोल पाते हैं।

'वेटिंग रूम' कहानी में काव्यात्मकता ढूँढने की कोशिश शायद दूर की कौड़ी खोज लाने-सरीखी लगे, लेकिन खोजने की चीज़ यहाँ काव्यात्मकता नहीं, जो भाषा के पोरों से फूट पड़ती हो, बल्कि वह अप्रत्याशित स्थिति है जिसमें एक विडम्बना, दिल को छू लेने वाली एक जादुई कौंध, सचाई के अनायास प्रकट हो जाने की एक औचक घड़ी उजागर होती है। यह विडम्बना, जादुई कौंध या औचक घड़ी अत्यन्त काव्यात्मक है, इसमें कहानी के जन्म की घड़ी, उसके प्राकट्य का मुहूर्त है। अगर इसमें संदेह हो तो कथानायक सुभाष से पूछिए, कि ज़िन्दगी और मौत-जैसे भारी-भरकम शब्दों का आसानी से सामना करते सरदार की बात सुन कर जब उसके भीतर का बोझ हट गया तो उसने कैसा महसूस किया। इस पर भी तसल्ली न हो तो सुभाष की जगह खुद को रख कर अपने आपसे पूछिए।

सुभाष की कहानी दरअसल तब बनी जब उसके भीतर कविता का जन्म हुआ। क्या इस कविता को आज की कहानियों में ढूँढने-पहचानने की ज़रूरत नहीं है?

कवि-दृष्टि यानी कहानी की तीसरी आँख

आज की कहानियों और उन पर केन्द्रित चर्चा को ध्यान में रखें तो कहा जा सकता है कि कहानी से काव्य-तत्व के सम्बन्ध-विच्छेद को इस दौर की अनिवार्यता मान लिया गया है। हालाँकि कुछ कवियों ने कथा-तत्व का और कथाकारों ने काव्य-तत्व का प्रयोग छिटपुट तौर पर किया है लेकिन आम समझ यह बनी है, और अमूमन इसका ख़्याल रख कर कहानियाँ लिखी-पढ़ी जा रही हैं, कि काव्य-तत्व का प्रयोग कहानी में वर्जनीय है। इसके प्रायः दो कारण समझे जाते हैं। एक तो यह कि काव्यात्मकता कहानी-विधा की प्रकृति से मेल नहीं खाती। दूसरा यह कि आज के उलझे हुए सामाजिक यथार्थ को काव्य-तत्व के सहारे खोला नहीं जा सकता।

कहानी में कविता के अन्तर्निवेश को लेकर पहले भी बहस हुई है लेकिन इधर लगता है, काव्यात्मकता के प्रति एक तरह के तिरस्कार-भाव के साथ उसका समापन कर दिया गया है। नई कहानी के दौर की चर्चाओं में इस प्रश्न को लेकर बेचैनी दिखाई दी थी जब मोहन राकेश ने 'कविता के कोमल रेशों' की बात की थी, या डॉ॰ नामवर सिंह ने बिम्ब, प्रतीक, रूपक, संगीत आदि के सहारे कहानी के आस्वाद की एक पद्धति विकसित करने की चेष्टा की, या जब इसके प्रतिवाद में राजेन्द्र यादव ने कहानी में कविता के उपकरण 'स्मगल' करने का आरोप लगाया। नई कहानी और साठोत्तरी दौर में यह बहस जैसे-जैसे आगे बढ़ी, बिम्बों-प्रतीकों और काव्यात्मक भाषा का प्रयोग करते हुए कहानी लिखने का चलन भी बढ़ता गया। निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, रघुवीर सहाय, दूधनाथ सिंह आदि की काव्यात्मक बिम्बों से युक्त कहानियों के सन्दर्भ में कथा-समीक्षक बटरोही ने काव्यात्मक एप्रोच को 'एक विशेष प्रकार की मनःस्थिति के सिलसिले में उपयुक्त' बताते हुए लक्ष्य किया था कि कालान्तर में इससे एक प्रकार की एकरसता, दुहराव तथा विश्लेषण का ठण्डापन अनुभव होने का ख़तरा हो सकता है। दिलचस्प यह है कि यह ख़तरा अकहानी आन्दोलन में प्रकट होने लगा था लेकिन उसका कारण काव्यात्मक एप्रोच नहीं बल्कि निहायत ग़ैर-काव्यात्मक क़िस्म का, आत्मपरक यथार्थबोध था। बिम्बों-प्रतीकों से लदी यानी कविता के उपकरणों से सुसज्जित होकर भी इस आन्दोलन की कहानियाँ 'एकरस' और 'विश्लेषण के ठण्डेपन' का शिकार थीं। दूसरी तरफ़ रेणु या निर्मल वर्मा की कहानियाँ थीं, जिनमें भाषा की सुगढ़ता में रची-बसी काव्यात्मकता कथ्य और संवेदन से एकाकार होकर विलक्षण सौन्दर्य जगाती लगती थीं। ज़ाहिर है, रेणु या निर्मल वर्मा के अनुभव-संसार में ही यह काव्यात्मकता कहीं बीज-रूप में मौजूद थी। अपनी सुघर भाषा से वे उसे पोसते-सींचते

रहे।

कहा जा सकता है कि काव्यात्मकता सिर्फ़ बिम्ब-प्रतीक आदि काव्य-उपकरणों का प्रयोग करने-भर से नहीं आ जाती यानी वह सिर्फ़ भाषा से नहीं रची जाती बल्कि यथार्थ की अँदरूनी तहों में मौजूद काव्यात्मकता भाषा के उकेरने पर स्वयं प्रकट होती है।

भाषिक सौन्दर्य के स्तर पर उपजी काव्यात्मकता का उत्कृष्ट रूप जयशंकर प्रसाद के बाद रेणु या निर्मल वर्मा की कहानियों में दिखाई दिया था। काव्यात्मक एप्रोच के साथ कहानी लिखने वाले आज के कथाकार भी कमोबेश यही पद्धति अपनाते हैं। मगर इन सभी कहानीकारों के निजी व्यक्तित्व की छाप उनकी कहानियों में इतनी स्पष्ट है कि प्रत्येक के गद्य की स्वतन्त्र पहचान है। फिर भी उनमें निहित काव्यात्मकता की दो विशेषताएँ अनायास ही ध्यान आकर्षित करती हैं। पहली तो यह कि वे कथाभाषा को काव्यभाषा के क़रीब ले जाने का प्रयत्न करते हैं। दूसरी यह कि बिम्ब-प्रतीक-लय-रूपक आदि काव्योपकरणों का उपयोग करने के अलावा वे सूक्ष्म पर्यवेक्षण से बुने वस्तु-संसार को भाषा की ख़ास लय में पिरोना पसन्द करते हैं। बारीक़ वर्णन में खिल कर भाषा विलक्षण ढंग से काव्यात्मक हो उठती है। कहानी में यह नई क़िस्म की काव्यात्मकता है जो काव्योपकरणों की मुहताज नहीं।

यह भी देखा जा सकता है कि काव्यात्मकता को लेकर कुछ कथाकारों के प्रबल आग्रह के बावजूद हिन्दी कहानी में काव्यात्मक एप्रोच से रचना करने की कोई रूढ़ि विकसित नहीं हुई है। ऐसे कथाकार कम ही हैं जो काव्यात्मक भाषा का प्रयोग करते हों। वे सुखद अपवाद-सरीखे हैं। ज़्यादातर यही देखने में आता है कि सरपट भागते यथार्थ का पीछा करती दो आँखें जो कुछ सहेज पाती हैं, वही कहानी होती है। सीधी-सपाट गद्यात्मकता के समतल रास्ते पर चल पड़ी इस विधा को मानों अब इन्हीं दो आँखों के सहारे अपनी मंज़िल तक पहुँचना है, जहाँ जीवन की विडम्बनाओं से भरा मर्मक्षेत्र नहीं, संघर्ष की आँच में तपता कर्मक्षेत्र पसरा हुआ है। लेकिन कहानी के पास उसकी तीसरी आँख होती है जो जीवन के मर्मक्षेत्र की ओर नज़र डालती है और उस अचीन्हे सच की झलक पाती है जो दो आँखों से प्रायः दिखाई नहीं देता। अज्ञेय ने जब कहानी में कवि-दृष्टि की भूमिका को रेखांकित किया था तो वे दरअसल इस तीसरी आँख की ओर ही संकेत कर रहे थे।

अज्ञेय के लिए कवि-दृष्टि का महत्व मानवीय संवेदन की पहचान करने वाले एक सर्जनात्मक उपकरण के रूप में है। वे इस बात से क्षुब्ध थे कि 'कवि न होना, कवि-दृष्टिन रखना, कहानीकार का सबसे बड़ा गुण माना और सिद्ध किया जाता है।' कवि-दृष्टि के अभाव में वे मानवीय संवेदन की पहचान को प्रायः असम्भव मानते थे। 'मेरी प्रिय कहानियाँ' संकलन की भूमिका में उन्होंने लिखा कि 'अगर मानवीय संवेदन पर बल देना ठीक है तो मेरे लिए यह मानना असम्भव हो जाता है कि कवि-दृष्टि कहानी-लेखन में बाधक होती है।' इसके उलट उन्हें यह मानना संगत लगता था कि

'कहानीकार के अन्य गुणों से सम्पन्न व्यक्ति में कवि-दृष्टि भी होने पर वह अधिक महत्वपूर्ण कहानी-लेखक हो सकता है—अधिक महत्वपूर्ण—भले ही अधिक सफल या प्रभावी नहीं—और अधिक टिकाऊ—कालजयित्व की दीर्घतर अर्हता लिए हुए।' स्पष्ट है, अज्ञेय ने कहानी के महत्वपूर्ण और टिकाऊ होने पर ज़ोर दिया है, सफल और चर्चित होने पर नहीं। उनकी दृष्टि में वह कहानी महत्वपूर्ण है जिसमें टिकाऊपन हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि कहानी के टिकाऊपन का सम्बन्ध संवेदन की अचूक पहचान से है जो कवि-दृष्टि से ही सम्भव है। सिर्फ़ काव्यात्मक डिक्शन को प्रयोग से कहानी महत्वपूर्ण या टिकाऊ नहीं हो जाती।

अज्ञेय के लिए कहानी के टिकाऊपन का पैमाना है, उसे दुबारा पढ़ने की इच्छा। नामवर सिंह ने भी कहानी को बार-बार पढ़ने की आवश्यकता पर बल दिया है ताकि उसके मूल आशय तक पहुँचा जा सके। लेकिन अज्ञेय जिन कहानीकारों को दुबारा पढ़ने को उत्सुक हुए वे सिर्फ़ संयोग से नहीं, अपनी रचनात्मक प्रतिश्रुति से कवि थे। विशुद्ध कहानीकारों कहानियों से प्रभावित होने के बावजूद, वे स्वीकार करते हैं कि, 'सहज प्रवृत्ति से उन्हें दोबारा पढ़ने की इच्छा' कम ही महसूस होती थी। कवियों की लिखी कहानियाँ उन्हें महत्वपूर्ण लगती थीं। इस तरह अज्ञेय 'कवि-कथाकार' की अवधारणा निर्मित करते हैं, जो कि वह स्वयं थे। अचरज नहीं कि भारत के महान कहानीकारों में उन्हें पहला नाम कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर का सूझता है। यह भी अचरज की बात नहीं कि 'पूर्वग्रह' पत्रिका से जुड़े बुद्धिजीवियों ने कविता के प्रति पूर्वग्रहों के चलते जब कवियों द्वारा लिखी कहानियों के ही महत्वपूर्ण होने का आग्रह किया था तो दरअसल वे अज्ञेय की तरह आत्म-औचित्य का ही तर्क ढूँढ रहे थे और उसके सत्यापन के लिए कवि-कथाकारों की कहानियों को 'कहानी की दूसरी परम्परा' में परिगणित करने का उत्साह प्रदर्शित कर रहे थे। यह दूसरी परम्परा तो स्थापित न हो पाई लेकिन आत्म-औचित्य के जिस तर्क के सहारे उसे प्रतिष्ठित करने की कोशिश की गई थी ठीक उसी तर्क के चलते कवीतर कहानीकार कहानी में काव्यात्मक एप्रोच का विरोध कर रहे थे। उन्हें डर था कि यदि विरोध न करते तो शायद काव्यात्मकता को कहानी के रचनाशास्त्र का सर्वोपरि प्रतिमान और उसकी उत्कृष्टता का पहला लक्षण घोषित कर दिया जाता। इसलिए एक सुरक्षात्मक उपाय के तौर पर वे काव्यात्मकता का निषेध करने लगे। राजेन्द्र यादव तो इसे अन्ध निषेध की सीमा तक ले जाते हैं।

दूसरी ओर कहानी के टिकाऊपन को लेकर अज्ञेय भी थोड़ा अतिवाद से काम लेते जान पड़ते हैं। उनका पैमाना उनके निजी पूर्वग्रह की देन और किंचित आत्मपरक दृष्टि का नतीजा है। लेकिन कवि-दृष्टि की सर्जनात्मक क्षमता पर उनके विश्वास को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। न ही इस सचाई से इन्कार किया जा सकता है कि कवि-दृष्टि कहानी को टिकाऊ बनाती है। अलबत्ता कवि-दृष्टि पर कवि-कहानीकारों के एकाधिकार को मान्य कर लिया जाये तो कहना होगा कि विशुद्ध कहानीकारों की सृजनशीलता का कोई मूल्य नहीं है। पूछा जा सकता है कि क्या प्रेमचन्द की कहानियों

में कवि-दृष्टि का नितान्त अभाव है? भावुकता या मार्मिकता यदि भाषा की सतह पर उतराने की बजाये कहानी की भीतरी स्थितियों में निहित होकर एक कसमसाहट के साथ फूट पड़ रही हो तो क्या यह कवि-दृष्टि का परिणाम नहीं? ऐसी कहानियों को भी दुबारा पढ़ने की इच्छा हो सकती है। सिर्फ़ इसलिए नहीं कि वे कवि की कहानियाँ होंगी या काव्य-उपकरणों स सुसज्जित होंगी, बल्कि इसलिए कि उनके भीतर सक्रिय कवि-दृष्टि कहीं गहराई में जा कर कथा या जीवन-वास्तविकता के किसी रहस्य या अर्थ को उद्घाटित कर रही होगी। इसे अज्ञेय भी स्वीकार करते हैं। इसलिए पूछते हैं कि कहानी को दुबारा पढ़ने की यह इच्छा क्या इस बात का प्रमाण नहीं है कि 'उसने यथार्थ के एकाधिक स्तरों के संकेत दिये हैं जो पहले वाचन में उद्घाटित नहीं हो गये हैं?' वे भले ही विशुद्ध कहानीकार की रचना को दुबारा पढ़ने के लिए अरुचिकर पाते हों लेकिन इधर अनेक लोगों ने प्रेमचन्द की कहानियों के पुनर्पाठ किये हैं और उनमें अर्थ के नये स्तर खोजे गये हैं। अज्ञेय ने ठीक कहा है कि बहुस्तरीय, जटिल और गुथीले यथार्थ के 'अनुरूप उसका बहुविध दर्शन या साक्षात्कार भी सम्भव है और मैं मानता हूँ कि ठीक यहीं कवि का योग हो सकता है—कवि-दृष्टि ही ऐसा साक्षात्कार कर सकती है।' प्रेमचन्द के पुनर्पाठ में यदि यथार्थ के नये अर्थ खुलने की सम्भावनाएँ बन रही हैं तो अज्ञेय के ही मताबिक यह कवि-दृष्टि का करिश्मा नहीं तो और क्या है?

अपने बहुस्तरीय यथार्थ और उसके अर्थ-विस्तार की अनेक सम्भावनाओं के साथ स्मृति में देर तक ठहरने वाली टिकाऊ कहानी भी आख़िर 'डेटेड' होती है। अज्ञेय को भी अपने आदर्श कथाकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियाँ 'डेटेड' लगी थीं। लेकिन उन्हें यह भी लगा था कि उनकी कहानियों में 'जहाँ एक साथ ही कालग्रस्त और कालजित का साक्षात्कार होता है, वहाँ यह भी दीख जाता है कि जो डेटेड हुआ है वह बहिरंग है, तंत्र, भाषा, शब्दावली, मुहावरे, सामाजिकता आदि का है, और जो अब भी मर्म को छूता है या दोबारा न्यौतता है, वह अन्तरंग है, मानवीय संवेदन में बद्धमूल है और उसी को उद्वेलित करता है।' स्पष्ट है, अज्ञेय भाषा और संवेदन—बहिरंग और अन्तरंग—के एकत्व पर ज़ोर देते हैं। लेकिन उनका यह आग्रह भी स्पष्ट है कि कहानी का मूल रसायन उसके अन्तरंग में छिपे संवेदन में है जिसे कवि-दृष्टि ही उकेर पाती है।

कालबद्धता यथार्थ का अनिवार्य गुण है, कालजयित्व कहानी का अतिरिक्त गुण। प्रेमचन्द की कहानियाँ उनके अपने समय की वास्तविकताओं को प्रतिबिम्बित करती हैं। इसी अर्थ में वे कालबद्ध या डेटेड हैं कि जिस औपनिवेशिक यथार्थ के भीतर खलबलाते समय को वे मूर्त करती हैं, वह प्रेमचन्द का अपना समय है। लेकिन जिस सचाई का साक्षात्कार वे करती हैं वह मनुष्य की नियति के एक ऐसे पहलू का स्पर्श करती है जिससे हम आज भी संवेदित होते हैं। कवि-दृष्टि मानवीय संवेदन के उस बिन्दु को छूती है जो किसी और देश-काल-सन्दर्भ में भी अपनी आन्तरिक दीप्ति से

जगमगा उठे। वह ऐतिहासिक वास्तविकता को कलात्मक सत्य में बदल देती है। यही कवि-दृष्टि का चमत्कार है कि ऐतिहासिक वास्तविकता के बीत जाने पर भी कलात्मक सत्य की चमक फीकी नहीं पड़ती। प्रेमचन्द के घीसू-माधव जैसे चरित्र आज अवास्तविक जान पड़ते हैं लेकिन एक अमानवीय सामाजिक व्यवस्था में जीने की वेदना को जिस मुहावरे में वे मूर्त करते हैं वह अब भी अर्थपूर्ण हैं। यह भूल कर कि घीसू-माधव हमारे अपने समय के नहीं, प्रेमचन्द के समय के चरित्र हैं, हम उनकी वेदना में शामिल हो लेते हैं। क्या उन चरित्रों की वेदना से जुड़ जाना ठीक वही अनुभव नहीं जिसे अज्ञेय ने 'कालग्रस्त और कालजित का साक्षात्कार' कहा है? क्या कहानी के बहिरंग और उसके अन्तरंग की एकता का अनुभव उसी तरह नहीं किया जाता? यह एक लिरिकल संयोग का बिन्दु है। कहानी के साथ गीति-तत्व का 'प्राणों के सदृश्य साभ्य' मानने वाले कथाकार विभूतिभूषण बन्दोपाध्याय ने इस बिन्दु को 'आलोकपात का क्षण' अकारण ही नहीं कहा है।

इस बिन्दु को उसकी असाधारणता में पकड़न की क्षमता के कारण कवि-दृष्टि को 'शिव का तीसरा नेत्र' कहा गया है। उसे ही 'प्रतिभा' के रूप में जाना जाता है। संस्कृत के आचार्य कहते हैं कि प्रतिभा अज्ञात का 'साक्षात्कार' करने के साथ सृजन भी करती है, सौन्दर्य को पहचानती है। काव्यशास्त्र में दो तरह की रचना-दृष्टियों—'वस्तुस्वरूप को देखने वाली दृष्टि' और 'प्रातिभ दृष्टि'—की चर्चा की गई है। इनमें अनिवार्यतः विरोध नहीं है। कुंतक ने दोनों को अपनी-अपनी जगह सही और 'वंदनीय' कहा है। दोनों ही सृजनशीलता की सम्भावनाएँ खोजती हैं। लेकिन वस्तुस्वरूप को देखने वाली दृष्टि जहाँ वस्तु के बाहरी रूप को 'वाणी से उकेर' देती है' वहीं प्रातिभ दृष्टि 'चीज़ों के भीतर छिपे सार-रूप अगोचर तत्व को वाणी से बाहर खींच लाती है।' यथार्थ के 'सार-रूप अगोचर तत्व' पर एकाग्र इस प्रातिभ दृष्टि को कवि-दृष्टि मानें तो असंगत न होगा। वस्तुस्वरूप को देखने वाली दृष्टि और प्रातिभ दृष्टि के इस वर्गीकरण को ध्यान में रखकर आज की कहानियों को देखें तो पूरा परिदृश्य दो तरह की ध्रुव-स्थितियों में विभक्त नज़र आता है। पहली क़िस्म की रचना-दृष्टि का परिणाम आज की ढेरों रपटनुमा और वृत्तान्तपरक कहानियाँ हैं जबकि प्रातिभ दृष्टि के सहारे वास्तविकता की तहों तक जा कर उसके सार-तत्व की खोज करने वाली कहानियाँ बहुत थोड़ी मिलेंगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रातिभ दृष्टि के अभाव में कहानी का अपसरण अनिवार्य हो उठता है। लेकिन उसके योग से बेशक कहानी में कसाव पैदा होता है। उसका यथार्थ संघनित हो उठता है। उसमें शाब्दिक मितव्ययिता सम्भव होती है।

लेकिन कहानी में काव्य-तत्व का प्रयोग और कवि-दृष्टि का अन्तर्निवेश, दोनों अलग-अलग बातें हैं। काव्य-तत्व मूलतः भाषा के उपकरण हैं, जबकि कवि-दृष्टि कहानी के वस्तुतन्त्र को भेद कर उसके मर्म को छू लेने वाला आयुध। हिन्दी कहानी में बिम्ब, प्रतीक, गीतिमयता या संगीतधर्मिता को भाषा की लय में पिरो कर मर्मस्पर्शी

क़िस्म की काव्यात्मकता पैदा कर उसे काव्यात्मक संवेदना (पोएटिक सेंसिबिलिटी) के रूप में जाना जाता है। लेकिन कवि-दृष्टि का प्रश्न इससे कहीं अधिक व्यापक प्रश्न है। कहानी की रासायनिक क्रिया का वह सबसे महत्वपूर्ण घटक है। उसके स्पर्श से वंचित होकर अच्छी कहानी शायद ही लिखी जा सके। यानी कहानी काव्यात्मकता से नहीं, कवि-दृष्टि से निर्मित होती है। काव्यात्मकता कहानीके बहिरंग का गुण यानी भाषिक संयोजन है मगर कवि-दृष्टि का लक्ष्य तो कहानी का अन्तरंग है जहाँ अनुभव का संयोजन (ओरिएंटेशन) कुछ इस तरह होता है कि वह कवि-दृष्टि के स्पर्श से कहानी का रूप ले लेता है। सम्भवतः इसी सचाई को पहचान कर देवीशंकर अवस्थी ने 'बाहर से भीतर की ओर गमन' को आधुनिक कहानी का प्रमुख लक्षण माना था या विजय मोहन सिंह ने 'अंडरटोन' की चर्चा शिल्प या मुद्रा नहीं, जीवन-दृष्टि के रूप में की थी। कवि-दृष्टि वस्तुतः भीतर की सूक्ष्मता को रेखांकित करती है। वह यथार्थ का सत्व ढूँढती है। अनुभव के आन्तरिक तर्क की खोज करती है।

अनुभव के आन्तरिक तर्क स कवि-दृष्टि के इस रिश्ते को नज़रअन्दाज़ कर दिया जाये तो काव्यात्मकता को भावुकता का पर्याय मानना आसान हो उठेगा और कवि-दृष्टि का आशय डबडबायी आँखों की धुँधली नज़र-सरीखा कुछ होगा। अनुभव के आन्तरिक तर्क की अनदेखी कर यथार्थ के चाल-चलन पर नज़र रखने के कारण ही काव्यात्मकता को कहानी के लिए बेमेल और कवि-दृष्टि को निरर्थक समझा जाता है। यही आज का प्रचलित नज़रिया है। नज़रिया बदलेगा तो कहानी भी बदलेगी।

काव्यात्मक अप्रोच का होना या न होना, कहानी की समस्या नहीं है। कवि-दृष्टि का अभाव अवश्य एक समस्या हो सकती है। कोई यदि 'कवि-दृष्टि' शब्द से ही बिदकता हो तो 'कलात्मक दृष्टि' या 'रचना-दृष्टि' कह ले—क्या फ़र्क़ पड़ता है? महत्व की चीज़ विधा नहीं, संवेदना है। आख़िर कहानी और कविता तो सहजात विधाएँ हैं। उनके चेहरे-मोहरे में नहीं तो चाल-चलन में, कुछ तो समानता होगी। सबसे महत्वपूर्ण समानता शायद यह है कि दोनों के पास एक तीसरी आँख भी होती है। वही यथार्थ के उलझाव को देख सकती है।

इतिहास के साथ घुआ-घुऔव्वल

त्रासदियाँ सिर्फ़ ख़बर नहीं होतीं। वे कहानियों को भी जन्म देती हैं। पहले वे ख़बर बनती हैं, फिर समय बीतने के साथ क़िस्सों में ढलने लगती हैं। ख़बर की वस्तुनिष्ठ और सूचनात्मक वास्तविकता को क़िस्से-कहानी की आत्मनिष्ठता और रंजकता में उतारने का उद्यम कल्पना और स्मृति के इलाक़े में होता है। सुदूर इतिहास में घटित महाजलप्लावन से लेकर भारत-विभाजन तक की घटनाओं के चिह्न हमारी स्मृति में कथा बन कर ही सुरक्षित हैं। कथा में द्रवीभूत होने पर ही इतिहास का सच स्मृति की प्याली में समा पाता है। कल्पना उसे रंजक और बोधगम्य बनाती है, उसकी उद्दाम तात्कालिकता का शमन करती है। ग़ौर करें कि ख़बर का यथार्थ घटित होते ही, यानी स्मृति में घुसने से ठीक पहले—वर्तमान और अतीत की संधिरेखा पर—अपनी वस्तुसत्ता के साथ प्रकट होता है। सर्जनात्मक कल्पना उसे अतीत में अवस्थित कर कहानी में बदल देती है। इस तरह से समझें तो कहानी वर्तमान को अतीत बनाने की कला है। शायद यही वजह है कि कहानी में सब-कुछ भूतकाल में होता है। वह वर्तमान का बोझ लिए चलती है और उसे भूतकाल में उतार कर हल्की हो जाती है। बोझ हल्का न हो तो वह रपट बन कर रह जायेगी।

यूँ तो पुराने कथाकारों ने अपने समय की वास्तविकताओं को ही कहानी का विषय बनाया है लेकिन आज की कहानियों को पढ़ कर लगता है कि नये कथाकार अपने समय को लेकर कहीं ज़्यादा सजग हैं। इसलिए इन कहानियों में वर्तमान का बोझ भी ज़्यादा भारी जान पड़ता है। रोज़मर्रा की छोटी-छोटी सचाइयों को संवेदनात्मक प्रक्रिया में देखने की बजाये वे समाजशास्त्रीय प्रक्रिया की संगति में देखती हैं। इसके चलते उनका वर्तमान प्रायः समसामयिक की तरह दिखाई पड़ता है और स्वभावतः बहुत वाचाल लगता है। दिलचस्प यह है कि समसामयिकता की वाचाल भंगिमाओं से बचने की ख़ातिर ही आज की कहानियाँ अपने समय की बड़ी घटनाओं को छूने की कोशिश नहीं करतीं। (यह शिकायत जब-तब की जाती है कि हिन्दी का लेखक अपने समय में घटित होने वाली सच्ची घटनाओं—मसलन भोपाल-गैस-त्रासदी, बाबरी मस्जिद-ध्वंश, 1984 के दंगे, सुनामी-त्रासदी या गुजरात-नरसंहार आदि—के प्रति प्रायः उदासीन रहता है।) इसमें सीधा ख़तरा यह होता है कि घटनाओं की तात्कालिकता का आवेग सूचना की प्रक्रिया में यथार्थ को कुछ इस तरह से प्रक्षिप्त करता है कि समाजशास्त्रीय या संवेदनात्मक प्रक्रियाएँ प्रायः स्थगित हो जाती हैं या गौण हो उठती हैं। मगर इससे भी बड़ी कठिनाई शायद यह है कि हिन्दी-लेखक का कर्मक्षेत्र अमूमन उसकी लिखने

की मेज़ है, वह जगह नहीं, जहाँ घटनाएँ घटती हैं और जहाँ पहुँच कर लेखक भोक्ता नहीं तो प्रत्यक्षदर्शी की तरह उनका सीधा साक्षात्कार कर सकता है। यह संयोग ही था कि विभाजन की त्रासदी पर आधारित ज़्यादातर कहानियों के लेखक स्वयं उस त्रासदी के शिकार थे। उन कहानियों में अख़बारीपन नहीं है तो इसलिए कि उनकी संवेदना की सघन बुनावट वस्तुतः लेखक के प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम है। दूसरी तरफ़ हिन्दी में साम्प्रदायिक दंगों पर लिखी गई अनेक कहानियाँ रपटनुमा मालूम पड़ती हैं। वे प्रायः अख़बारी वृत्तान्तों और निर्बल कल्पना की उपज हैं। कहने की ज़रूरत नहीं है कि ख़बर को कहानी में ढालना ख़ासा जोखिम का काम है। इस वजह से समसामयिक घटनाओं पर यदा-कदा लिखी गई रचनाएँ यह कह कर रद्द की जाती रही है कि उनके भीतर का अनुभव अधपका रह गया है और वे तात्कालिकता से मुक्त नहीं रह पाई है। आशय यह होता है कि लेखक अपने समय को लिखे और समसामयिकता से बचा भी रहे। यह गुड़ के बिना गुलगुला बनाने की माँग है। अगर यह कठिन है तो फिर क्यों न गुलगुले से ही परहेज़ किया जाये। तात्कालिकता से बचने के लिए समसामयिक घटनाओं से परहेज़ किया जाता है। लेकिन इसके लिए जो सर्जनात्मक उपाय अपनाये जाते हैं उनकी एक बड़ी ख़ामी यह है कि समाजशास्त्रीयता का तात्कालिकता के विकल्प की तरह देखा जाता है जबकि वह दरअसल समसामयिकता का ही तार्किक विस्तार है। मज़े की बात यह है कि छोटे-छोटे दैनंदिन अनुभवों के समाजशास्त्रीय संयोजन में कहानी को ढालने के पीछे यथार्थ की समसामयिकता के निवारण का तर्क नहीं दिया जाता; उल्टे यह समझ लिया जाता है कि समाजशास्त्रीयता वस्तुतः समय का सामना करने की रचनात्मक पद्धति है।

समसामयिकता से बच कर समय का सामना करने की चुनौती प्रिंट और दृश्य-माध्यम के समकालीन उभार को देखते हुए और भी कठिन मालूम पड़ती है। इन माध्यमों ने घटनाओं की तात्कालिकता का चुस्ती से इस्तेमाल करते हुए उनकी आख्यानात्मक सम्भावनाओं को फ़ौरी उत्तेजना में बदल डाला है और मीडिया-रपट को कहानी का विकल्प तक कहा जाने लगा है। कहानी की संवेदना रपट की सनसनी के आगे फीकी पड़ गयी है। इस स्थिति को कहानी के अस्तित्व के संकट की तरह भी देखा जा रहा है। ऐसे में कहानी आत्मरक्षा की ख़ातिर रपट बन जाये तो क्या अचरज? कुछ लोग इसे कहानी विधा की नियति—उसका स्वानुकूलन या पुनर्जीवन प्राप्त करने की कोशिश—कहेंगे। लेकिन मुझे लगता है, यह संकट का सामना नहीं, उससे पलायन होगा, क्योंकि संकट उतना भीषण नहीं है, जितना समझा जा रहा है। पलायन का औचित्य सिद्ध करने के लिए संकट को बढ़ा-चढ़ा कर बताया जाता है।

कहानी की असल चुनौती उसके सामने खड़ा समय है। यूँ तो समय हर छोटे-बड़े मानवीय अनुभव में प्रतिबिम्बित होता है लेकिन कभी-कभी वह आपदाओं, विभीषिकाओं और दुर्घटनाओं के रूप में ऐसी आक्रामकता के साथ प्रकट होता है कि उससे पीछा छुड़ाना मुश्किल होता है। पहले वह विस्फोट के साथ ख़बर बनता है, फिर

क़िस्सों-कहानियों में बदल जाना चाहता है। वह इतने प्रचंड वेग से उठता है कि एक उद्दाम तात्कालिकता में उसकी शक्ति फूट पड़ती है। ख़बरों-रपटों में यही दिखाई देता है। लेकिन सर्जनात्मक साहित्य में समय के तात्कालिक आवेग को थामने वाली विवेक-दृष्टि होती है जो उसके भीतर की संवेदना को सार्वभौमिक धरातल पर प्रतिष्ठापित करती है। देश-विभाजन पर लिखी मंटो, भीष्म साहनी, मोहन राकेश की कहानियों में मानवीय संवेदना का यही धरातल उद्घाटित हुआ है। समसामयिकता की उठान पर धरातल पर स्थगित हो उठती है।

तात्कालिकता को सार्वभौमिकता से स्थगित करने की समस्या ही ख़बर को कहानी में बदलने की समस्या है। कहना आसान है कि 1984 के दंगों, बाबरी मस्जिद-विध्वंस, गुजरात के नरसंहार या सुनामी की त्रासदी के अख़बारी वृत्तान्त बहुतायत से उपलब्ध होने के बावजूद उन पर ढंग की कहानियाँ क्यों नहीं लिखी गईं, लेकिन यह समझ पाना क्या वाक़ई आसान रहा है कि इन विभीषिकाओं ने मानव-सम्बन्धों में किस तरह से उथल-पुथल पैदा की है? कहानी इस उथल-पुथल को जानने की कोशिश करती है, बजाये त्रासदी के सटीक चित्रण के। यह संयोग-भर नहीं है कि साम्प्रदायिकता को लेकर लिखी गई वे ही कहानियाँ ध्यान आकृष्ट कर सकी हैं जो दंगों के ब्यौरे देने के बजाये त्रासदी की नृशंसता के बीच संवेदना के मानवीय स्रोतों की तलाश के संकेत देती हैं। स्वयं प्रकाश, भीष्म साहनी, हृदयेश की ऐसी कुछ कहानियों को इस सिलसिले में याद किया जा सकता है। अमानवीयता और हिंसा के बरअक़्स प्रेम और सौहार्द्र को या वहशीपन की पृष्ठभूमि में मासूमियत को रख देने से उत्पन्न विडम्बना को अक्सर कथा-रूढ़ि की तरह इस्तेमाल किये जाने के बावजूद यदि ये कहानियाँ मर्म को छूती हैं तो कहना होगा कि इस कथा-रूढ़ि में निरन्तर ताज़गी और पुनर्नवता मौजूद है।

विजय की कहानी 'ख़बरों से परे....तथागत' इस ताज़गी का एहसास कराती है। गुजरात में 2001 में हुए भूकम्प की पृष्ठभूमि पर लिखी गई इस कहानी की रचना और भूकम्प की घटना के बीच समय का अन्तराल बहुत कम है। यह त्रासदी की ख़बरों और उनसे पैदा हुई सनसनी के डूब जाने के पहले लिखी गई है लेकिन ख़बर और उत्तेजना को बड़े कौशल से कथात्मक संवेदना में संयोजित करती है। यह साबित करती है कि किसी घटना को कथा में उतारने के लिए कथाकार के भीतर उसके पकने का लम्बा इन्तज़ार करना अनिवार्य नहीं है बल्कि उसके भीतर उदित संवेदना की किरणों को आतिशी शीशे में पकड़ने की दरकार होती है; तात्कालिकता इसमें बाधक नहीं बनती। यह कहानी रपट की तरह शुरू होती है। भूकम्प के बाद मलबे का ढेर, दबी हुई लाशें, बचाव और राहत के काम, सामूहिक दाह-कर्म, विदेशी सहायता और आपदा-प्रबन्ध के तमाम अख़बारी ब्यौरे इसमें हैं। त्रासदी बीतने के बाद लालच और लूट, बचाव और राहत में पक्षपात और वर्गभेद और भ्रष्टाचार के संकेत हैं। स्थानीय लोगों का मलबों के पास तटस्थ दर्शकों की तरह आना और मीडिया की स्कूप-

लोलुपता है। इन तमाम सूचनाओं और ब्यौरों में नितान्त प्रत्याशित दृश्यावली है जो अमूमन रपट के रूप में आया करती है। इनमें समय मुखर है। यह मुखरता और सूचनाओं की वस्तुपरक भंगिमा उन्हें इतिहास की प्रामाणिकता देने में सक्षम है। ऐसी प्रामाणिकता कथा के स्वभाव के अनुकूल नहीं होती। प्रत्यक्ष इतिहास का सामना करने की कोशिश में इस तरह यह कहानी एक जोखिम मोल देती है। जोखिम यह कि इतिहास कहीं उसे दबोच न ले।

मगर इतिहास को छू कर यह कहानी फ़ौरन उससे दूर भाग जाती है। इतिहास पीछे-पीछे दौड़ता है, कहानी उसे छकाती है और आख़िर तक उसके स्वयं को छूने नहीं देती। छुआ-छुऔव्वल के इस खेल में कहानी मानवीय सम्बन्धों की गुंजलक के भीतर छिप जाती है। इतिहास उसे देखता रह जाता है। इतिहास की तात्कालिकता की छुअन लेकर कहानी अन्ततः मानवीय संवेदना की सार्वभौमिकता में शरण पाती है।

'ख़बरों से परे...तथागत' कहानी भी यही करती है। भूकम्प के प्रकट-प्रत्याशित विवरण देने के बाद उसकी पृष्ठभूमि में वह अपने चरित्रों की निजी त्रासदियों और जीवन-विडम्बनाओं का खुलासा करती है। पाँच मंज़िला इमारत पारीख-भवन के किराये से ऐश करने वाले अधेड़ नरेश पारीख का इकलौता किशोर पुत्र तरुण अपने पिता से नफ़रत करता है। पिता की युवा पत्नी अर्पिता को वह माँ का दर्जा देने को तैयार नहीं है। वह उसे बा कह कर पुकार नहीं सकता। वह अर्पिता और उसके प्रेमी को कायर समझता है। नरेश पारीख ने सवर्ण अर्पिता को वाघेला लड़के से बचाने के नाम पर उससे शादी की है जबकि सचाई यह है कि मयंक को धमका कर अर्पिता के भाई ने उसे नरेश पारीख के हाथों बेच दिया है। तरुण अपने पिता से इसलिए भी नफ़रत करता है कि उसने अर्पिता से शादी के बाद निर्मला बेन नाम की प्रौढ़ स्त्री को रखैल भी रख लिया है। निर्मला बेन अपनी सत्रह साल की बेटी के साथ नरेश पारीख के दिये फ़्लैट में रहती है। निर्मला बेन से अर्पिता भी नफ़रत करती है।

पारीख भवन भूकम्प में ढह गया है। उसके मलबे में नरेश पारीख का शव दबा पड़ा है। अर्पिता भी घायल है। इस संकट में तरुण ने मयंक को याद किया है। मयंक भूकम्प की रिपोर्टिंग करने बड़ौदा से अहमदाबाद आया है। मयंक तरुण से कहता है कि अर्पिता को होश आ जाये तो रात किसी अच्छे होटल में शिफ़्ट कर जायेंगे। तरुण और अर्पिता नरेश पारीख की मौत के बाद बेघर और बेसहारा हो चुके हैं। तभी सामने से निर्मला बेन आती दिखाई देती है। तरुण के लिए यह अप्रत्याशित है। वह हतप्रभ है। मयंक को लगता है, अगर अर्पिता होश में रहती तो निर्मला बेन को मारने के लिए कूद पड़ती। निर्मला बेन तरुण को सांत्वना देती है। फिर अपने फ़्लैट के काग़ज़ात और चाबी उसे सौंप देती है। तरुण की सारी कड़वाहट ग़ायब है। निर्मला बेन लौट जाती है। उसके मुड़ते ही तरुण उससे कुछ कहना चाहता है, मगर शब्द गले में अटक कर रह जाते हैं। मयंक को लगता है, तरुण निर्मला बेन को बा कह कर पुकारना चाहता है। वह सोचता है, अर्पिता निर्मला बेन को दुश्मन समझती है, पर निर्मला बेन तथागत

की तरह अपना सब-कुछ सौंप कर चूँ चली गई है मानों उसे किसी चीज़ की दरकार ही न हो।

तरुण, अर्पिता, मयंक और निर्मला बेन-जैसे चरित्रों के आपसी जीवन-द्वन्द्व में यह कहानी मानव-सम्बन्धों की जिस भूलभुलैया में दाख़िल होती है, उसके भीतर संवेदना के अप्रत्याशित रूपाकार प्रकट होते हैं। यहाँ इतिहास का प्रवेश निषिद्ध है इसलिए वह पृष्ठभूमि की तरह रह जाता है। देश-काल कहानी में चरित्रों की गति और गतिविधियों का कारक होता है, निर्धारक नहीं। इतिहास उन्हें प्रेरित करता है, पर उनकी नियति तय नहीं करता। अच्छी कहानी ऐतिहासिक नियतिवाद से बचती है इसलिए पात्रों और चरित्रों में कहीं-न-कहीं 'अप्रत्याशित' या 'अबूझ' तत्व होता है। निर्मला बेन का व्यवहार अप्रत्याशित ही नहीं, प्रायः अबूझ भी है लेकिन उसकी नैतिक संवेदना अकस्मात उसे एक ऐसी उदात्तता प्रदान करती है कि उसका स्पर्श पाते ही तरुण भी भीतर से बदल जाता है। कहा जा सकता है कि यह गुजरात के भूकम्प की नहीं, निष्ठुर त्रासदी में मानवीयता के स्रोतों के बचे रहने की—सम्बन्धों की स्वार्थपरता और लिप्सा से उपजे तनाव के बीच अनुराग-विराग के विलक्षण द्वन्द्व की कहानी है। निर्मला बेन की नैतिक संवेदनशीलता को कहानीकार यूँ ही रेखांकित नहीं करता। तरुण की असहाय मनोदशा, मयंक का अन्तर्द्वन्द्व अपर्णा की निरीहता और निर्मला बेन के भीतर उमड़ती संवेदना के ज़रिए यह कहानी मानव-व्यवहार और सम्बन्धों के विन्यास में हुए फेरबदल को जिस तरह एक भीषण दुर्घटना के परिप्रेक्ष्य में समझने की कोशिश करती है, उसके घटनात्मक ब्यौरे देश-काल में अवस्थित होने के बावजूद वह अपनी मानवीय अपील में सार्वभौमिक है। निर्मला बेन की चारित्रिक ऊँचाई बेशक भूकम्प की तबाही की ख़ास परिस्थितियों में मुमकिन होती है लेकिन उसकी उदात्त संवेदना की पहुँच या उसकी अर्थव्याप्ति या उन परिस्थितियों तक सीमित है? क्या वह अपने तात्कालिक इतिहास को फलांग नहीं होती? यहाँ इतिहास उसे छू लेना चाहता है, मगर कहानी उसकी पहुँच से दूर चली जाती है—संवेदना के इलाक़े में।

स्पष्ट है, जो लोग अपने समय की बड़ी घटनाओं से कथाकार के संवेदित न होने की शिकायत करते हैं, वे अक्सर भूल जाते हैं कि कहानी में घटनाएँ नहीं, उनके भीतर धड़कता जीवन (हमुमन एसेंस) महत्वपूर्ण होता है। इतिहास की स्थूलता को अपनी संवेदनात्मक सूक्ष्मता से और उसकी तात्कालिकता को अपनी सार्वभौमिक अपील से कहानी के भीतर का जीवन-तत्व ही प्रति-संतुलित करता है। वह इतिहास की खरोंच से उभर आई ख़ून की लक़ीर को पोंछता है। कहानी दरअसल इतिहास की वस्तुगत सचाइयों से उपज कर उनसे मुक्त होने की कसमसाहट है। इतिहास की पहली छुअन के साथ भीतर समा गई तात्कालिकता को वह स्मृति में संजोती है और इस प्रक्रिया में उससे मुक्त होने की चेष्टा करती है। इस प्रकार इतिहास की वाचालता संवेदना के अन्तःस्वर में घुल जाती है। 'टोबा टेक सिंह', 'अमृतसर आ गया है' या 'मलबे का मालिक' जैसी कहानियाँ संवेदनात्मक प्रक्रिया के चलते देश-विभाजन के ऐतिहासिक

यथार्थ की कहानी न रह कर उस यथार्थ से उपजी मानवीय नियति की कहानी बन जाती है। संजीव की कहानी 'ज्वार' भी इस यथार्थ से जन्मी है लेकिन विभाजन के इतिहास का ब्यौरा न दे कर वह उसकी पीड़ा को मार्मिक ढंग से उकेरती है। धर्म और राष्ट्रीयता के राजनीतिक गठजोड़ और उसकी मानवद्रोही प्रकृति के विरुद्ध यह मानव-प्रेम को प्रतिरोध के उपकरण की तरह प्रयोग में लाती है। उसकी संवेदना धर्म, जाति और राष्ट्रीयता के राजनीतिक घेराव को ही नहीं, कलात्मक संघटन के स्तर पर देश-काल की घेराबन्दी का भी अतिक्रमण करती है। दूधनाथ सिंह ने इसे संकीर्ण इतिहासवाद से मुक्त होकर दो स्त्रियों के भीतर की वर्जनाओं के निर्बन्ध हो उठने की कहानी माना है। उनके भावपूर्ण आलिंगन से उत्पन्न संवेदना की काव्यात्मक उठान में, सच कहा जाये तो, विभाजन के इतिहास का सच बिला जाता है। यह संयोग-मात्र नहीं है कि मौसी की वेदना को संजीव ने 'घड़ियाल के जबड़े में फँसी बकरी की मिमियाहट' के काव्यात्मक बिम्ब में रूपायित किया है। यह ऐसी युक्ति है जिससे कहानी इतिहास का सामना करते हुए उसे कविता की लय में संयोजित करती है। इस तरह से वह इतिहास की तात्कालिकता से मुक्त भी होती है। ऐसे ही एक काव्यात्मक बिन्दु पर 'ख़बरों से परे...तथागत' की निर्मला बेन अपनी सुख-सम्पदा का त्याग कर निष्क्रमण का मार्ग अपनाती है। जिस समाजशास्त्रीय वास्तविकता को उगाहने की अपेक्षा कहानी से की जाती है, वह इसी बिन्दु पर कलात्मक वास्तविकता में रूपान्तरित होती है। स्वयं प्रकाश की कहानी 'पार्टीशन' तो समाजशास्त्रीय वास्तविकता को ही निर्ममतापूर्वक कलात्मक वास्तविकता की तरह पेश करती है। भारत में उदारवादी मुसलमान की विडम्बना को जिस आकस्मिकता के साथ यह कहानी उद्घाटित करती है, सहसा वह कलात्मक युक्ति बन जाती है और इस तरह उदारवादी मुसलमान की सामाजिक नियति विलक्षण ढंग से कलात्मक वास्तविकता में रूपान्तरित हो उठती है। इतिहास इसी पद्धति से कहानी में तब्दील होता है। अपने समक्ष घटित इतिहास की समसामयिकता और उसके फ़ौरी आशयों की काट-छाँट के बाद उसे सार्वजनीन संवेदना और मानवीय सरोकारों के दायरे में खड़ा कर कथाकार अपने प्रत्यक्ष अनुभव को ऐसी समकालीनता देता है जिसका अर्थ, इतिहास के चुम्बकत्व के वश में, समय की सतह पर ठहर नहीं गया हो बल्कि उस पर तरल धार बन कर बह रहा हो। समकालीनता का अर्थ ठहराव नहीं, निरन्तरता है—रचना के ऐतिहासिक आशय की निरन्तरता।

फ़र्ज़ कीजिए कि दशकों बाद जब 'टोबा टेक सिंह', 'मलबे का मालिक', 'ज्वार' या 'ख़बरों से परे...तथागत' आदि कहानियाँ पढ़ी जायेंगी तो क्या वे उन मानवीय त्रासदियों को जानने के लिए पढ़ी जायेंगी जिनकी ऐतिहासिक वास्तविकता पर वे स्वयं आधारित हैं? या उन संवेदनाओं के कारण पढ़ी जायेंगी जो घटनात्मक वास्तविकता को इतिहास की ज़मीन पर केंचुल की तरह छोड़ते हुए सरक आती हैं? संवेदनाओं की अर्थ-दीप्ति में क्या उनका मूल इतिहास-भूगोल या देश-काल सचमुच ओझल हो जायेगा? या फिर इतिहास तब भी उनका पीछा करता रहेगा और उससे

बचने की फ़िराक़ में कहानी तब भी उतनी ही बेचैन होगी? 'पूस की रात' को आज पढ़ने पर क्या ऐसा नहीं लगता कि उसका नायक आज के किसान की नियति से एकमेक होकर भी अन्ततः औपनिवेशिक भारत का किसान है? यानी इतिहास के तात्कालिक सन्दर्भों से छुटकारा पाने और व्यापक मानवीय संवेदना के आलोक में जीवन-सत्य को उद्घाटित करने के तमाम प्रयत्नों के बावजूद अपने समकालीन पाठ में 'पूस की रात' का यथार्थ अन्ततः कालबद्ध (डेटेड) यथार्थ है। सामन्ती-औपनिवेशिक यन्त्रणा से त्रस्त हल्कू अपनी आत्महारा लाचारी और निपट गँवई फक्कड़पन में शरण लेता है। लेकिन नव-औपनिवेशिक कुचक्र का शिकार आज का किसान इस फक्कड़पन से वंचित होकर अपनी असाध्य लाचारी में आत्महत्या का मार्ग चुनता है। यदि आज के किसान और हल्कू की नियतियाँ किसी एक बिन्दु पर मिलती जान पड़ती है तो कहना होगा कि 'पूस की रात' में संवेदना की सार्वभौमता पूरी तरह इतिहास-मुक्त नहीं है।

कहा जा सकता है कि कहानी इतिहास के आकर्षण-विकर्षण के बीच एक संतुलन-बिन्दु पर, भूस्थिर कक्षा में पृथ्वी से एक ख़ास दूरी पर स्थित उपग्रह की तरह, सम्भव होती है। लेकिन यह रूपक शायद इतिहास और कहानी के बीच के रिश्ते की बखूबी व्याख्या नहीं करता—उसकी एक आदर्श स्थिति की तरफ़ इशारा ज़रूर करता है : 'पूस की रात' इस स्थिति को सटीक तरीक़े से उदाहृत करती है। लेकिन वास्तविकता यह है कि कहानी अमूमन इतिहास का सामना होते ही उसकी बाँह छू कर दूर भागती है। उसकी जगह उपन्यास होता तो इतिहास से लिपट पड़ता और उसके साथ गलबहियाँ लिए विचरता। मगर कहानी बस एक बार छूती है और इतिहास उसे दाम देने के लिए विवश है। उसके पीछे-पीछे दौड़ता इतिहास दुबारा उसे पकड़ नहीं पाता। पकड़ ले तो कहानी लड़खड़ा कर थम जायेगी। अन्यथा वह इतिहास के पहले स्पर्श की अनुभूति लिए दौड़ती ही जाती है। एक अच्छी कहानी को इतिहास चाह कर भी गिरफ़्त में नहीं ले पाता। कभी दोनों एक-दूसरे की निगाह में होते हैं, कभी ओझल हो जाते हैं। ऐसे की छुआ-छुऔव्वल का खेल चलता है।

कहानी नये पाठ में (१)

कहानी अब वाकई बदल गई है। उदय प्रकाश प्रियंवद, योगेन्द्र आहूजा, मनोज रूपड़ा, भालचन्द्र जोशी, आनन्द हर्षुल, नवीन कुमार नैथानी, जयशंकर, नीलाक्षी सिंह आदि की हाल ही में प्रकाशित कुछ कहानियों को पढ़कर महसूस किया जा सकता है कि कहानी अब नई सज-धज में ही नहीं, नई काया में अवतरित हुई है। इन कहानियों का पाठ पुराने ढंग की कहानियों से बिलकुल भिन्न और इतना नया है कि चकित करता है। विस्मय कभी कविता का गुणधर्म माना जाता था लेकिन आज कहानी के नये पाठ में उसका सौन्दर्यात्मक प्रभाव एक झटके के साथ अपनी विशिष्ट भंगिमा में प्रकट होता है और पुरअसर वृत्तान्त की देह में संघटित हो जाता है। रूपगठन और कथ्य की दृष्टि से इन कहानियों में इतना नयापन है कि चार-पाँच दशक पहले की नई कहानी का नयापन फीका मालूम पड़ता है और लगता है कि कहानी के साथ नई विशेषण जोड़ने में उस वक़्त ज़रा जल्दबाज़ी हो गई। नयी कहानी इतिहास की हड़बड़ी का शिकार हो गई। सही मायनों में कहानी आज नई हुई है। अनायास नहीं कि उसके नयेपन की व्याख्या करने के लिए सुधीश पचौरी उत्साहपूर्वक 'उत्तर यथार्थवाद' पद का प्रयोग करते हैं। इस पद के सटीक होने या न होने को लेकर बहस करने की बजाये फ़िलहाल यह समझने की कोशिश की जा सकती है कि कहानी का यह नयापन किन लक्षणों में प्रकट हुआ है।

सबसे पहले तो यह समझना ज़रूरी है कि नई काट की इस कहानी के साथ-साथ बड़ी संख्या में ऐसी कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं जो यथार्थ के साथ पुराने तरीक़े से बर्ताव करती हैं और सीधी-सरल क़िस्साग़ोई की शैली अपनाती हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि सरलता और सादगी में भी महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखी गई हैं। दूसरी बात यह कि नये पाठ की कहानियों और उनके कहानीकारों की संख्या अपेक्षाकृत कम है फिर भी वे दृश्य पर काबिज हैं। यानी नई शिल्प-विधि अपनाने और नये ढंग से कथात्मक यथार्थ को बरतने के कारण वे चर्चित हुए हैं। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि नये पाठ में कहानियाँ एक-सरीखी नहीं, किंचित विविधतापूर्ण हैं। इन कहानियों की विविधता का कोई सीधा-सपाट वर्गीकरण करना आवश्यक नहीं है लेकिन यह तो देखा ही जा सकता है कि पिछले वर्षों में मुख्यतः वे कहानियाँ चर्चा के केन्द्र में रही हैं जो समाज में घटित हो रही समकालीनता को—प्रत्यक्ष ऐतिहासिक वास्तविकता को—एक ऐसी सर्वसमावेशिता में केन्द्रित करने की कोशिश करती हैं जिसमें हमारी मौजूदा सभ्यता और उसमें मनुष्य की नियति रूपायित हो सके। अपने समय को

लगभग औपन्यासिक महत्वाकांक्षा के साथ समेटने की बेचैनी, इधर पहली बार उदय प्रकाश की कहानियों में दिखाई दी थी। अपने समय की जड़ों तक पहुँचने की कोशिश में उन्होंने वृत्तान्त की नितान्त अप्रत्याशित सम्भावनाओं की खोज की और पुराने कथा-ढाँचे को तोड़-फोड़ कर आश्चर्यजनक कौशल के साथ पुनर्गठित किया। पुरानी काट की कहानियों की तरह उनकी कहानियाँ अपनी समकालीनता को अपने-आप पा नहीं लेतीं बल्कि यथार्थ के भीतर यत्नपूर्वक अपने पाँच धँसा कर अर्जित करती हैं। यथार्थ को छेड़-छाड़ कर वे अपने ढंग से गढ़ती हैं। मुक्तिबोध के बाद शायद वे पहले कथाकार हैं जो सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए इतिहास के बड़े फलक में कथात्मक अनुभव को संयोजित करते हैं और इस प्रयत्न में यथार्थ की जोड़गाँठ करते हैं। मुक्तिबोध की तरह उदय प्रकाश भी कहानी की विधागत पवित्रता की परवाह किये बिना आख्यानेतर युक्तियों का प्रयोग कर उसे सीधे अपने समय को सम्बोधित करने वाले साहित्य-रूप में तब्दील करने का प्रयत्न करते हैं। उनकी कहानियों में अनुभव नहीं अनुभवों की चुस्त गढ़ंत ध्यान आकर्षित करती है। कहानी उनके यहाँ अपने मान्य भूमिका और प्रचलित परिभाषाओं से मुक्त होकर समकालीन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को समझने का बौद्धिक उपकरण बन जाती है। वे कहानी से वह काम भी लेते हैं जो पहले कभी उसके बूते का नहीं रहा।

अपने समय को स्वायत्त करने की बेचैनी में उदय प्रकाश ने जो कथा-शैली विकसित की, वह पूँजी के वैश्वीकरण और उसके चलते सभ्यता के हाशिये पर चले जा रहे मनुष्य की ऐतिहासिक नियति की ओर संकेत करने वाले सामाजिक यथार्थ की जटिल और चंचल मुद्राओं को पकड़ने में समर्थ जान पड़ती है। हाहाकारी यथार्थ को उदय प्रकाश ने वैसी ही हाहाकारी कथा-मुद्राओं में संयोजित किया है। ये मुद्राएँ इतनी सनसनीखेज़, मारक और मोहक हैं कि कुछ प्रतिभाशाली कथाकार भी उनके प्रभाव से मुक्त न रह सके हैं। यह अपने आप नहीं हो गया कि उदय प्रकाश के यहाँ अदम्य जीवनी-शक्ति से भरा हुआ 'टेपचू' जैसा कथानायक 'तिरिछ' के संघर्षरत किन्तु अन्ततः हालात के आगे पस्त होते कथानायक में रूपान्तरित होते दीखता है, और 'पालगोमरा' तक आते-आते लड़ते-थकते और इस तरह हाशिए पर आकर हास्यास्पद बन जाता है। दिलचस्प यह है कि थके-हारे कॉमिक कथानायक की पस्ती और टूटन उदय प्रकाश की कहानी 'मोहनदास' की ही चारित्रिक मुद्रा नहीं है, वह अखिलेश की 'अंधेरा' के नायक का कॉमिक चेहरा बन जाता है या पंकज मित्र के 'क्विज़ मास्टर' की हरकतों में प्रकट हो उठता है। मनोज रूपड़ा की कहानी 'साज-नासाज़' का बूढ़ा कथानायक या उनकी 'टावर ऑव साइलेंस' का पारसी बूढ़ा रोमिंगटन दस्तूर अपनी हताशा में क्या उदय प्रकाश के लड़ते-हारते पालगोमरा और मोहनदास से चारित्रिक तौर पर भिन्न हैं? इधर लिखी गई और भी कहानियों में यदि 'संघर्षरत किन्तु पराजय की नियति के शिकार' कथाचरित्र प्रकट हुए हैं तो कहा जा सकता है कि हमारे दौर का यह सामाजिक लक्षण कहानी के नये पाठ में अनायास ही प्रतिबिम्बित हो रहा है। इस लक्षण को पहचानने

वाले अग्रणी कथाकार उदय प्रकाश हैं। उनकी कथा-शैली का प्रभाव एकदम युवतर कथाकारों पर भी दिखाई देता है। मिसाल के तौर पर नीलाक्षी सिंह की कहानी 'उस शहर में चार लोग रहते थे' में औद्योगिक क्रान्ति और माल्थस का सन्दर्भ जिस बौद्धिक कौशल के साथ कथात्मक वास्तविकता को उद्घाटित करने के लिए इस्तेमाल किया गया है, वह उदय प्रकाश की 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड' के ऐतिहासिक सन्दर्भों और उससे जुड़े विमर्श-प्रयोग की याद दिलाता है। यह बौद्धिक चमत्कार पैदा करने की हसरत ही है कि नीलाक्षी सिंह 'एक था बुझवन' जैसी सुन्दर कहानी में हिप्पोकैंपस का सन्दर्भोल्लेख कर कथा-अनुभव की अनावश्यक व्याख्या करने की कोशिश करती हैं। अपने संश्लिष्ट आख्यानों से उदय प्रकाश ने बार-बार पाठकों को हैरान किया है लेकिन अचरज न होता अगर 'टावर ऑव साइलेंस' या 'उस शहर में चार लोग रहते थे' के लेखक का नाम उदय प्रकाश होता। अपने समय के विद्रूप को निजी तनाव के भीतर महसूस करने वाले मुक्तिबोध ने जब उस विद्रूप को रूपक की भाषा में साकार करने का जतन किया था तब उसमें ऐसी निजता और आत्मपरकता थी कि उनकी सरीखी कहानियाँ लिखी ही नहीं जा सकती थीं। लेकिन उदय प्रकाश ने अपने समय की व्याख्या के लिए संश्लिष्ट वृत्तान्त की अपेक्षया जटिल बुनावट में बिम्बों, प्रतीकों, मिथकों, रूपकों, फंतासियों, सूचनाओं, विश्लेषणों की मिली-जुली और प्रायः वस्तुपरक ढंग की जो भाषा विकसित की है उसे दुहराना कठिन नहीं रहा। दरअसल यथार्थ के भीतरी आवेग को यदि कुशल शिल्प-विधि में बाँधने के लिए कथाकार सचेत और उद्यमशील हो तो जोड़-तोड़ और तकनीकी निपुणता से चुस्त कहानियाँ लिखी जा सकती हैं। लेकिन तकनीकी निपुणता साध ली जाये तो ऐसी चुस्त कहानियों-सरीखी कहानियाँ भी गढ़ी जा सकती हैं। जटिल वृत्तान्त में संजोई गई ऐसी कहानियाँ अनुभव के सहज रूपों में साकार होने की बजाये आकर्षक गढ़ंत बन जाती हैं। उनकी चुस्ती उन्हें चर्चित बनाती है।

योगेन्द्र आहूजा ने भी चुस्त और आकर्षक गढंत में कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियों का पाठ भी सीधा-सरल न होकर ख़ासा जटिल है। वृत्तान्त को वे विलक्षण एकाग्रता के साथ गढ़ते हैं और उसके भीतर समय की वृहत्तर सचाइयों को सँजोने की कोशिश करते हैं। उनकी अपनी ही शैली है। इसमें आख्यान की रचनात्मक सम्भावनाएँ उन मार्मिक स्थितियों और ब्यौरों में छिपी होती हैं जो आख्यान की लीक से यूँ तो छिटकी हुई या असंगत जान पड़ती हैं (इसलिए एक नज़र में आख्यान कुछ अस्पष्ट लग सकता है) लेकिन कथानक से उनकी आन्तरिक संगति के संकेत उन्हें अर्थपूर्ण बनाते हैं। 'ग़लत' कहानी में सर्वेश्वर की मौत के रहस्यपूर्ण संकेत और मित्रों के मिलन की परिस्थिति में क्या कोई एब्सर्ड-सी विडम्बना दिखाई नहीं देती? योगेन्द्र आहूजा की कहानियों में भी आज के जीवन और समाज को लेकर गम्भीर बौद्धिक टिप्पणियाँ और वक्तव्य हैं लेकिन वे विदग्धता और दक्षता के साथ कहानी के पात्रों की यथार्थबोधक चिन्ताओं के रूप में संयोजित की गई हैं, बाहर से थोपी गई लेखकीय रेटॉरिक्स के

रूप में नहीं। योगेन्द्र आहूजा की कला बारीक़ी से उकेरे गये आख्यान की कला है। प्रत्यक्ष कर्तमान का विद्रूप उनके यहाँ कथा-स्थितियों की तीखी विडम्बनात्मक ट्विस्ट में मूर्त होता है।

कहानी का नया पाठ रचने वाले इन सभी कहानीकारों का कथा-कर्म, ग़ौर से देखें तो, अपने समकालीन जीवन की प्रकट सचाइयों को उनके पीछे सक्रिय ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की संगति में जाँचने-समझने की इच्छा से प्रेरित है। वे कहानी में अपने समय को जैसे निचोड़ लेना चाहते हों। इस कोशिश में कहानी के प्रचलित पाठ को लगभग रद्द कर उसे नये कथ्य के अनुरूप पुनर्गठित करने में कहानीकारों ने अपना समूचा उद्यम झोंक दिया है। उन्होंने एक नई क़िस्सागोई विकसित की है जिसमें घटनाओं, सूचनाओं, वक्तव्यों, टिप्पणियों और तिर्यक कथनों का एक जटिल कोलाज निर्मित होता है। उसकी संश्लिष्टता और बहुरंगीपन पाठक को चकित करता है, एक अप्रत्याशित सौन्दर्यात्मक आघात देता है। यह नई क़िस्सागोई पाठक को अपने साथ बहा नहीं ले जाती बल्कि उसे जबरन खींचती और लगभग घसीटती है। कहानी के साथ चलते हुए पाठक थोड़ा ठहरता है, पीछे लौटता है, आगे बढ़ने की अनिच्छा सिर उठाती है कि तभी कहानी उसे जैसे मंत्रविद्ध करती है, अपने साथ खींच ले जाती है। यह एक नये किस्म का पाठक है जो सिर्फ़ सर्जनात्मक आनन्द के लिए नहीं, बौद्धिक-सर्जनात्मक इच्छातृप्ति के लिए पढ़ता है। नई सजधज की इस कहानी के आगे पुराने ढर्रे का पाठक बौना पड़ जाता है। कहानी के भीतर पसरा विराट् समय उसे घेर लेता है। नई क़िस्साग़ोई कहानीपन को संकट में डाल देती है बल्कि सीधे उस पर हमला करती है। उसे नष्ट कर अपनी चामत्कारिक और बहुरंगी भंगिमाओं से उसकी क्षतिपूर्ति करती है।

कहानी के इस नये पाठ में समय की वर्तमानता को साकार करने की तीखी बेचैनी है। वह इतनी मारक और शक्तिशाली है कि सरलरैखिक कथा प्रवाह की पारम्परिक विधि से, यानी सीधी क़िस्साग़ोई में, कहानी लिखने वाले कथाकार भी उसकी तात्कालिकता की आँच से बच नहीं पाये हैं। अपने समय को जटिल वृत्तान्त में गूँथने की बजाये समय की जटिलता को दीर्घ वृत्तान्तों में खोलने के प्रयत्न इधर लम्बी कहानियों के रूप में प्रकट हुए हैं। वे किसी-न-किसी रूप में नये पाठ की नई वृत्तात्मकता से प्रभावित हैं; बस उसकी जटिलता की जगह वे दीर्घता को अपना लेती हैं। यथार्थ की तात्कालिकता और प्रत्यक्षता को तो ख़ैर वे अंगीकार करती ही हैं। देवेन्द्र अखिलेश, धीरेन्द्र अस्थाना, संजीव ठाकुर, भालचन्द्र जोशी, अवधेश प्रीत, हरिचरन प्रकाश, रवि बुले, शशिभूषण द्विवेदी, राकेश मिश्र आदि—(यह सूची बहुत लम्बी हो सकती है) की कहानियों में इसे सहज ही पढ़ा जा सकता है। अपेक्षाकृत छोटे वृत्तान्तों में भी वर्तमान और उसकी दो टूक तात्कालिकता को अकारण ही कहानी का विषय बनाया गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। या तो इसके पीछे समय का दबाव काम कर रहा है या कहानी के नये पाठ का प्रभाव।

दरअसल नये पाठ में कहानी अनायास ही ढल नहीं गई, न ही वह बिना कारण प्रभावी हुई है। सामाजिक वास्तविकता और उसे गढ़ने वाली भौतिक परिस्थितियों और प्रविधियों से साहित्य-रूप भी कमोबेश प्रभावित होते हैं। 1980 के बाद सामाजिक संचार की उन्नत प्रविधियों ने हमारे आर्थिक-सामाजिक जीवन पर गहरा हस्तक्षेप किया है। बड़ी तेज़ी के साथ हमारे समाज का एक बड़ा हिस्सा पश्चिम के टेकनेट्रौनिक क़िस्म के समाज-सरीखा बनने की प्रक्रिया में है। इस प्रक्रिया की शुरुआत, जैसा कि ज़ाहिर है, 1980 के दशक में हुई। इसके चलते सम्प्रेषण और संचार के नये रूप प्रकट हुए और यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण बदलने लगा। उपभोगवाद, मुक्त बाज़ार, पूँजी, प्रविधि और मुक्त संचार की नई परिस्थितियों में यथार्थ के वास्तविक और आभासी रूप में फ़र्क़ को मिटा दिया है। दोनों परस्पर उलझ गये हैं, इसलिए उसे समझना चुनौती बन गया है। कथात्मक विधाएँ चूँकि सामाजिक वास्तविकता के साथ कहीं अधिक गहराई तक जुड़ी होती हैं, इसलिए नई परिस्थितियों में उनके सामने दुहरी चुनौती थी—जटिल यथार्थ को समझना और संचार के नये उपकरणों-माध्यमों की तुलना में कथात्मक अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावी बनाना। प्रचलित क़िस्साग़ोई और पुराने ढंग के पाठ में इन चुनौतियों को क़बूल करना मुश्किल था। नया पाठ नये यथार्थ की माँग के अनुरूप था। जटिल यथार्थ के लिए अपेक्षाकृत जटिल पाठ। पंकज बिष्ट-जैसे कथाकार तो संचार के नये रूपों के बीच कहानी की अस्तित्व-रक्षा के सवाल को बड़ा सवाल मानते हुए कथा की ऐसी निर्मितियों की वक़ालत कर रहे थे, जिसे नये संचार माध्यम अपने अनुकूल ढाल कर पचा न पायें। ऐसे में सजग-संवेदनशील कथाकारों ने शिल्पगत प्रयोगों और कथात्मक नवाचारों के द्वारा कहानी-विधा को अकल्पित सजगता और अनूठी चुस्ती प्रदान की। उदय प्रकाश की कहानियों को उनके काल-क्रम के अनुसार पढ़ें तो कहानी-विधा के स्मार्टनेस का रहस्य पता लग सकता है। 'टेपचू' का जनवादी क़िस्म का चालू कथा-शिल्प और उसके नायक की अपराजेय जिजीविषा पर ज़ोर अगर 1980 के दशक की शुरुआत के सामाजिक-बौद्धिक परिवेश के अनुकूल था तो यह भी देखा जा सकता है कि 'पाल गोमरा का स्कूटर' से लेकर 'मोहनदास' तक की कहानियाँ उलझती जा रही सामाजिक वास्तविकता के अनुरूप उलझाव के कथाशिल्प में किस तरह समकालीन मनुष्य के हाशिये पर छिटक जाने और सभ्यता के केन्द्र में नृशंस ताक़तों के वर्चस्व क़ायम होने का वृत्तान्त प्रस्तुत करती हैं। सभ्यता के वर्तमान पर एकटक गड़ी नज़रों से उकेरे गये दृश्यों से कहानी का नया पाठ निर्मित हुआ है। यह नई कथा-दृष्टि है जिसने इतिहास को छू कर भागती कहानी को पकड़ कर इतिहास के सामने ला कर खड़ा कर दिया है।

ज़ाहिर है, इस उपक्रम में कहानी की परिभाषा और प्रारूप, दोनों का बदलना तय था। नये पाठ में कहानी 'स्लाइस ऑव लाइफ' से कहीं अधिक है। पहले की तरह वह संवेदना की मार्मिक झलक-भर दे कर नहीं रह जाती, वास्तविकता को विश्लेषित भी करती है। (मसलन विश्लेषण-कर्म के चलते मनोज रूपड़ा की 'टावर ऑव

साइलेंस' को डि-इंडस्ट्रियलाइज़ेशन के मनोसामाजिक इतिहास को मूर्त करने वाली कहानी के रूप में पढ़ा जा सकता है।) अपनी यह नई भूमिका वह खुद तय करती है और पुरानी भूमिका भूल जाती है। वह मनोरंजन की माँग पूरी नहीं करती, बौद्धिक आशंसा के लिए आमंत्रित करती है। कहानी की शास्त्रीय मर्यादाएँ त्याग कर वह अशुद्ध विधा बन जाती है—एक कम्पोज़िट विधा जिसमें अन्यान्य साहित्य-रूप आसानी से घुसपैठ कर सकें, भले ही वह कहानी न रह कर महज़ वृत्तान्त बन जाये। शास्त्रीय नज़र से देखें तो नये पाठ की कहानियों को कहानी कर पाना मुश्किल होगा। ऐसे में उनके कहानीकारों को कहानीकार न कह कर वृत्तान्तकार कहे जाने का चलन शुरू हो जाये तो शायद उन्हें ऐतराज़ भी नहीं होगा। उनकी प्रयागशीलता और अवाँ गार्द प्रवृत्ति शायद उन्हें बेपरवाह बना दे। कहानी जड़ और संकीर्ण विधा नहीं है, लेकिन वह इतनी लचीली भी नहीं है कि कलात्मक अभियांत्रिकी से उसे उपन्यास की तरह इतिहास और वर्तमान के प्रबल आवेग का सामना करने में सक्षम बना दिया जाये। यही वजह है कि कहानी के इस नये पाठ में प्रयोगशीलता का आग्रह अधिक है। अचरज न होगा अगर वह आगे चल कर अल्पावधिक प्रयोग साबित हो। यह अटकल तब तक अटकल ही रहेगी जब तक नये पाठ का चमत्कार और उसका सम्मोजन सक्रिय रहेगा। क्या पता, सभ्यता के नित नये चमत्कारों की संगत में कहानी भी अपने कौशल से निरन्तर चमत्कृत करती रहे।

नये पाठ की सम्भावनाएँ अभी खुली नहीं हैं, जैसे कि नया यथार्थ अभी भली-भाँति खुल नहीं पाया है। उसे खोलने की कोशिश में ही इस नये पाठ की सार्थकता है। नये यथार्थ और उसके पाठ को समझने के पीछे जो संकल्प है, उसे योगेन्द आहूजा की एक कहानी की कुछ पंक्तियाँ शायद अच्छी तरह से व्यक्त करती है—'वह विचारों और सपनों की विदाई का वक़्त था, और सब विचारवान, स्वप्नलीन व्यक्तियों के एक-एक कर जाने का, जिसके बाद बचेगा हमेशा के लिए, चटख रंगों वाला चिरंतन वर्तमान, सर्वदा एक-सी धूप, एक-सी भीड़ बाज़ारों में—और सूर्य आकाश के बीचोंबीच स्थिर हो जायेगा और दुनिया की सारी घड़ियाँ रुक जायेंगी।' सच कहा जाये तो नया यथार्थ और कहानी का नया पाठ, दोनों ही 'चटख रंगों वाले चिरंतन वर्तमान' की अतिक्रामक उपस्थिति का परिणाम हैं। योगेन्द्र आहूजा की टिप्पणी में निहित किंचित हताशा का स्वर नये यथार्थ और नये पाठ की चारित्रिक पहचान का स्वर है। नये पाठ के अवसादग्रस्त कथाचरित्रों के कण्ठ में यह स्वर अनायास ही नहीं बस गया है। नये पाठ की तमाम प्रतीकवत्ता और उसकी फंतासियों में हताशा के यही छायाभास उभरते हैं। नया पाठ 'चटख रंगों वाले चिरन्तन वर्तमान' के संकेतों (सिमुलेशन्स) को पकड़ने की बेचैन कोशिश है।

कहानी नये पाठ में (२)

कहानी का नया पाठ नये यथार्थ का परिणाम है। पूँजी और प्रौद्योगिकी के निर्बाध प्रसार और उनके व्यापक गठजोड़ के चलते पिछले कुछ दशकों में समाज बहुत तेज़ी से बदला है। उसका जाना-पहचाना ढाँचा आर्थिक पुनर्गठन के सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव में इतना बदल गया है कि तमाम मानवीय कार्यकलाप एक नये सामाजिक दायरे में घटित हो रहे हैं। इसके भीतर चारों तरफ़ मुनाफ़े की हवस में चौकस मौजूद हैं। यह पल-पल बदलता, लुभाता, चौंधियाता बाज़ार है जो समाज का स्थानापन्न बन चुका है। समाज में विषमता पहले भी थी लेकिन नये ढंग के इस समाज में विषमता न सिर्फ़ बढ़ रही है, बल्कि वह असहनीय भी हो गई है। हाशिए के लोग मरने के लिए छोड़ दिये गये हैं। हाशिये की संस्कृतियाँ, जीवन-शैलियाँ और जीव-जन्तु भी नष्ट हो जाने को अभिशप्त हैं। दूसरी तरफ़ पूँजी, प्रौद्योगिकी और बाज़ार अतिविकास की अवस्था में है। समूचा भूमण्डल उनकी माया के प्रभाव में है। यही नया यथार्थ है। मानव-सभ्यता के अनियन्त्रित विकास का नतीजा यह नित्य परिवर्तनशील यथार्थ है। उसके स्वभाव और बनावट दोनों में उसके बदल जाने को महसूस किया जा सकता है। बदलाव को समझने के लिए सामाजिक विज्ञान और दर्शन में अपूर्व बेचैनी है। नये यथार्थ की संगति में जीवन-शैलियाँ बदल रही हैं और मनुष्य का मनोसामाजिक बर्ताव भी। इसका सीधा असर सर्जनात्मक कलाओं पर पड़ा है। यह अनायास नहीं है कि पिछले दस-पन्द्रह वर्षों से हिन्दी साहित्य के केन्द्र में वैश्वीकरण का एजेंडा है। वैश्वीकरण और नये यथार्थ से उसके सम्बन्ध पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। वैश्वीकरण ने सभ्यता को अप्रत्याशित गति दी है। इस गति के आगे मनुष्य भौंचक है, निरीह है।

कहानी के नये पाठ में भौंचक और निरीह मनुष्य की छवियाँ हैं। यथार्थ उस पर हर पल हमला कर उसे दबोच ले रहा है। यह ऐसा यथार्थ है जिसे समझने के लिए अनेक विशेषण जोड़े गये हैं—बहुस्तरीय, बहुमुखी, अपकेन्द्रिक, बहुध्रुवीय गत्वर, चंचल, मायावी, आभासी आदि—फिर भी कहा जाता है कि उसे जानना उत्तरोत्तर कठिन हो रहा है। यह समय की ठीक पर सवार सभ्यता के तीव्र गति से गुज़रने और उसकी चपेट में आकर चीख़ रहे लोगों के दृश्यों से बना यथार्थ है। कहानीकार तेज़ भागते समय की छवियों को ही तो पकड़ने की कोशिश कर रहा है। कहानी का नया पाठ इसी कोशिश का नतीजा है।

नीलाक्षी सिंह की कहानी 'उस शहर में चार लोग रहते थे' में यह तेज़ भागता

आत्मघाती समय मानों एक हवाई जहाज़ के रूपक में व्यक्त हुआ है जिसे मामूली-से इन्सान द्वारा क़ौम के उन्माद में रिमोट से उड़ा देने का ज़िक्र है—'पलक झपकी, सब ख़त्म। मरने वाला चीख़ तो दूर, एक आधी-पौनी हिचकी भी नहीं ले पाता होगा। एक हाथ से काम तमाम कीजिए। दूसरे से सॉफ़्टड्रिंक्स पीजिए...कूल।' इसके बाद कहानीकार की टिप्पणी है—'यह वक़्त था...इसके साथ चलने के लिए राजा साहब पसीना बहा रहे थे।' समय कहाँ-से-कहाँ पहुँच गया, इसका एहसास राजा साहब को तब होता है जब टी॰ वी॰ स्क्रीन पर डिओडोरेण्ट के एक विज्ञापन में एक अधढकी लड़की को वे शोखी से ऐलान करते देखते हैं—'तन की दुर्गंध अपराध है।' यह वह समय है जिसमें ख़ून बहाने वाला नहीं, पसीना बहाने वाला अपराधी है। यही नये समय का सत्य है। इस सत्य से साक्षात्कार कर राजा साहब विचलित हैं। 'ख़ून बहाना जिहाद यानी धर्म-संस्कृति की रक्षा, धर्मच्युत का नाश करना हुआ। और पसीना बहाना अपराध। उन्होंने अभी तक के अपने बौद्धिक पिछड़ेपन और रैम्प पर क़दम-से-क़दम न मिला पाने पर घोर ग्लानि का अनुभव किया। तब से अक्सर वे दुनिया-दर्शन करते समय अपने सतरंगे स्क्रीन पर बहते ख़ून का रंग एडजस्ट करते पाये जाते।' सभ्यता के उन्माद और उसकी तीव्रता का सामना न कर पाने की विवशता राजा साहब को दिमाग़ी तौर पर निढाल कर देती है। वे अपनी पहचान खो बैठते हैं। ये वही राजा साहब हैं जिन्होंने अपनी चाची की याद में श्वेत संगमरमर से स्मारक, अर्द्धवृत्ताकार स्तम्भ 'माणिक' बनवाने के बाद उसे बनाने वाले कारीगरों की एक उँगली अपनी सामन्ती ठसक में कटवा दी थी। लेकिन नये समय के क्रूरतापूर्ण उलटफेर से वे भी पस्त हैं।

समय का यह स्नायुतोड़ वर्णन, सम्भव है कुछ अतिरंजित मालूम पड़े, लेकिन उसकी तीव्रता, निर्ममता और उसका गत्वर चरित्र निश्चय ही उसे पिछले समय से भिन्न ज़ाहिर करता है, इसमें शायद ही कोई संदेह हो। कई मायनों में यह अवांछित-अप्रत्याशित समय है। राजा साहब इस समय के साथ चलना चाहते थे। सच तो यह है कि हममें से ज़्यादातर लोग समय के साथ चलने की कोशिश में हैं।

'समय के साथ' चलने की क्रिया को फिर से एक रूपक की तरह देखें तो कहा जा सकता है कि कहानी के नये पाठ में कहानीकार की कोशिश आख़िर यही है कि वह समय के साथ चले, उसे कहानी में उतार दे। इसलिए कहानीकार, चाहे रूपक की तरह हो, दृश्य की तरह, सपाट वर्णन में या निबन्धात्मक प्रोक्ति के रूप में हो, समय का पाठ रच रहा होता है। उदय प्रकाश ने अपनी कहानी 'मेंगोसिल' में तो 'प्रलय का प्राक्कथन' के रूप में बाक़ायदा इस समय के चरित्र की व्याख्या की है, जिसमें आख्यान का सत्य फैला हुआ है और जिसमें 'सम्पन्नों' और 'वंचितों' के बीच अन्तर्विरोध को साभ्यतिक यथार्थ की तरह देखा जा सकता है। उदय प्रकाश बताते हैं कि इस अकालपक्व सभ्यता के प्रसार का खामियाजा वंचितों को ही भुगतना है। 'समृद्धों की सभ्यताओं ने जो इमारतें और संस्थान बनाये हैं उनमें सिर्फ़ वही रहते हैं। उनका संविधान सिर्फ़ उनके हितों की रक्षा करता है। उनके काव्यों और आख्यानों की

भाषा हमारे ख़ून, पसीने, शोक-क्षोभ और आँसुओं से लिथड़ी हुई है।' सभ्यता और विकास के इस दारुण अन्तर्विरोध को उदय प्रकाश निपट सामयिक वास्तविकता की तरह नहीं, इतिहास की अटूट निरन्तरता में देखते हैं—'सन् दो हज़ार तीन में अफ़ग़ानिस्तान, इराक़, बोज़्निया में जो हुआ, या बीसवीं सदी के मध्य में हिरोशिमा-नागासाकी, कोरिया-वियतनाम में जो हुआ, या ईसा से दो-ढाई हज़ार साल पहले मोहनजोदरो, हड़प्पा या मेसोपोटामिया में जो हुआ, या अभी इन पंक्तियों के लिखे जाने के पल, क़र्बला, बग़दाद, फ़ज़ल्ला, नजफ, नसीरिया या गाज़ा पट्टी में जो हो रहा है, उससे भिन्न है? या नर्मदा, सोन, बेतवा, कृष्णा-कावेरी, दज़ला, यांग्त्शी, अमेजान, वोल्गा, मिसीसिपी, जोबेजी, थेम्स, नील, सिंधु, गंगा, तुंगभद्रा, कोसी, गंडक आदि तमाम नदियों की घाटी और तटों पर जो हो रहा है, उससे भिन्न है?' इतना ही नहीं, सभ्यता और उसकी मौजूदा परिणति को आख्यान के सिमेंटिक्स में पिरोते हुए उसके निष्कर्षों की पुष्टि के लिए विश्व स्वास्थ्य संगठन और पेंटागन की कथित रिपोर्ट से तथ्य उद्धृत करने-जैसे कथेतर उपायों का प्रयोग कर अन्ततः वे समय को, समकाल को मूर्त करते हैं। आख्यान की वर्तमानता को चरितार्थ करने के प्रयत्न में वे मेंगोसिल की प्रतीकवत्ता को पूँजी के वैश्विक साम्राज्यवाद के साथ विलक्षण ढंग से संदर्भित करते हैं। सभ्यता की बौद्धिक और भौतिक उपलब्धियों में और उसके अप्रत्याशित उत्कर्ष के भीतर उसकी तहों में छिपे प्रलय के बीजाणुओं की ओर इशारा करती इस कहानी के आख्यान को आख्यानेतर युक्तियाँ (डायरी, सर्वेक्षण और रिपोर्ट) पूर्ण करती हैं। उसका अर्थापन करती हैं। इन युक्तियों का स्पर्श पा कर मेंगोसिल अपनी चिकित्साशास्त्रीय यथार्थवत्ता से छुटकारा पा कर अद्भुत कलात्मक वास्तविकता में, एक प्रतीक में रूपांतरित हो जाता है। यह दुहरे अर्थ का भार ढोता प्रतीक है। एक तरफ़ वह आज की सभ्यता की अकल्पनीय दिमाग़ी सक्रियता को व्यक्त करता है जिसका एक नतीजा आत्मघात की ओर प्रेरित करने वाली संवेदनशीलता भी है (सूरी की संवेदनशीलता और उसकी आत्महत्या), दूसरी तरफ़ वह वंचितों के आत्मबोध और उनके प्रतिरोध का प्रतीक भी बन जाता है (सूरी का आत्मघात एक गहरे अर्थ में वर्चस्व की ताक़तों के सभ्यता-विस्तार का प्रतिवाद भी है)। पेंटागन के कथित दस्तावेज़ में छिपे साम्राज्यवाद के पैरानोइया को इस प्रतीकवत्ता में सहज ही पढ़ा जा सकता है। 'अंधेरे में एक कुत्ते से डर कर' भागते आदमी और पेंटागन में फ़र्क़ क्या है?

निबन्धात्मक प्राक्कथन, डायरी, सर्वेक्षण-रिपोर्ट, दस्तावेज़ आदि की सहायता से उदय प्रकाश ने 'मेंगोसिल' में मानवीय जिजीविषा और संघर्ष की एक संश्लिष्ट कथा रची है। यह हमारे जीवित वर्तमान की त्रासद कथा है जिसमें 'पूँजी और सत्ता के हर रोज़ फैलते साम्राज्य की अभियांत्रिकी के बुलडोज़र्स' कमज़ोर आदमी की दुनिया उजाड़ रहे हैं; जहाँ जीने का अर्थ है, दूसरों के लिए श्रम करना। यह श्रम और पूँजी के अलगाव की, श्रम के परकीयकरण की दास्तान है। इसी तरह 'उस शहर में चार लोग रहते थे' में नीलाक्षी सिंह ने इतिहास के विवरणों, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त और माल्थस

के जीवन-सन्दर्भों का उल्लेख करते हुए उस वर्तमान की कथा प्रस्तुत की है जिसमें पूँजी और प्रौद्योगिकी ने मिल कर श्रम को इतिहास से मुक्त कर दिया है और यांत्रिक सभ्यता की गति और भव्यता ने मानवीय संवेदना को सोंख लिया है। नीलाक्षी सिंह ने भी उदय प्रकाश की तरह आख्यानेतर उपायों का सहारा लिया है।

दोनों आख्यानों में कुछ और भी चीज़ें ध्यान खींचती हैं। वर्तमान और उसके यथार्थ पर एकाग्रता, संश्लिष्ट आख्यान, आख्यानेतर उपायों का इस्तेमाल—सब कुछ विलक्षण है। सामाजिक वास्तविकता को इस क़िस्म के अनूठे वृत्तान्तों में सँजोना मामूली कथा-कौशल नहीं है। मगर वृत्तान्त की संश्लिष्टता और उसके संयोजन में इतनी सुघरता है कि लगता है कथा की सहजता इससे प्रभावित होती है। समूचा वृत्तान्त प्रयत्नपूर्वक रचा गया और 'टेलर-मेड' सरीखा जान पड़ता है। ये अपनी विलक्षणता में 'डिज़ाइनर' क़िस्म की कथाएँ हैं। उनका कथात्मक नवाचार शिल्प की अनूठी-अपूर्व विधियों में ज़्यादा प्रकट दीखता है। कथ्य की जोड़-तोड़ में शिल्प का सर्जनात्मक प्रयोग भी ख़ासा वाचाल प्रतीत होता है। मसलन 'उस शहर में चार लोग रहते थे' में प्रभु यीशू के वरदान से माल्थस के पुनरवतरण की फंतासी औद्योगिक क्रान्ति के दौर के यूरोप और भारत के 'उस शहर' के वर्तमान को सुन्दर तरीक़े से सहघटित (सिंक्रोनाइज़) करने के शैल्पिक उपाय की तरह प्रस्तुत की गई है लेकिन पाठक उसमें उलझ जाता है। फिर पंखुरी और भँवरे का प्रसंग, भँवरे की स्वाद-लोलुपता और रंग-लिप्सा के लिए माल्थस की उसे फटकार, और उसके समानान्तर छोटे राजा साहब के यहाँ स्त्री का जाना और चुसकर वापस आने पर माल्थस की प्रतिक्रिया, कि उन्नीसवीं सदी की सरहद पर भविष्य की सुरंग में झाँक कर दिया गया उसका सिद्धान्त अटल है लेकिन प्रतिच्छाया को छाया समझने की ग़लती वह कर बैठा। माल्थस को अनुमान न था कि प्रकृति के विनाश और भोगवाद के प्रसार के साथ मनुष्य का मन बाज़ार में सज-धज कर ग्राहक जुटाने लग जायेगा। इतनी सजग अभिव्यक्ति को महज़ शिल्पगत नवाचार की तरह नहीं देखा जाना चाहिए। नये पाठ की मुश्किल यही है कि शिल्प की सर्जनात्मकता कथ्य के सौन्दर्य पर रंगीन छतरी की तरह तनी रहती है।

ज़ाहिर है, वृत्तान्त की असामान्य और किंचित तिर्यक कथन-शैली नये पाठ की कहानियों की पहचान है। प्रचलित क़िस्साग़ोई में कहानीकार की तटस्थता प्रायः वाचिक परम्परा से प्रभावित होती है। कहानीकार वृत्तान्त या घटनाक्रम में शामिल हुए बगैर उसका असंलग्न प्रेक्षक की तरह वर्णन करता है। अन्य पुरुष में किये गये इस वर्णन या चित्रण में कभी-कभार वह पात्रों या परिस्थितियों को लेकर सामान्य टिप्पणियाँ करता भी है तो फ़ौरन तटस्थ हो लेता है। हिन्दी में नई कहानी के दौर में प्रथम पुरुष के रूप में वृत्तान्त की प्रस्तुति का चलन बढ़ा और साठोत्तरी दौर में तो बहुतेरी कहानियों का मुख्य पात्र 'मैं' हुआ करता था। कहानी 'मैं' के आत्मानुभव का ब्यौरा हो गई। 'मैं' को अनिवार्यतः लेखक का आत्म-रूप नहीं माना जा सकता। लेकिन अकहानी और उसके इर्द-गिर्द के कथा-आन्दोलनों ने एक क़िस्म की छद्म क्रान्तिकारिता की आड़ में

आत्मानुभव का प्रक्षेपण शुरू कर दिया। लेखक और 'मैं' एकाकार हो गये। लेखक तटस्थ न रहा। वही वाचक था। बाद के दौर में समान्तर और जनवादी कहानियों का वाचक सामाजिक यथार्थ के प्रति सजग लेकिन आत्मबोध के मामले में इतना उदासीन था कि उसके पात्र उसकी तरफ़ से बोलने लगे थे। यह बोलना दरअसल लेखक का बोलना भी नहीं था, उसकी मुट्ठियों में क़ैद यथार्थ का बोलना था।

इस दृष्टि से देखें तो आज नये पाठ की कहानियों में लेखक का हस्तक्षेप दो तरह से होता है। कुछ ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें लेखक प्रथम पुरुष की तरह वृत्तान्त का वर्णन करता है, भले ही वह कहानी का मुख्य पात्र न हो, वह घटना-वृत्त में प्रेक्षक या सहभागी की तरह शामिल है। 'मैंगोसिल' के अलावा 'साज़ नासाज़' (मनोज रूपड़ा), 'सिनेमा-सिनेमा' (योगेन्द्र आहूजा) जैसी कहानियों में वह गहरी संलग्नता के साथ कथा-प्रक्रिया का अंग बन कर जुड़ा है। लेखक का समूचा उद्वेग और उत्ताप, उसका सारा 'पैशन' कहानी में उसकी संलग्नता के साथ बद्धमूल है। यह 'पैशन' ही यथार्थ को भयावह और भयावहता को ज़रा अतिरंजनापूर्ण और आवेग-विकल बना देता है। मगर जिन कहानियों में उत्तम पुरुष के रूप में लेखक स्वयं मौजूद नहीं है, क्या वे कहानियाँ लेखकीय उत्ताप और आवेग से मुक्त हैं? अन्य पुरुष की वर्णन-शैली अपनाकर भी लेखक ऐसी कहानियों में तटस्थ नहीं रह पाया है इसलिए प्रत्येक चरित्र या स्थिति को वह अपनी इच्छानुसार निर्देशित करता है, वृत्तान्त को गढ़ंत बना देता है, वास्तविकता को उसकी स्वाभाविक गति में पेश करने की ज़रूरत को नज़रअंदाज़ करता है। कुछ कहानीकार तो सामाजिक वास्तविकता को दुःस्वप्न मान कर चित्रित करने में, उसकी क्रूरता और भयावहता में, रस लेने लगते हैं। कहानी का नया पाठ अत्यन्त उदग्र और सनसनाते मुहावरों की गिरफ़्त में है। यथार्थ की क्रूरता का सामना अगर न किया हो तो नये पाठ की यह दुनिया 'मेक-बिलीव्ह' क़िस्म की मालूम पड़ेगी, ख़ास कर उन्हें जो यह नहीं जानते कि कमज़ोर आज कितनी आसानी से मर जाता है या उसे मार दिया जाता है।

नये पाठ में लेखक यथार्थ को सिर्फ़ 'पैशन' के साथ नहीं पकड़ता, उसे अपेक्षाकृत वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखता-रचता हे। इसलिए वह ठेठ अनुभव का वर्णन कर वास्तविकता के किसी अन्तर्विरोध की कौंध दिखला कर नहीं रह जाता। अनुभव के विकल्प के तौर पर वह यथार्थ की गढ़ंत निर्मित करता है। गढ़ंत वस्तुतः बड़े परिप्रेक्ष्य में सामाजिक वास्तविकता को देखने-समझने की लेखकीय चेष्टा का नतीजा है। लेखक उसे बड़े परिप्रेक्ष्य में इसलिए देखना चाहता है क्योंकि स्वयं सामाजिक वास्तविकता उसे इसके लिए बाध्य करती है। बड़े परिप्रेक्ष्य में देखी गयी वास्तविकता शायद छोटे-छोटे अनुभव में समा नहीं पाती। वह लेखक को निर्देशित करने, उसे गढ़ने लगती है। तब यथार्थ के शिकंजे में फँसा लेखक अपनी जान छुड़ाने के लिए यथार्थ को ही चंगुल में ले लेता है और उसकी गढ़ंत (कॉनकॉक्शन) निर्मित करता है। इस जद्दोहद में अगर लेखक का अँदरूनी तनाव कहानी के भीतर से आवेग और उत्ताप के रूप में फूट पड़े

तो यह स्वाभाविक ही है।

सच कहा जाये तो वास्तविकता के निपट स्थानीय रूपों ने जिस तरह से इधर वैश्विक आयाम हासिल कर लिया है, 'लोकल' और 'ग्लोबल' का फ़र्क़ मिट-सा गया है; ऐसे में लेखक अनुभव के देश-काल को नये सिरे से समझने को मजबूर है। वास्तविकता को 'स्थानीय' और 'तात्कालिक' सन्दर्भों में पहचानने के साथ ही वह उसे 'वैश्विक' और 'ऐतिहासिक' आयाम में भी देखना चाहता है। इसलिए वह एक बड़ा परिप्रेक्ष्य निर्मित करता है जिसकी संगति में अपने कथात्मक अनुभव को सँजो सके। इस तरह सँजोने के प्रयत्न में अनुभव की ऐसी प्रोसेसिंग होती है जो उसे निरा अनुभव नहीं रहने देती, गढ़ंत में बदल देती है। ग़ैर-यथार्थवादी तरीक़े से स्वायत्त हुई वास्तविकता का गढ़ंत में बदल जाना स्वाभाविक है।

ज़ाहिर है, गढ़ंत की रचना में अनुभव के परिप्रेक्ष्य की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। परिप्रेक्ष्य प्राप्त होता है आधुनिक ज्ञानानुशासनों से। कहानी के नये पाठ में कथाकार प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन से अर्जित दृष्टि का सर्जनात्मक उपयोग-भर नहीं करता बल्कि अध्ययन से प्राप्त तथ्य-सामग्री का कथा के कच्चे माल की तरह—ईंटें जोड़ने के लिए मसाले के समान—इस्तेमाल भी करता है। नये ढंग की कहानियों की यही ख़ासियत सबसे पहले ध्यान खींचती है कि उसमें प्रायः ऐसे आख्यानेतर विवरण हैं जिनका सम्बन्ध आधुनिक शास्त्रों से है। लोककथा, मिथक, किंवदंती, रूपक आदि पारम्परिक कथा-रूपों का प्रयोग तो हिन्दी कहानी में खूब हुआ है। लेकिन यह पहली मर्तबा है कि इधर अख़बार की कतरनों, सूचनाओं, रिपोर्टों, समाजवैज्ञानिक तथ्यों को कथा की जैविक संरचना में सम्मिलित किया जा रहा है। सम्भवतः ज्ञानवृद्ध सभ्यता के चरित्र को समझने के लिए उसके ज्ञानतन्त्र को भेदना आवश्यक मालूम पड़ता हो। पर इतना तो स्पष्ट है कि कहानी का नया पाठ समाजविज्ञान के साये में है। आश्चर्य नहीं होना चाहिए यदि सामाजिक विज्ञानों की विश्लेषक दृष्टि कहानी को भी प्रभावित करे और वह विमर्श का रणक्षेत्र बन जाये।

इस भूमिका में कहानी बड़े परिप्रेक्ष्य में बड़े सवाल उठा रही है—मनुष्य की नियति के सवाल। दार्शनिक धरातल पर नहीं, ठोस सामाजिक सन्दर्भों के साथ। ये सभ्यता और उसके अतिविकास के बुनियादी सवाल हैं। कभी मुक्तिबोध नहीं 'क्लॉड ईथरली' या 'पक्षी और दीमक' जैसी कहानियाँ लिख कर ऐसे ही सवाल उठाये थे। उसके बाद अब जाकर कहानी सभ्यता-विमर्श का साहस जुटा पा रही है। मुक्तिबोध ने जोखिम लिया था। सभ्यता-विमर्श की चुनौती क़बूल करने के बदले में उनकी कहानियाँ अपनी कहानी-जैसी सुघर काया से वंचित हो गयीं। आज की कहानी भी अपने नये पाठ में, प्रचलित ढंग की कहानियों-जैसी नहीं है। वह विघटित काया में कहानी है। अनिश्चर्यपूर्ण और असंघटित यथार्थ की तरह उसकी संरचना भी बिखरी-बिखरी-सी है। कहीं-कहीं तो वह बदस्वास दिखाई देती है। (हालाँकि इस बिखराव में भी गति-लय ओर वृत्तान्त की विलक्षण सुगढ़ता है) आधुनिक ज्ञानीयता के क़रीब जा कर वह जैसे

शापग्रस्त हो उठी और अपनी झरती हुई काया लिए लौटी है। कहने की ज़रूरत नहीं कि सामाजिक विज्ञान और अन्य आधुनिक शास्त्रों के सन्दर्भों को कथा की संवेदना से जोड़ना उसकी खूबी और ख़ामी दोनों है।

नये पाठ में सामाजिक यथार्थ अपने साभ्यतिक अन्तर्विरोध के साथ स्वभावतः ग़ैर-यथार्थवादी पद्धति से—उतरता है। प्रचलित क़िस्साग़ोई ठिठक जाती है। तेज़ गति से वह बाधादौड़ में दौड़ने के लिए विवश है। अनेक आख्यानेतर युक्तियों को फलाँगते-समेटते जब वह मंज़िल के क़रीब पहुँचती है तो पाठक हाँफने लगता है। आख्यान और उसमें पिरोये घटनाक्रम, फंतासियों, बिम्बों, सूचनाओं, प्रतीकों और कथा-युक्तियों को कथ्य की संगति में बाँचने और उन्हें 'डिकोड' करने की ज़रूरत होती है। इन युक्तियों के भीतर से उपजे अर्थ में सुसंगत अन्यार्थ को ढूँढना होता है। नया पाठ विभिन्न कथा-युक्तियों के संकेतों और व्यंजकों में संयोजित प्रायः दुरतिक्रम्य व्यवस्था बन जाता है। कहानी पढ़ना उन्हें अपकूटित करना है जो कि एक बौद्धिक प्रयत्न है। ज़ाहिर है, कहानी का नया पाठ एक नई सौन्दर्य-पद्धति की माँग करता है। यह संवेदनात्मक ज्ञान की पद्धति हो सकती है। नया यथार्थ अगर सहज संवेदनाओं के भीतर नहीं खुल पाता, मानवीय अनुभव के प्रचलित रूपों में सिमट नहीं पाता, तो स्वाभाविक है कि उसे स्वायत करने के लिए एक बौद्धिक-वैचारिक की ज़रूरत होगी। इसी तरह कहानी के नये पाठ में अवतरित यथार्थ को सहज ऐंद्रिकता में सहेज पाना दुराशा होगी। उसका प्रायः ग़ैर-यथार्थवादी स्वभाव विवश करता है कि उपलब्ध ऐंद्रिकता के बौद्धिक आधार को विस्तृत किया जाये; तभी उसकी जटिलताओं को खोला जा सकता है।

नये यथार्थ की चारित्रिक जटिलता, आक्रामकता, मायावीपन और उसकी गतिमयता, सभ्यता की सूक्ष्म से लेकर भव्य संरचनाओं में प्रकट होती उसकी रहस्यपूर्ण भंगिमाएँ—सब कुछ अत्यन्त सम्मोहक और विस्मयकारी है। कहानी के नये पाठ में भी वह उतना ही जटिल, बहुरूपी, आक्रामक, गतिमय और विस्मयकारी है। उसे अपनी सीमित और अभ्यस्त ऐंद्रिकता में पकड़ पाने में असमर्थ पाठक चकित होता है—विस्मय-विमूढ़। कहाँ से लाये वह ज्ञानात्मक आधार? आख़िर वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए नहीं, मनोरंजन के लिए कहानी पढ़ता है। कहानी का नया पाठ पुराने ढंग के पाठक को निरस्त करता है। कहानीकार ने निशाना साध लिया है। नये पाठ का लक्ष्य है, नया यथार्थ। सामाजिक-वैश्विक आयामों में गठित यथार्थ। कहानीकार उसे डाल पर बैठी चिड़िया की तरह देखता है। पाठक के लिए चिड़िया की आँख होती है, सिर्फ़ आँख। लक्ष्य-संधान होते ही पाठक के लिए चिड़िया उड़ गई होती है। कहानीकार यथार्थ की उड़ान का आनन्द लेता है। पाठक तो सिर्फ़ चिड़िया की आँख देख रहा होता है।

नये पाठ का यह भी एक सच है।

कहानी नये पाठ में (३)

नया यथार्थ पूँजी और प्रौद्योगिकी का संयुक्त उपक्रम है। जीवन की भीतरी गहराइयों में उसका प्रवेश हो चुका है। कहानी का नया पाठ उसकी दखलंदाज़ी से मानव-सम्बन्धों में हो रही तब्दीली को पकड़ने के साथ ही उसके उद्‌गम और विस्तार को समझने का प्रयत्न करता है। नये यथार्थ में उसकी पहचान की पुरानी रेखाएँ धुँधली पड़ गई हैं, यद्यपि उसके साथ बहुरूपिया, मायावी, आधुनिकोत्तर, उत्तर-औद्योगिक, उत्तर-पूँजीवादी या ऐसा ही कोई विशेषण लगा कर उसकी नई पहचान क़ायम की जा सकती है। लेकिन उसके संसर्ग में या उसे स्वायत्त करने की कोशिश में कहानी के रूप-रंग, भाव-भंगिमा और आचरण में जो तब्दीली आ रही है, उसके चलते उसे कहानी कह पाना संदिग्ध जान पड़ता है। कहानी अपनी पहचान किसी विशेषण की मदद से नहीं पा सकती। इसलिए उसे एक कामचलाऊ अभिधा—नया पाठ—से जानने का प्रस्ताव किया जा सकता है।

नया पाठ दरअसल नये यथार्थ को देखने की नई दृष्टि, नई पद्धति है। पुराना पाठ जहाँ नये यथार्थ के प्रकट रूप—उसकी बाह्य परिणति—को देख पाता है, वहीं नया पाठ उसके भीतर हुए ढाँचागत समायोजन (स्ट्रक्चरल एडजस्टमेण्ट)—उसकी आन्तरिक प्रक्रिया को समझने की कोशिश करता है। मूलतः इसी अर्थ में पुराने और नये पाठ में भिन्नता है। यह भिन्नता वास्तविकता के प्रति भिन्न दृष्टिकोण में ही नहीं, भिन्न आख्यान-पद्धति और भाषिक व्यवहार में भी दिखाई देती है। इसे समझने के लिए 'पहल : ८०' में प्रकाशित दो कहानियों को मिसाल के तौर पर याद किया जा सकता है। ये कहानियाँ हैं—कैलाश चन्द्र की 'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' और मनोज रूपड़ा की 'प्रेत छाया'। कैलाश चन्द्र की कहानी का पाठ संरचना की दृष्टि से पुराने ढंग का है। मनोज रूपड़ा की कहानी नये पाठ में है। दोनों को एक साथा रख कर देखने का मक़सद उनकी तुलना करना नहीं, समकालीन वास्तविकता से साक्षात्कार की दो भिन्न कथा-प्रविधियों को समझने की कोशिश करना है।

'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' कहानी की आख्यान-पद्धति एकरैखिक वृत्तात्मकता की प्रचलित पद्धति है—आदि-मध्य-अन्त वाली सीधी संरचना। 'प्रेत-छाया' भी कमोबेश इसी शिल्प को अपनाती है। आवश्यकतानुसार यह फंतासी का प्रयोग, एकरैखिक संरचना के भीतर, दक्षतापूर्वक करती है। दोनों कहानियों का साझा सन्दर्भ नया यथार्थ है—उत्तर-पूँजीवादी यथार्थ। मनोज रूपड़ा उसकी अँदरूनी परतों में जाते हैं, माफिया-दलाल संस्कृति की हवस और क्रूरता को उद्‌घाटित करने की कोशिश में

उसकी जटिल संरचनाओं को खोलते हैं। कैलाश चन्द्र नये यथार्थ के अनुभव प्रत्यक्ष को फ़ोकस करते हैं, और कारपोरेट संस्कृति के मनोविज्ञान की मार्मिक पड़ताल करते हैं। लेकिन कैलाश चन्द्र की क़िस्साग़ोई में जहाँ सादगी है, धीरज के साथ कहानी कहने और कथ्य को अंडरटोन में सँजोने का सहज कौशल है, वहीं मनोज रूपड़ा की कहानी में उत्तप्त आवेग, तीव्र सनसनी, वास्तविकता की गोपन-परतों को खोलने की बेचैनी और एक ऐसी उदग्रता है कि उसका पाठ असाधारण और उसमें चित्रित वास्तविकता ख़ासी गढ़ी हुई मालूम पड़ती है। इसके अनुरूप भाषिक व्यवहार भी चुस्त-दुरुस्त और सुगठित है। फंतासी के प्रयोग या नायक के व्यक्तित्व में द्विजाजन-जैसे शिल्पगत उपायों से वृत्तान्त को यथासम्भव चामत्कारिक रंजकता देने की कोशिश भी है। कैलाशचन्द्र ने जटिल यथार्थ के एक सीमित आयाम को सरल ढंग समझने की कोशिश की है जबकि मनोज रूपड़ा ने जटिलता को खोलने के लिए उसे जटिल संयोजन में विन्यस्त कर दिया है। यह जटिल संयोजन ही नया पाठ निर्मित करता है। सरलता पुराने पाठ को दुहराती है।

'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' का कथानायक रोहित ग़रीबी और अभाव में पला-बढ़ा प्रतिभाशाली युवक है। अपनी मेहनत और प्रतिभा के बल पर उसने उच्चवर्गीय पृष्ठभूमि वाले एक प्रतिष्ठित संस्थान से एम॰ बी॰ ए॰ की डिग्री हासिल करने के बाद किसी बड़ी कम्पनी में नौकरी पाने की उम्मीद में आवेदन देना शुरू किया। लम्बी प्रतीक्षा के बाद एक कम्पनी से बुलावा आया तो कुछ मामूली कपड़े और दिल्ली की कड़ाके की सरदी से बचने के लिए एक सस्ती जर्किन ख़रीद कर वह ट्रेन में सवार हुआ। रात मानिकपुर जंक्शन में ट्रेन रुकी तो एक अधेड़ भिखारी को बुरी तरह ठिठुरते देख उसका दिल पसीज गया। अपनी जर्किन उसने भिखारी को ओढ़ा दी। दिल्ली में अब उसे मामूली सूती कमीज़ के सहारे ठंड बर्दाश्त करना था। जब इंटरव्यू देने पहुँचा तो उसके बदन पर कोई गरम कपड़ा न था। इंटरव्यू में उसने सारे प्रश्नों के बखूबी जवाब दिये। बोर्ड के सदस्य प्रभावित हुए लेकिन एक सदस्य का ध्यान उसके बेढब जूतों और मामूली कपड़ों की ओर गया। उसने रोहित की वर्गीय पृष्ठभूमि पर व्यंग्य करते हुए सरदी बर्दाश्त करने की उसकी क्षमता की तारीफ़ की। इससे उत्साहित होकर रोहित ने जर्किन गँवाने की घटना का यथातथ्य बयान कर दिया।

लेकिन यहीं उसने भूल कर दी। रोहित को मालूम न था कि उस संवेदनाशून्य और हृदयहीन कारपोरेट जगत में सदाशयता और संवेदना की कोई जगह नहीं थी। बोर्ड ने रोहित के भावुक स्वभाव को कम्पनी के व्यावसायिक हितों के प्रतिकूल मान कर उसे अयोग्य करार दिया। उसका चयन नहीं हुआ। उसे कहा गया कि वह ज़मीनी हक़ीक़त में जीने वाला व्यावहारिक व्यक्ति नहीं है, बल्कि भावनाओं में बह जाता है। यह सामाजिक कार्यकर्ता, दानवीर और नर्स के लिए तो ठीक हो सकता है लेकिन कम्पनी एक्ज़ीक्यूटिव के लिए यह अवगुण है। निराश और थका-हारा रोहित उसी रात यंत्रणापूर्ण मनोदशा और ठण्ड के प्रकोप के साथ वापसी की ट्रेन में सवार हो गया।

अगली सुबह मानिकपुर स्टेशन पर वह उसी जगह मृत पाया गया जहाँ उसने अधेड़ भिखारी को अपना जर्किन ओढ़ाया था।

आधुनिक कहानी का सुपरिचित सर्वज्ञ वाचक (नैरेटर) मूवी कैमरे की तरह हर उस जगह मौजूद है जहाँ कहानी घटित होती है। वर्णन में सादगी, भाषा में सहजता है। शिल्प और संघटन में भी प्रायः यथार्थवादी अकृत्रिमता है जो कहानी को पुराने ढंग की भाव-भंगिमा देती है। लेकिन इसका कथ्य कोरमकोर समकालीन है। प्रत्यक्ष वर्तमान इसकी सतह पर प्रकट है। प्रत्यक्षता के चलते कुछ लोग ऐसी कहानियों को सामयिक विषय की कहानी कह देते हैं। कारपोरेट संस्कृति का उभार यूँ भी हमारे यहाँ नवीनतम यानी समसामयिक घटना है। उसकी सामयिकता प्रत्यक्ष है। सच पूछा जाये तो आज कहानी सामयिक विषय पर केन्द्रित होकर ही नये यथार्थ से अपने को जोड़ पाती है।

नया यथार्थ अपने प्रारब्ध और भवितव्य में प्रायः सामयिक है। इसलिए, पूर्व-प्रचलित हो या नया, प्रत्येक पाठ को वह सामयिक होने के लिए विवश करता है। पुराने पाठ में लिखी गई आज की कहानियाँ भी, कहने की ज़रूत नहीं कि, सामयिक वास्तविकता की कहानियाँ हैं। और कुछ नहीं तो वे समकालीन होने की आकांक्षा में सामयिक सन्दर्भों से जुड़ती हैं। लेकिन नया पाठ सामयिक सन्दर्भों से जुड़ कर ही संतुष्ट नहीं हो जाता। वह समय को समूचा आत्मसात कर लेने की महत्वाकांक्षा का पाठ है। इसलिए वह सतह पर ठिठक कर यथार्थ की छानबीन करने की बजाये उसके स्रोतों तक पहुँच कर गहरी पड़ताल करता है। 'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' कहानी यथार्थ के ऊपरी लक्षणों को पकड़ती है। उन लक्षणों में यथार्थ की झलक दिखाती है। 'प्रेतछाया' उसे गहराई और अपेक्षाकृत वृहत्तर आयामों में पकड़ती है। उसमें यथार्थ का भीतरी तहख़ाना (अंडरवर्ल्ड) खुलता है। वहाँ माफ़िया-दलाल संस्कृति के मेलोड्रामेटिक दृश्य हैं।

'प्रेतछाया' का वाचक स्वयं उसका प्रोटेगोनिस्ट है। वह 'ब्लैक हंड्रेड' नाम के एक माफ़िया संगठन का सरगना है। वह अपने अपराधों का वृत्तान्त प्रायः आत्मस्वीकृति (कन्फ़ेशन) की मुद्रा में प्रस्तुत करता है। वह बताता है कि किस तरह उसने एक ग़रीब प्रतिभावान छात्र को आतंकित और अपमानित कर यूनिवर्सिटी कॉन्वोकेशन में मेडल जीता था। बाद में अपनी गलीज हरकत पर शर्मिंदगी महसूस कर उस छात्र से माफ़ी माँगते वक़्त अचानक न जाने क्या हुआ कि उसे फिर अपमानित कर आया। कथानायक आगे बताता है कि कॉलेज की पढ़ाई पूरी कर वह पिता के कारोबार में हाथ बँटाने लगा। यह सत्ता और नौकरशाहों के संरक्षण में चलने वाले दोहन-उद्योग में राजनेताओं, अधिकारियों और ठेकेदारों के बीच तालमेल बिठाने का कारोबार था। इसमें अकूत कमाई थी और पिता तालमेल बिठाने की कला में माहिर थे। मगर कथानायक ने अपनी आक्रामक शैली से दलाली के इस कारोबार को माफ़िया-संस्कृति की रंगत दे दी। जल्दी ही उसकी धाक जम गई। लेकिन इसकी क़ीमत उसके पिता को जान कर चुकानी पड़ी। इस आघात से विचलित हुए बिना वह धन कमाने और बिलासिता में

डूबा रहा। अब आक्रामकता और हिंसा की जगह उसने विश्वासघात और मक्कारी की रणनीति अपना ली। दिलचस्प यह है कि अपने आपराधिक कृत्यों के लिए वह खुद को नहीं, अपने भीतर छिपे अपने ही प्रतिरूप को ज़िम्मेदार ठहराता था। उसका व्यक्तित्व डॉ॰ जैकल-मि॰ हाइडक्रिस्म के द्विभाजन से ग्रस्त था। वह अपराध करता और ऐय्याशी में डूब जाता। भीतर उसकी आत्मा कचोटती लेकिन पश्चाताप के क्षणों में फिर उस पर एकाएक उसका शैतानी प्रतिरूप हावी हो जाता और उसे अपराध के लिए प्रेरित करता। अपराध-मक्कारी और यांत्रिक विलासिता से ऊब कर एक दिन उसने पाया कि उसका दिल किसी नये थ्रिल, किसी मासूम सादगी के लिए तरस रहा है। वह एक बुर्कानशीन लड़की को प्रोक्योर कर ले आया और उसकी मासूमियत का दीवाना हे गया। उससे पेशेवर समर्पण की बजाये अपने लिए चाहत की उम्मीद करने लगा। लेकिन फिर उसने पाया कि उसके भीतर का शैतान लड़की की देह को नाख़ून से खरोंचने और जलती सिगरेट से दागने लग गया। बाद में पछतावे के क्षणों में जब लड़की के सामने उसने अपने भीतरी शैतान की करतूतों को क़बूल करने की ठानी तो शैतान फिर सक्रिय हो उठा और लड़की को क्रूरतापूर्वक रौंद डाला। अपने ही प्रतिरूप की यह करतूत देख कर कथानायक को भीषण ग्लानि और बेचैनी हुई। अचानक उस शैतान के ख़िलाफ़ उसका विद्रोह फूट पड़ा और किचन में जा कर उसने अपने शरीर में आग लगा ली। वह धू-धू कर जलने लगा।

कहानी के अन्तिम दृश्य में अस्पताल के बिस्तर पर पड़ा कथानायक सोच रहा है कि उसका प्रतिरूप हालाँकि अब दिखाई नहीं देता, मगर ज़रूर कहीं भीतर छिपा हुआ है। अपने तमाम अपराधों के लिए अपने प्रतिरूप को ज़िम्मेदार ठहराते हुए कथानायक उसके काम करने के तरीक़े का बारीक़ी से विवेचन करता है और पाता है कि उसने सारे शैतानी हस्तक्षेप ठीक ऐसे मौक़े पर किये जब कथानायक ने किसी के प्रति कृतज्ञता, प्रेम या दया प्रकट करने की कोशिश की। कथानायक के मानवीय गुणों का उसका प्रतिरूप निषेध करता है। यह कहानी इस सचाई की तरफ़ इशारा करती है कि समकालीन यथार्थ मानवीय गुणों को वर्जित करता है।

यहीं 'प्रेतछाया' कहानी अपने वास्तविक आशय तक पहुँचती है। यह ठीक वही आशय है जिस तक 'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' कहानी भी पहुँचती है। नया यथार्थ मानवीय सरोकारों का अपवर्जन करता है, चाहे वह दलाल-माफ़िया-कारगुज़ारियों में प्रकट हो रहा हो या कारपोरेट-नैतिक संहिता में। 'कारपोरेट मैनेजर को भावुक और संवेदनशील नहीं होना चाहिए' और 'माफिया सरगना धूर्त, हृदयहीन, तिकड़मी, हिंसक और ख़ब्ती होता है'—ये दोनों वाक्य क्रमशः दोनों कहानियों के निष्कर्ष हैं, लेकिन क्या वे एक ही वास्तविकता को व्यक्त नहीं करते? प्रबन्धन, चाहे वह राजनीतिक सत्ता का हो, बिचौलिया तंत्र का हो या कारपोरेट जगत का—निवार्यतः लाभ की हवस और निष्ठुरता को सफलता और दक्षता का गुर मानता है। नया यथार्थ शक्ति के प्रबन्धन से निर्मित हुआ है। नया पाठ शक्ति-प्रबन्धन के विमर्श को निर्मित करता है। प्रबन्धन के

इस गुरुमंत्र का असर कहानी पर भी है। इस लिए हैरानी की बात नहीं है कि कहानी का नया पाठ सामाजिक वास्तविकता को उसकी स्वाभाविक गतिशीलता में पकड़ने की बजाये उसके प्रबन्धन के शिल्प में उद्घाटित करता है। 'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' यथार्थ को उसके सहज प्रवाह में स्वायत्त करती कहानी है, जबकि 'प्रेतछाया' यथार्थ के पुनर्गठन और प्रबन्धन का वृत्तान्त है।

कहानी के पुराने और नये पाठ के बीच अन्तर पर विचार करें तो सबसे पहले यह तथ्य ध्यान खींचता है कि पुराने पाठ में अनुभव के ठोस और मूर्त रूप प्रकट होते हैं जो सन्दर्भों के अपेक्षाकृत व्यापक फ्रेमवर्क में अपने मर्म का विस्तार करते हैं जबकि नये पाठ में अनुभव के बेठोस सिम्युलेशन्स सीधे-सीधे सभ्यतापरक या वैश्विक सन्दर्भों को छूने का यत्न करते हैं। 'प्रेतछाया' का रहस्य और उत्तेजना से भरा अनुभव-लोक कितना ठोस और प्रत्यक्ष है? क्या वह सनसनीखेज़ थ्रिलर या अपराध-कथा सरीखा नहीं लगता? उसकी तुलना में 'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' के नायक रोहित की दुनिया क्या जानी-पहचानी, आँखों-देखी, स्थानीयकृत, ठोस और विश्वसनीय नहीं जान पड़ती? पुराना पाठ यथार्थ को ऐंद्रिक उत्तेजना का विषय नहीं बनाता। लेकिन नये पाठ में यथार्थ विचारोत्तेजना पैदा करने की कोशिश में ऐंद्रिक उत्तेजना भी निर्मित करता है।

पुराने पाठ में अनुभव को सन्दर्भ से जोड़ने का दायित्व पाठक की संवेदनशीलता पर है; कहानीकार सिर्फ़ उसका संकेत करता है। (जैसे कि 'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' के नायक रोहित की विफलता को उसकी वर्गीय पृष्ठभूमि और कारपोरेट जगत की हृदयहीनता से सन्दर्भित करने की सूझ स्वयं लेखक देता है)। लेकिन नये पाठ में लेखक संकेतों में नहीं सीधे ब्यौरे देकर उसे सीधे साभ्यतिक या वैश्विक संदर्भों में देखने का प्रस्ताव करता है। (उदाहरण के लिए 'प्रेतछाया' के कथानायक का यह सोचना कि उसका शैतान-प्रतिरूप कभी मर नहीं सकता, अपना रूप बदल कर वह कहीं भी जा सकता है; कि अपने अन्य वायवीय रूपों के साथ मिल कर वह रूसी सैनिकों की क़ब्र खोद रहा है, कि उसके जैसे और भी बहुत-से भटकते हुए प्रतिरूप हैं जो किसी देश, काल या व्यक्ति की सीमा से बँधे हुए नहीं हैं—ये विवरण पाठक को विवश करते हैं कि वह यथार्थ को अपने परिचित देशकाल और रोज़मर्रा के अनुभव से परे, एक बड़े संदर्भ में देखने का प्रयत्न करे। 'प्रेतछाया' में आत्मघात की कोशिश के बाद बिस्तर पर पड़ा कथानायक देखता है कि उसका शैतान-प्रतिरूप एक अज्ञात देश के राजमार्ग पर क़दमताल करती काली पोशाक वाली सेना के बीच उभर आया है और सारे शहर को मलबे के ढेर में बदल दे रहा है। वह एक बार फिर मिल के गेट पर दिखता है और गेट पर ताला लगाकर लम्बोतरा हैट पहने, चाबी के छल्ले को तर्जनी में घुमाते, भीड़ को हिकारत से देखते, तिलचट्टों को ज़मीन पर रौंदते हुए चल देता है। ऐसे सिलसिलेवार ब्यौरों में, फैंटेसी और स्वप्नकथाओं में रचे मुक्तिबोधीय हॉरर की तरह कथानायक अपना पैरानोइया खुद रचता है और अपने शैतान-प्रतिरूप के सर्वत्र विद्यमान होने का ऐलान करता है। वह बताता है कि शैतान प्रतिरूप व्यभिचार के

अड्डों पर, धर्माचार्यों की संगत में, कालाबाज़ारियों, सटोरियों, कैसीनो-मालिकों, राजनेताओं, नौकरशाहों के साथ कहीं भी हो सकता है। गरज यह कि समूची सभ्यता पर उसकी प्रेतछाया (वैम्पायरिज़्म) डोल रही है।) इस तरह से विस्तृत ब्यौरों में लेखक स्वयं कहानी के आशय का विस्तार, उसकी विवक्षा करता है। इन ब्यौरों की अर्थमीमाँसा करें तो स्थानीय से लेकर वैश्विक परिदृश्य में व्याप्त तमाम दुष्टताएँ इस शैतानियत की ज़द में हैं—अमरीकी साम्राज्यवाद, नग्न फ़ासीवाद, पारराष्ट्रीय आतंकवाद, धार्मिक कठमुल्लापन, सत्ता या तंत्र की तमाम बुराइयाँ यहाँ संकेतों और व्यंजनाओं में मौजूद हैं। वृहत्तर या सीधे वैश्विक परिप्रेक्ष्यों को छूने की आतुरता नये पाठ की कहानियों में प्रायः व्याधि लक्षण की तरह दिखाई देती है। मसलन उदय प्रकाश की कहानी 'मेंगोसिल' मनुष्य की करुण नियति को वृहत्तर सभ्यता-संदर्भ में व्याख्यायित करती है या योगेन्द्र आहूजा की कहानी 'स्त्री-विमर्श' में अमेरिका का प्रासंगिक उल्लेख और चेतना सक्सेना की डाँट खा कर भागते राजाराम वर्मा की पीठ पर शर्ट में उभरा 'यू॰ एम॰ आर्मी' का बिम्ब और चेतना सक्सेना के पति का ग्लोबलाइज़ेशन के धक्के में फलता-फूलता कारोबार—ये सब यथार्थ के ग्लोबल होने की व्यंजना करते हैं।

पुराने पाठ में अगर सादगी, सहजता और वास्तवपरकता है तो नये पाठ में अवास्तव और अतिरंजना की गुंजाइश कम नहीं है। पुराने पाठ में सतह से ऊपर की प्रकट-प्रस्तुत वास्तविकता है तो नये पाठ में यथार्थ के अधोलोक (अंडरवर्ल्ड) की भी तस्वीरें हैं। पुराने पाठ में नायक की विफलता त्रासद है लेकिन नया पाठ विफलता को ट्रैजीकॉमिक भी बना देता है। इतना ही नहीं, नये पाठ में एंटी-हीरो, शीज़ोफ्रेनिक और अपराधी क़िस्म के चरित्रों के नायकत्व की ओर उस नायकत्व के गौरवमंडन की सम्भावना भी विद्यमान है। ग़ौर करें कि 'प्रेतछाया' का नायक मूलतः प्रतिनायक (एंटी-हीरो) है लेकिन कहानी उसकी आत्मस्वीकृतियों और अपराध-बोध से उसकी हिंसक छवि को ढाँक कर वैध बनाने का, एक नैतिक आभामंडल में उसे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करती है। वह अन्तश्चेतना की नैतिक मार से पीड़ित शेक्सपीअरियन ट्रैजिक नायक की तरह है जो जान-बूझ कर अपराध नहीं करता मगर नियति के किसी अबूझ आवेग के वश में 'ट्रैजिक फ्लॉ' का शिकार है। इस ढंग से देखने पर लगता है कि लेखक ने नायक के द्विभाजित व्यक्तित्व की कल्पना ऐसी शिल्पगत युक्ति की तरह की है, जिससे एक ओर नायक के प्रति सहानुभूति और उसके हिरोइक्स के प्रति गौरव-बोध उत्पन्न कर उसे नायकत्व की गरिमा खोने से बचाया जा सकता है तो दूसरी ओर कहानी को चालू क्राइम थ्रिलर बनन से भी रोका जा सकता है। इसके बावजूद यह कहानी जिस तरह की सनसनी-भरी अतिनाटकीयता की रचना करती है, उसकी तुलना में क्राइम थ्रिलर या हॉरर फ़िल्मों का मेलोड्रामेटिक यथार्थ तकनीकी रूप से सुगठित और प्रभावशाली होता है। यूँ भी सिनेमा अपने चाक्षुष तत्व के कारण इस किस्म के मेलोड्रामा के लिए कहीं अधिक स्वाभाविक माध्यम है। 'प्रेतछाया' का वृत्तान्त माध्यम

की इस चुनौती को भी नज़रअन्दाज़ नहीं करता। यह चुनौती सिनेमा के दृश्यों से कथा-प्रसंगों की होड़ लेने की कोशिश में दिखाई देती है। ज़ाहिर है, यह कहानी सिनेमाई पॉपुलिज़्म के तत्वों को रचनात्मक भाषा में उतारने का साहस करती है, हालाँकि उस पर न्यौछावर नहीं हो जाती। चुस्त भाषा, चतुर शिल्प और नये यथार्थ का परिप्रेक्ष्य न होता तो वृत्तान्त के सीधे-सरल और पुराने पाठ में यह कहानी पटरी पर बिकने वाली चालू अपराध-कथा बन कर रह जाती। अनुमान किया जा सकता है कि नये पाठ में कहानी के विकास की दिशा अगर इसी तरह से सनसनी, उत्तेजना, अचम्भा या आकस्मिकता को रचना के एस्थेटिक प्रभाव के रूप में जाग्रत करने की ओर रही तो यह विधा निश्चय ही रहस्य, रोमांच, हिंसा, रुमान आदि के मिश्रण से बना मसाला हो जायेगी। इस तरह वह सामाजिक वास्तविकता का मर्म बताने वाली विधा होने की बजाये ऐंद्रिक फुरफुरी उत्पन्न करने में सक्षम उपकरण बन जायेगी। नये पाठ में आत्मभ्रष्ट होने का जोखिम कम नहीं है। उसकी सफलता कमोबेश पॉपुलिज़्म की सफलता समझ ली जाये तो हैरानी नहीं होनी चाहिए। उसमें चामत्कारिकता, वाक्-स्फीति और किंचित आडम्बर को खपा लेने का गुण अनायास ही नहीं आ जाता।

नये पाठ का यथार्थ अनुभूत वास्तव के ज्ञान तक सीमित न रह कर उसकी गुण-मीमाँसा का आधार भी निर्मित करता है। 'प्रेतछाया' के नायक के भीतर ईविल (प्रेतशक्ति) की मौजूदगी और उसके कारण उत्पन्न पापबोध कहानी के मूल स्वर को आत्मस्वीकृतिपरक (कनफ़ेशनल) बनाये रखता है। शैतान और फ़रिश्ते का द्वैत, आदिपापमूलक ईसाई-धर्मबोध और उसकी एकेश्वरवादी चेतना आधुनिक मानस को प्रायः सार्वभौमिक रूप से और कुछ इस तरह से संक्रमित कर चुकी है कि आज आधुनिकोत्तर शक्ति-विमर्श को समझने के लिए मनोज रूपड़ा-सरीखा पूरबिया लेखक ईसाई (या सेमिटिक) मुहावरों का प्रयोग निस्संकोच कर रहा होता है। यह भी दिलचस्प है कि आज का साम्राज्यवाद अपने एकाधिपत्यवादी शैतानी मंसूबों की ख़ातिर अगर ईसाई धार्मिक शब्दावली का चतुराई के साथ प्रयोग (अफ़ग़ानिस्तान में अमरीकी अभियान के नामकरण—'ऑपरेशन गोल्डन ईगल' और बाद में 'ऑपरेशन इन्फाइनाइट जस्टिस'—में या राष्ट्रपति बुश के ललकार-भरे भाषणों में इसे देखा गया है) करता है तो उसे बेनक़ाब करने वाले प्रतिवादी विमर्श में भी उन्हीं धार्मिक मुहावरों की मदद ली जाये। 'प्रेतछाया' का शैतान सिर्फ़ उसके नायक को उकसाता-बहकाता नहीं, सिर्फ़ उसकी अन्तरात्मा को दो टूक नहीं कर देता बल्कि समूची दुनिया की तबाही का मंसूबा रखता है। इसलिए विनाश के बीज की तरह वह हर जगह मौजूद है। 'प्रेतछाया' कहानी दुष्टता (ईविल) की सर्वव्याप्ति का संकेत सेमिटिक अर्थमीमाँसा के भीतर से करती है।

लेकिन यथार्थ को धर्मपदीय व्याख्या (हरमैन्यूटिक्स) से मैनीपुलेट करने की रणनीति (जैसे साम्राज्यवादी अमेरिका ईरान-इराक़ आदि विरोधी राष्ट्रों को ईसाई धार्मिक पदावली में 'शैतान की धुरी' और स्वयं को 'ईश्वर का प्रतिनिधि' घोषित करता है) अपनाने वाली ताक़त को बेनक़ाब करने के लिए धर्मपदीय व्याख्या की रणनीति को ही

इस्तेमाल करने के कुछ ख़तरे हैं। पहला तो यही कि धर्मपद को अन्तिम और चुनौतीविहीन सत्य मान कर आत्मसात कर लिया जाये। दूसरा यह कि धर्मपदीय व्याख्याएँ मनस्तत्व की धुँध में यथार्थ को आसानी से खींच लाती हैं (पेंटागन से पैदा होने वाले सिद्धान्तों में धर्मतत्व, मनस्तत्व और नृपत्व का अद्‌भुत मिश्रण होता है)। मनस्तत्व की धुँध में यथार्थ अपनी यथार्थता खो कर मनोनिर्मिति बन जाता है, छाया या छवि में तब्दील हो जाता है। मनस्तत्व की मनमानी का यह ख़तरा 'प्रेतछाया' कहानी में भी दिखाई देता है। ग़ौर करें कि कथानायक की कारगुजारियों की कोई व्याख्या कहानी नहीं देती। कहानी न सिर्फ उसका कोई तर्क ढूँढने की कोशिश नहीं करती बल्कि मनस्तत्व की अतार्किकता को ही कामचलाऊ तर्क की तरह पेश कर देती है। इसी तर्क के सहारे कथानायक अपने क्रूरताओं को अपने भीतर के शैतान के मत्थे डाल कर मुक्त हो लेता है, और मानो दिखावे के लिए अपने नैतिक द्वन्द्व में शरण लेता है। लेकिन क्या कथाकार भी नायक के नैतिक द्वन्द्व में शरण पा सकता है? यह निष्कर्ष, कि बुराइयों की जड़ें मनस्तत्व में हैं, यथार्थ की व्यवहारवादी (प्रैग्मेटिक) व्याख्या से विकसित होता है और अन्ततः यह नायक के नैतिक द्वन्द्व को उचित ठहराता है। इसके बरअक्स यदि द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग करें तो वह नायक के अपराधों के कारण ढूँढते हुए यथार्थ के ऐतिहासिक-सामाजिक सन्दर्भों में प्रवेश करती है और लेखक के नैतिक द्वन्द्व को अनुचित सिद्ध करती है। संसार की तमाम क्रूरताओं को शैतान के खाते में डाल देना यानी उन्हें मनोगत करार देना, कहने की ज़रूरत नहीं कि आज साम्राज्यवाद की रणनीति है (और इसे लेकर वह नैतिक रूप से वह निर्द्वन्द्व है। उसका नैतिक द्वन्द्व कहीं दिखे तो वह महज़ दिखावा है)। 'प्रेतछाया' के नायक के अपराध-बोध को वास्तविक और भीतर के शैतान को दुष्कृत्यों के लिए उत्तरदायी मान लें तो कहना होगा कि लेखक साम्राज्यवाद के प्रतिरक्षात्मक विमर्श का बौद्धिक शिकार है। ऐसा क्यों है कि कथानायक के कार्यकलाप मूलप्रवृत्यात्मक (इंस्टिंक्टिव) हैं? मूल प्रवृत्तियाँ तार्किक व्याख्या को नकारती हैं, उनका इच्छातृप्तिवाद उन्हें पाशविक बनाता है। क्या 'प्रेतछाया' में वर्णित माफिया एरिस्टोक्रेसी की पाशविकताओं की मनस्तात्विक व्याख्या पर्याप्त है?

नये पाठ का संकट ऐसे ही मुकाम पर सामने आता है जब द्वन्द्वात्मकता में यथार्थ को समझने की बजाये कहानी उसे चामत्कारिक, आकर्षक, भव्य और अपूर्व रूपाकार देने के फेर में आत्मगत क़िस्म के भाष्य में ढालने लगती है। 'प्रेतछाया' की मुश्किल यह है कि वह तर्क (रीजन) की जगह मूलावेग (इम्पल्स) को तरजीह देती है, यथार्थ की यथार्थता की बजाये उसके वैचित्र्य (फैंसी) की, साधारणता की बजाये वैशिष्ट्य की रचना करती है। नायक के ख़ब्ती व्यवहार की वस्तुगत संगति ढूँढना छोड़ कर कहानी चमत्कार, वैचित्र्य और विलक्षणता की सम्भावनाएँ तलाशती है। आख़िर आत्मदाह के बाद बिस्तर पर पड़े नायक के दुःस्वप्न का स्वैर-वृत्तान्त या पिता के सिर पर गोली लगने से बने छेद और तिजोरी में चाबी घुसाने के लिए बने छेद के हूबहू

एक जैसा होने की जादुई वास्तविकता को चामत्कारिक और वैचित्र्यपूर्ण नहीं तो और क्या समझा जाये? ऐसे चमत्कार और वैचित्र्य को पाने के लिए नया पाठ यथार्थ की बलि चढ़ाने का दुस्साहस भी कर सकता है।

दिलचस्प है कि 'प्रेतछाया' के कथानायक को उकसाने और दुष्प्रेरित करने वाले मूलावेग को सीधे 'शैतान' न कह कर 'कथानायक का प्रतिरूप' या एक 'कल्पित दूसरा' कहा गया है। पर उसके कार्यकलाप तो बिलकुल शैतान के हैं। 'शैतान' धर्मतात्विक पद है, 'प्रतिरूप' या 'कल्पित दूसरा' मनस्तात्विक पद हैं। दोनों पदों में परस्पर निर्बाध आवाजाही और मिश्रण सम्भव है। शैतान को किसी और नाम से पुकारना महज़ ख़ुशफ़हमी या एक तरह का मिष्टकथन (यूफ़ेमिज़्म) है। इस रूप में निस्संदेह वह कलात्मक युक्ति भी है। पर मिष्टकथन से वास्तविकता बदल नहीं हाती। मूल प्रवृत्यात्मक मनुष्य (इंस्टिंक्टिव मैन) के मानवद्रोही कृत्यों को धर्मतात्विक या मनस्तात्विक पदावली के ज़रिये ही नैतिक स्वीकृति दी जा सकती है; अन्यथा द्वन्द्वात्मक पद्धति से उसे स्वीकार्य नहीं बनाया जा सकता। कथानायक जिस अपराध-बोध (धार्मिक शब्दावली में कहे तो पापबोध) में शरण लेता है, उसकी नैतिक व्याख्या धर्मतात्विक बौर मनस्तात्विक दोनों पद्धतियों से सम्भव है। दोनों साथ-साथ सम्भव हैं।

'प्रेतछाया' के मूल प्रवृत्यात्मक नायक के बरअक़्स 'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' का नायक इतिहासबद्ध मनुष्य (हिस्टोरिकल मैन) की कोटि का है। कैलाशचन्द्र उसकी इतिहासबद्ध नियति की तरफ़ इंगित करते हैं। नये यथार्थ की आन्तरिक शक्ति-संरचना में वह हाशिये पर आ गया है। प्रत्येक युग में मानवद्रोही शक्तियाँ कमोबेश सक्रिय रही हैं मगर सांस्कृतिक सृजन के दायरे में अन्ततः उन पर मानवीयता की विजय का काव्यात्मक न्याय भी सक्रिय रहा है। 'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' कहानी नैतिक प्रतिफलन के रूप में, 'काव्यात्मक न्याय' के निष्फल हो जाने का ऐलान करती है (प्रसंगवश ग़ौर करें कि 'प्रेतछाया' के ट्रैजिक नायक की मानसिक उथल-पुथल का शमन शेक्सपीअरियन नायकों की तरह 'काव्यात्मक न्याय' में होने की स्वाभाविक गुंजाइश थी। मगर यह कहानी कथा-युक्ति के रूप में भी काव्यात्मक न्याय के व्यर्थ हो जाने का इशारा करती है और उसके प्रयोग से बचती है।) और इस सचाई को सामने रखती है कि यह हृदयहीन मनुष्यता के निष्ठुर समय है। कथानायक रोहित समय की तेज़ रफ़्तार से छिटक कर बाहर हो गये मनुष्य का प्रतीक बन जाता है। 'प्रेतछाया' के नायक के साथ उसे रख कर देखें तो इस विडम्बना की ओर ध्यान जायेगा कि इतिहास की दिशा पर, अथवा यथार्थ की गति पर नियन्त्रण आज इंस्टिंक्टिव मनुष्य ('प्रेतछाया' का नायक) के हाथों में है जबकि हिस्टोरिकल मनुष्य ('उन्होंने उसका चयन नहीं किया' का नायक) हाशिये पर है। कहने की ज़रूरत नहीं कि इतिहास की गति इन्स्टिंक्टिव मनुष्य के क़ाबू में आ जाये तो फ़ासीवाद की उत्पत्ति होती है (ग़ौर करें कि 'प्रेतछाया' का नायक अंशतः मैकबेथ की याद दिलाता है—शायद क्लॉड ईथरली और हिटलर की भी—हालाँकि उसकी अन्तरात्मा की बेचैनी क्लॉड ईथरली की तरह बेकाबू नहीं और

विवेक-चेतना वैसी जाग्रत भी नहीं है लेकिन नियति उसे हिटलर की तरह आत्मघात के मुहाने तक अवश्य ले आती है। इन्स्टिक्टिव मनुष्य के ये तीन रूप दरअसल मनस्तत्व की शक्तिमत्ता के तीन रूपक हैं—मैकबेथ ज़रूर काव्यात्मक न्याय के तर्क से अपनी नियति की चपेट में आया लेकिन क्लॉड ईथरली या हिटलर के आगे इतिहास का न्याय था जो उत्पीड़क को दण्ड तो देता है, मगर पीड़ित मनुष्यता के दुख की भरपाई नहीं कर पाता) हिन्दी कहानी नये पाठ में फ़ासीवाद के समकालीन अनुभव—पीड़ित मनुष्यता के दमन—का पाठ है। मनोज रूपड़ा ने 'प्रेतछाया' में सत्ता के इंस्टिंक्टिव चरित्र की पड़ताल की है लेकिन नये पाठ की कहानियों में अन्यत्र इस सत्ता के आतंक से पीड़ित मनुष्यता के भीतर उत्पन्न मनोविक्षेप को उन चरित्रों में देखा जा सकता है जो अक्सर अजीबोग़रीब हरकत करते पाये जाते हैं, उपहास का पात्र बनते हैं। वे समकालीन फ़ासीवाद के शिकार हैं। पूँजी और प्रौद्योगिकी की प्रवर सत्ता के आगे वे तुच्छ और हास्यास्पद हैं। पुराने पाठ की कहानियों में भी वे तुच्छ और हास्यास्पद हैं लेकिन उनकी हरकतें और उनका मनोविज्ञान वहाँ बिलकुल सामान्य होता है, जैसे 'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' का नायक रोहित। दरअसल नये पाठ में यथार्थ यथावत नहीं, थोड़ा अतिरंजक होता है।

इस अतिरंजकता के मुकाबले कैलाशचन्द्र की कहानी सहज-संयत है। लेकिन नये यथार्थ की मार से वह भी खरोंच खा जाती है। सच कहा जाये तो 'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' कहानी अपने समूचे मर्म को उँड़ेल कर उसी क्षण निःशेष हो चुकी होती है जब कथानायक को अपनी भावुकता की क़ीमत इंटरव्यू में नाकामी से चुकानी पड़ती है। लेकिन कहानी को यहीं ख़त्म कर देने की बजाये उसे अतिरंजक बनाने के फेर में कथाकार एक फंतासी गढ़ता है—अंटार्कटिका में हाथों में चाबुक लिए, कारपोरेट जगत की जानी-मानी हस्तियों को ढो रही स्लेज-गाड़ी में खुद को कुत्तों की तरह जुता हुआ पाने की भयावह फंतासी।

यह फंतासी भी कड़ाके की ठण्ड और नाकामी की यंत्रणा में कथानायक की शारीरिक-मानसिक दशा को व्यक्त करने में और कहानी के कथ्य को पुष्ट करने, उसके प्रभाव को मार्मिक बनाने में किसी हद तक सहायक हो सकती है। लेकिन कथानायक की मृत्यु और उसकी अकड़ी हुई लाश को स्लेज-गाड़ी की तरह कुत्तों के द्वारा खींचे जाने का दुःस्वप्न कहानी को अतिरंजकता देने की—पुराने-शास्त्रीय ढंग की कहानियों की तरह उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने की लालसा को प्रकट करता है। यह नये यथार्थ का प्रभाव है जो धौंस देकर पुराने पाठ में भी सनसनी भरने की कोशिश करता है। नया यथार्थ कहानी-विधा की दुर्गति करने पर उतारू है, उसे अतिरंजक वृत्तान्त में बदल डालना चाहता है। अतिरंजकता यदि आने वाले दौर में कहानी के विकास की प्रेरक शक्ति है तो कहना होगा कि नया पाठ कहानी के भविष्य का पाठ है। अन्यथा पुराने पाठ में नये यथार्थ को समेटने की चुनौती आज कहानी की वास्तविक चुनौती है। इस चुनौती को क़बूलने का अर्थ अतिरंजकता स कहानी को बचाना भी है।

काश, कैलाशचन्द्र अपने कथानायक को मरने से रोक पाते! तब वे इस कहानी को किंचित अतिरंजक होने से भी बचा लेते। 'प्रेतछाया' के नायक के पास आत्मघात को चुनने के सिवास कोई विकल्प नहीं था, लेकिन रोहित के पास जीने का विकल्प तो था। कथाकार उसे मौत के मुँह में जबरन झोंक देता है ताकि सनसनी पैदा कर नये पाठ की उत्तेजना से होड़ ली जा सके। यह नये पाठ का प्रेरणार्थक प्रभाव है। पुराने पाठ में एक सार्थक कहानी लिखते-लिखते कैलाश चन्द्र नये पाठ की अतिक्रामकता के आगे हथियार डाल देते हैं (ग़ौर करें कि रोहित की मृत्यु का उन्होंने जिस शैली में विवरण दिया है, वह उदय प्रकाश के पॉल गोमरा के एक्सीडेंट और उसकी विक्षिप्तता के ब्यौर से मिलती-जुलती शैली में है मानो वाचक निश्चय से नहीं अनुमान से बता रहा हो कि घटना कैसे घटी होगी। उत्सुकता और उत्तेजना इस तरह एकमेक हो जाती है। पुराने पाठ की कहानी 'उन्होंने उसका चयन नहीं किया' एकाएक नये पाठ की कहानी 'पॉल गोमरा का स्कूटर' की तरह व्यवहार करने लगती है)। एक गम्भीर कहानी थोड़ी चटपटी हो जाती है। नया पाठ यथार्थ के वस्त-रूप को नहीं, उसके फ़ैन्सी-रूप को तरजीह देता है। पुराना पाठ भी फ़ैंसी के आगे आत्मसमर्पण करता नज़र आता है। कहना मुश्किल है कि यह नये पाठ का असर है, या नये यथार्थ का, या दोनों का।

कहानी नये पाठ में (४)

वे सचाई को सहज रूप में, उसके घटनात्मक प्रवाह में अपनाने और उसे उसी प्रवाह के साथ पेश करने की कोशिश छोड़ चुके हैं। अपनी बौद्धिक सूझबूझ और कल्पना-कौशल से उसे दस्तकारों की तरह गढ़ते हैं। कहानी का जो नया पाठ वे बना रहे हैं, वह दरअसल यथार्थ की दस्तकारी है।

कहानी गढ़ना बेशक हुनर है। मगर नये पाठ का हुनर कुछ खास है। कवि अरुण कमल को काव्य-कौशल बढ़ई के काम की तरह लगता है जो अपने कारख़ाने की किसी भी चीज़ को फालतू नहीं जाने देता, अपने हुनर से उसका कहीं-न-कहीं इस्तेमाल ज़रूर कर लेता है। कहानी के नये पाठ में कथाकार बढ़ई की तरह तो नहीं लेकिन एक कोलाज-चित्रकार की तरह बिखरी हुई और परस्पर असम्बद्ध चीज़ों को भी आपस में अकल्पनीय ढंग स जोड़कर आख्यान की संगति में सजा देता है। यही उसका हुनर है। कहानी गढ़ना हमेशा ही एक हुनर रहा है मगर नये पाठ की कहानियों पर ग़ौर करें तो लगता है अब कहानी का स्थापत्य निर्मित करने, नई शिल्प-विधि में यथार्थ को आविष्कृत करने की बजाये यथार्थ के स्थापत्य को जानने का जतन किया जाने लगा है।

पुराने ढंग की वाचिक कथाएँ प्रायः वास्तविकता से दूर, काल्पनिक और स्वैरमूलक गल्प हुआ करती थीं। अनाम कथाकार उन्हें गढ़ता था। आधुनिक कहानियाँ वास्तविकता के क़रीब आईं। उनकी आधुनिकता वस्तुतः यथार्थ के साथ उनके अन्तरंग सम्बन्धों पर निर्भर थी। यूँ कहें कि यथार्थ के साथ कहानी की अन्तरंगता ही उसे आधुनिक ढंग की कहानी बनाती थी और स्वयं यथार्थ को विश्वसनीयता देती थी। लेकिन विश्वसनीयता का गुण अनिवार्य होते हुए भी कहानी की सार्थकता की दृष्टि से काफ़ी नहीं था, रोचकता भी उतनी ही ज़रूरी थी। इसलिए पश्चिम के प्रारम्भिक आधुनिक कहानीकारों ने कहानी के प्रति पाठकों के आकर्षण को बरकरार रखने के लिए जिज्ञासा और विस्मय को बचाये रखा। संयोगों और आकस्मिकताओं के सहारे कहानी बुनने की प्रवृत्ति शायद इसी वजह से विकसित हुई। इनसे पाठक चमत्कृत होता था, हालाँकि वास्तविकता पर आधारित होते हुए भी प्रारम्भिक आधुनिक कहानियाँ संयोगों और आकस्मिकताओं के कारण थोड़ी अस्वाभाविक मालूम पड़ती थीं। वास्तविकता को निहायत ही स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत करना चेख़व के बाद मुमकिन हुआ। तब से यह आधुनिक कहानी का स्वभाव बन गया।

हिन्दी कहानी भी अपने शुरुआती दौर में संयोगों और आकस्मिकताओं से होते हुए अब प्रेमचन्द के यहाँ स्वाभाविक वास्तविकता की ज़मीन पर आकर खड़ी हुई तो

इस विधा ने मानो अपना मूल स्वभाव पा लिया। उसके बाद कहानी में चित्रित वास्तविकता का सहज और स्वाभाविक होना उसका चारित्रिक लक्षण बन गया। वह गढ़ी हुई नहीं मालूम पड़ती थी। लेकिन नई कहानी और उसके बाद के आन्दोलनों और नुस्ख़ों के कारण अक्सर कहानी में यथार्थ की स्वाभाविकता बाधित होते देखी गई। फिर भी वह कहानी का वांछनीय गुण थी। वह कहानी को मनमाने ढंग से गढ़े जाने से रोकती थी। स्वाभाविकता दरअसल कहानी का स्वप्न, उसकी आकांक्षा है।

लेकिन नये पाठ की कहानियाँ इस आकांक्षा का निषेध करती हैं। कथाकार यथार्थ का उसकी सहज गतिशीलता और नैसर्गिक बनावट में विकसित नहीं होने देता, उसे धकियाता है। धक्का खाकर यथार्थ अपनी स्वाभाविक रफ़्तार खो देता है और कथाकार की इच्छानुसार गति करने लगता है। उसे कुछ इस तरह सँजोया जाता है कि घटनाएँ एक तरह के दृश्य-प्रपंच में तब्दील हो जाती हैं। वे वैचित्र्यपूर्ण संगति में साकार होती हैं।

पुराने पाठ की कहानियों में अनुभव घटनाओं और दृश्यों में बोलता था। नये पाठ में अनुभव मूक है, मगर कथाकार मुखर है। नई कहानी के दौर में जो अनुभव की प्रभुसत्ता क़ायम हुई थी, उसे आज नये पाठ की कहानियों में नष्ट होते देखा जा सकता है। अब कहानी का यथार्थ लेखक के लौह नियंत्रण में है। वह अनुभव को मनचाहा अर्थ देता है। उसकी विश्वसनीयता को छिन्न-भिन्न कर देने से हिचकता नहीं। उसकी व्याख्या करता है। उस पर अँधाधुँध टिप्पणियों की बौछार करता है। उसकी यथार्थवादी प्रामाणिकता को नये सिरे से, अक्सर अपनी शर्तों पर अर्जित करता है। नये पाठ में लेखक की सम्प्रभुता स्थापित हुई है।

नई कहानी से लेकर जनवादी कहानी तक के दौर में अनुभव के जो वैयक्तिक और सामाजिक खाँच बन गये थे, नये पाठ में वे टूट चुके हैं। वैयक्तिक अनुभव की जटिलता और सामाजिक अनुभव का इकहरापन, यहाँ एकरूप हो गये हैं। नई कहानी की अनुभवधर्मिता और जनवादी कहानी की सामाजिक क्रान्तिधर्मिता दोनों यहाँ व्यर्थ हो गये हैं। न कथानुभव की प्रामाणिकता की चिन्ता है, न सामाजिक प्रतिबद्धता की दरकार है। बस, लपलपाते यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण का आग्रह है।

कहानी चूँकि मनोरंजन की विधा के रूप में विकसित हुई है इसलिए उसका आधार रहा है आस्वाद। नई कहानी का अनुभववाद हो या अकहानी की विद्रोही वृत्ति, दोनों मूलतः आस्वादपरक हैं। समान्तर और जनवादी कहानी के दौर में इस विधा की प्रकृति में बुनियादी बदलाव किये बगैर इसका उद्देश्य बदल दिया गया। आस्वादन की जगह सामाजिक परिवर्तन का संल्पि लेकर कहानी लिखी जाने लगी। लेकिन आज की कहानी का संकल्प नये पाठ में फिर से बदल गया है। आस्वादन या सामाजिक परिवर्तन की बजाये अब सामाजिक वास्तविकता के चरित्रोद्घाटन पर ज़ोर दिया जा रहा है। कहानी के नये पाठ में यथार्थ को जानने-समझने का संकल्प निहित है। यह संकल्प समाज वैज्ञानिक पूरन चन्द्र जोशी की उस धारणा के अनुकूल है जिसमें उन्होंने मार्क्स

के सुप्रसिद्ध कथन 'अब तक दार्शनिकों ने दुनिया की व्याख्या की है, आवश्यकता उसे बदलने की है' को बदलती वास्तविकता और समय की माँग के मुताबिक संशोधित करने की हिमायत करते हुए कहा है कि बदलने से पहले इस दुनिया को समझने की चेष्टा की जानी चाहिए। कहानी का नया पाठ वास्तविकता को समझने की इच्छा से प्रेरित है। इसलिए उसमें अनिश्चय और जिज्ञासा का भाव—अबूझ वास्तविकता के रहस्य को खोलने का उद्यम-निहित है। नये पाठ का सौन्दर्य-बोध आस्वाद और आनन्द की ओर उन्मुख नहीं है। उसके केन्द्र में नये यथार्थ की ज्ञानीयता है।

व्यक्तिपरक अनुभव-संसार से बाहर निकल कर हिन्दी कहानी जब वास्तविक जीवन-संघर्ष के इलाके में दाख़िल हुई थी तो उसके भीतर ऐसी डबडबाती सामाजिकता भर गई कि परिवर्तन और क्रान्ति की आकांक्षाओं में बार-बार छलक पड़ती थी। जनवादी कहानी के उभार के पहले तक या तो सचेत सामाजिक प्रतिरोध का अभाव था या आततायी व्यवस्था का चेहरा पहचानने की कोशिश के प्रति उदासीनता थी। ग़ौर करें कि अकहानी की प्रतिरोधकता, उसकी विद्रोहवृत्ति भी आत्मलक्षी या लक्ष्यहीन थी। पर जनवादी कहानी का लक्ष्य स्पष्ट था—सामन्ती-पूँजीवादी ढाँचे को तोड़ने का लक्ष्य। अकहानी का विद्रोही नायक यहाँ जनवाद के वैचारिक हथियारों से लैस क्रान्तिकारी बन चुका था। लेकिन क्रान्ति का स्वप्न भरभरा कर ढह गया जब सूचना-प्रविधि और नवउदारवादी आर्थिक पुनर्गठन का दौर शुरू हुआ और उसके चलते हमारे समाज का स्वरूप बदलने लगा। सामन्ती-पूँजीवादी सामाजिक तंत्र अब सीधे वैश्विक पूँजीवाद की गिरफ़्त में आ गया। संचार-प्रौद्योगिकी के कमाल से सूचना, संस्कृति, संचार और बाज़ार की क्रियाएँ वैश्विक आयाम में दाख़िल हो गईं। अकूत उत्पादन और निर्बाध उपभोग पर आधारित नई सामाजिकता की जलधि-तरंगों में क्रान्ति का सूर्य डूबने लगा। अचरज नहीं कि साँझ के कुहासे में यथार्थ धुँधला पड़ गया। यह गोधूलि का दौर है—उजाले में उभरी सचाइयों पर अँधेरा छा जाने का समय।

नये पाठ में कहानी इन सचाइयों को ही टटोलती है। सचाई यदि धुँधली है तो मानवद्रोही शक्तियों की पहचान भी स्पष्ट नहीं है। कहानी उस पर रोशनी फेंकने की कोशिश करती है। नई वास्तविकताएँ इस क़दर भयावह हैं कि झूठ को झूठ और सच को सच कहना यानी सीधे-सीधे ज़िन्दगी जीना मुश्किल है। हैरानी नहीं होगी अगर वे किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को मानसिक विचलन का शिकार बना दें। जनवादी कहानी का अजेय आशावाद आज टूट-बिखर कर मनोविक्षेपग्रस्त नायकों या हास्यास्पद हो रहे कथा-पात्रों में लुप्त हो गया है। कहानी में प्रतिरोध अभी स्थगित कार्रवाई है। प्रतिरोध के पूर्व अमानुषिकता के चेहरे, चालचलन और उसकी करतूतों की पहचान ज़रूरी है। नया पाठ उत्पीड़क सत्ता के उद्धत आचरण की पहचान निर्बल के अनुभव-परिप्रेक्ष्य से करता है। इस रूप में वह मनुष्य की निरीहता और बेबसी की गाथा है। प्रतिरोध न सही, उसमें मानवीय संघर्ष और जिजीविषा के प्रति स्वाभाविक पक्षधरता का बोध तो विद्यमान है।

ज़ाहिर है, अपने समय के साथ कहानी ने कहीं अधिक प्रत्यक्ष, गहन और सघन रिश्ता बनाया है। यह पिछले पचास वर्षों से अनवरत कसौटी पर रही उसकी समकालीनता से प्रकट है। और इस तथ्य से भी कि पिछली सदी के नवे दशक का सामाजिक जीवन उस दौर की कहानियाँ में बेहतर तरीक़े से व्यक्त हुआ है, बजाये उस दौर के उपन्यासों के। तब दमन के प्रकट सामाजिक अनुभव में से दमनकारी सत्ता की पहचान उजागर थी। किसानों-मज़दूरों का संघर्ष तीव्र हो रहा था। कहानियाँ जनसंघर्षों के चित्र कैमरे की तरह खींच रही थीं। मगर आज दमन तो प्रत्यक्ष है, दमनकारी शक्तियाँ ओट में हैं; उनकी पहचान कठिन है। कहानी अब कैमरे की तरह काम नहीं कर सकती। इसलिए कहानी की पद्धति बदल गई है। दमन की कार्रवाई हालाँकि उत्तरोत्तर तीव्र होती जा रही है और सत्ता अधिकाधिक हिंस्र और निर्मम, मगर उसका चेहरा लगातार अपरिचित होता गया है। नये पाठ में कहानी सत्ता के मनुष्य-विरोधी आचरण का दो-टूक खुलासा करती है, गड्डमड्ड होते यथार्थ की रेखाएँ उभारने का प्रयत्न करती है।

इस तरह से देखें तो आज कहानी और यथार्थ के बीच मानो एक क़िस्म का नियतिपरक सम्बन्ध बन चला है—जैसा यथार्थ होगा, वैसी कहानी होगी। जैसा समय होगा, वैसा यथार्थ। समय के साथ कहानी का यह पूर्वनियत रिश्ता, कम-से-कम इस विधा की सेहत के लिहाज से ठीक नहीं है। समय के साथ कहानी का एकाग्र और एकनिष्ठ सम्बन्ध उसे समसामयिक वास्तविकता का उपनिवेश बनाये दे रहा है। यह अजीब है कि अयथार्थ और फंतासी-जैसी तरक़ीबों का प्रयोग तो कहानी में बेधड़क हो रहा है लेकिन उनका उपयोग समय को फलाँगने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि समसामयिकता को कहानी में स्थापित और पुष्ट करने के उपाय के तौर पर किया जा रहा है। इससे समय के साथ कहानी के नियतिपरक सम्बन्ध को ही बल मिलता है। अन्ततः यह धारणा पुष्ट होती है कि नया पाठ, नये यथार्थ को जानने का माध्यम-भर है, उसे समझने का एक बौद्धिक उपक्रम। कहानी कुल मिलाकर वही कार्य करने को बाध्य है जो एक वैचारिक आलेख कर सकता है। इसलिए राजेन्द्र यादव यदि शिकायत करते हैं कि कहानी के नाम पर उन्हें विवरणात्मक निबन्ध मिलते हैं तो इसे संजीदगी से लिया जाना चाहिए। वे कहते हैं 'यह यथार्थ का आतंक हो सकता है जो अख़बारों के ज़रिए हमें दिया जा रहा है। पूरे 50 पन्ने की कहानी मिल जाती है। कहीं कोई डायलॉग नहीं, कोई नाटकीय द्वन्द्व नहीं। यानी कहीं कोई आदमी नहीं मिलेगा। यह सीधे-सीधे जो आदमी को पकड़ने की बात है, वह कहीं नहीं है।' सीधे-सीधे आदमी को न पकड़ने या उसके बजाये तात्कालिक सामाजिक परिघटनाओं को कहानी में पुनर्घटित होते देखने का नतीजा समाजशास्त्रीयता, अख़बारीपन, तात्कालिकताओं, स्मार्टनेस है। पुराने की कहानी में आदमी अमूमन सीधे-सीधे पकड़ में आता है। अपने इतिहास-भूगोल और समूचे सामाजिक व्यक्तित्व के साथ प्रकट होता है। लेकिन नया पाठ पूरी तरह सामयिक पाठ मालूम पड़ता है। आदमी यहाँ समय के पंजों में जकड़ा

हुआ-सा लगता है। मानवीय संवेदना का सार्वभौमिक आयाम खुल नहीं पाता, यथार्थ की तात्कालिकता उसे दबोच लेती है। कहानी अपना स्वप्न—सार्वभौमिक संवेदना का धरातल—खोकर पत्रकारिता के ज्वलंत-जीवंत यथार्थ की सतह पर फिसल पड़ती है। तात्कालिकता के शिल्प में वास्तविकता को संयोजित करना नये पाठ का हुनर है।

पुराने पाठ की कहानी समसामयिकता के फेर में नहीं पड़ती। यथार्थ की तात्कालिकता और संवेदना की सार्वभौमिकता को वह साथ-साथ पाने का यत्न करती है। पुराने पाठ में जहाँ कथा-पात्रों के आपसी द्वन्द्व से निर्मित होने वाले अनुभव की संरचनाएँ सामान्य सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ कर अपना अर्थ प्राप्त करती हैं, वहीं नये पाठ में अनुभव की विविध संरचनाएँ प्रायः वैश्विक धरातल पर वास्तविकता की नई प्रवृत्तियों और पैटर्न से संदर्भित होती हैं। पुराने पाठ में अनुभव अपना अर्थ स्वयं प्रकट करता है। नये पाठ में अनुभव के तमाम सन्दर्भ एकजुट हो कर उसकी व्याख्या का प्रबन्ध जुटाते हैं, वास्तविकता की बनावट में हुए बदलाव का भाष्य रचते हैं। पुराने पाठ में अनुभव ऐंद्रिक प्रत्यक्षीकरण तक सीमित होता है। नया पाठ अनुभव का बौद्धिक प्रत्यक्षीकरण, उसके विवेचन-विश्लेषण का कार्य करता है।

नये पाठ की असल ख़ासियत यह है कि उसके लेखक का हुनर आज की सामाजिक सचाई को स्वायत्त करने की रचनात्मक विकलता में उसे नये यथार्थ का भाष्यकार बना देता है। यथार्थ को पहले वह गढ़ता है, फिर नये तरीक़े से पढ़ता है। कल्पना से उसे गढ़ना और बुद्धि-कौशल से पढ़ना—यही नये पाठ का हुनर है।

कहानी नये पाठ में (५)

कहानी विधा की निर्मिति कुछ ऐसी है कि उसका सत्य जीवन के ठोस अनुभव में आकार लेता है। उसकी प्रकृति अनुभवात्मक (इम्पिरिकल) होती है, ज्ञानात्मक (सेरेब्रल) नहीं। जीवन में जो घटित होता है, कहानी उसे पुनर्घटित करती है, उसे अनुभव के धरातल पर उतारती है। यही उसका धरम-करम है। कहानी का कारोबार संवेदना से चलता है, वह मूलतः बौद्धिक विधा नहीं है। स्वभाववश वह एक ऐसी भावात्मक सघनता अर्जित करने के लिए प्रयत्नशील रहती है जिसके भीतर अनुभव का मर्म केन्द्रित हो सके। इस मर्म तक पहुँचने का रास्ता 'घटित' को 'अनुभूत' में बदलने की कोशिश में खुलता है। इस तरह कहानी अनुभव के ठोस रूपाकार में ढली हुई होती है। घटनाएँ, चाहे यथार्थपरक हों या स्वैरमूलक, कहानी की बाहरी काया निर्मित करती हैं। मानवीय अनुभव की मर्म-भरी छवियों को रूपायित करने वाली यह विधा इतनी नाज़ुक है, कविता से भी नाजुक, कि अपनी संवेदनात्मक काया लिए वह बौद्धिक संवेग की तनी हुई रस्सी पर नटी की तरह संतुलन साधे बहुत दूर तक नहीं चल पाती, लड़खड़ा कर गिर पड़ती है। यही वजह है कि कहानी में प्रयोगशीलता की गुँजाइश, जैसा कि देवीशंकर अवस्थी ने कहा भी है, बहुत अधिक नहीं होती। वस्तुतः शिल्प के प्रयोग कहानी में चित्रित घटनात्मक वास्तविकता की सीमारेखा के भीतर ही किये जा सकते हैं। उसका अतिक्रमण करने पर या तो अमूर्तन, दुरूहता और उलझाव का ख़तरा होगा या फिर इतर विधाओं के अवांछित हस्तक्षेप की आशंका होगी जैसा कि इधर नये पाठ की कहानियों में दिखाई देता है।

दिलचस्प यह है कि इस क़िस्म की आशंकाओं या ख़तरों को सायास साधा और आहूत किया जा रहा है। केवल कथाकार नहीं, कथा-आलोचक भी ऐसे प्रयोगों का 'कहानी की संवेद्यता में बड़ा भारी परिवर्तन' कह कर स्वागत कर रहे हैं। मसलन आलोचक पुष्पपाल सिंह ने इधर की कहानियों में 'विधाओं की आवाजाही' को श्रेयस्कर बताते हुए लक्ष्य किया है कि इससे कहानी में 'अपूर्व समृद्धि' आई है और अब कहानी 'विकराल समय में हस्तक्षेप करने वाला एक सशक्त अस्त्र' या 'एक गम्भीर बौद्धिक विधा' बन गई है (अक्षर पर्व : सितम्बर 2005 में 'हिन्दी कहानी : पिछले बीस वर्ष : नये सरोकार' शीर्षक लेख)।

यहाँ कहानी के सम्बन्ध में लगभग डेढ़ दशक पहले अशोक वाजपेयी द्वारा व्यक्त विचारों को याद किया जा सकता है। 'हंस' के फ़रवरी 1992 अंक में प्रकाशित 'कहानी का उपक्रम और आलोचना का संसार' शीर्षक लेख में उन्होंने हिन्दी कहानी में

'बौद्धिक सघनता' की कमी की शिकायत करते हुए 'उत्कट वैचारिकता' और 'बौद्धिक उकसाहट जगाने की क्षमता' विकसित करने की हिमायत की थी। वे 'कथा, कथ्य और घटनात्मकता के दुश्चक्र में फँसी कहानी की दुनिया में शिल्प और कथाभाषा में प्रयोगशीलता' का आग्रह करते हुए पूछ रहे थे कि 'आख़िर वास्तव का सघन-समृद्ध बोध शिल्प में भी सघनता-समृद्धि लाये बिना कैसे चरितार्थ हो सकता है?' उनका एक निष्कर्ष यह था कि 'हमारी कहानी तथाकथित रेडिकल कथ्य के लिए रेडिकल शिल्प खोलने-पाने के बजाय उसे कुल मिलाकर रूढ़िवादी रूपाकार में ही व्यक्त करती है।' 'तथाकथित रेडिकल कथ्य' से उनका आशय सम्भवतः उन दिनों लिखी जा रही कहानियों में सामाजिक संघर्ष की विषयवस्तु से था जिससे उनकी घनघोर असहमति थी।

आज की कहानियों के बारे में यदि पुष्पपाल सिंह की राय को सही मानें तो यह भी समझा जा सकता है कि अब अशोक वाजपेयी की शिकायत दूर हो जानी चाहिए। साफ़ दिखाई दे सकता है कि पिछले दशकों के दौरान हिन्दी कहानी में एक नई तरह की बौद्धिक सजगता विकसित हुई है। नये पाठ की कहानियों में 'उत्कट वैचारिकता' या 'बौद्धिक उकसाहट जगाने की क्षमता' या 'रेडिकल कथ्य के लिए रेडिकल शिल्प खोजने की कोशिश' को लक्षित किया जाना चाहिए। मगर हो सकता है, नये पाठकी कहानियों की समाज-सजग बौद्धिकता से अशोक जी बिदक उठें और उन्हें लगे कि ये समाज की इकहरी अवधारणा से मुक्त नहीं हैं; या उन्हें लगे कि रेडिकल कथ्य कहानी की सामाजिक और यथार्थवादी दृष्टि में नहीं बल्कि 'जीवन के आध्यात्मिक या दार्शनिक प्रश्नों में है जिन्हें हमारी कहानी छूने की हिम्मत तक नहीं करती।' (यह अलग बहस का विषय हो सकता है कि आधुनिक कहानी की बुनियादी प्रतिश्रुतियों में इन प्रश्नों पर विचार किया जाना शामिल है अथवा नहीं)। बहरहाल, नये पाठ की कहानियों के बारे में शायद ही कोई कहे कि उनमें 'कल्पना और उससे जुड़े रचनात्मक साहस को विशेष प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई है' अथवा वे शिल्पगत नवाचार को लेकर सजग नहीं है या बौद्धिक उकसाहट जगाने में सक्षम नहीं है।

ज़ाहिर है, बौद्धिक सजगता नये पाठ की पहचान है। यह कहानी के एक नये सर्जनात्मक आयाम के खुलने का संकेत है। लेकिन दूसरी ओर रेडिकल शिल्प खोजने की कोशिश में नया पाठ अपने पाठक को छकाता भी है। नये पाठ में यथार्थ बुद्धिगम्य जान पड़ता है। उसकी संवेदना का स्वरूप प्रायः ज्ञानमूलक है। अनायास नहीं है कि एक आलोचक उसकी नई सम्भावनाओं को टोह कर कहानी को 'गम्भीर बौद्धिक विधा' में ढलते देख उत्साहित होता है लेकिन एक पाठक उस पर 'सेरेब्रल' होने का आरोप लगाता है।

इस आरोप का जवाब एक कथाकार के पास क्या हो सकता है? शायद वही जवाब, जो अखिलेश ने 'कथाकुंभ' में अपने वक्तव्य में दिया। ग़ैर-पारम्परिक शिल्प में लिख रहे कथाकारों के बचाव में उनके तर्कों का आशय यह था कि आज के जटिल

यथार्थ को रूढ़िवादी शिल्प में समेट पाना मुश्किल हो गया है इसलिए शिल्पगत प्रयोग आवश्यक है और ऐसे में कहानी का कथित रूप से सेरेब्रल होना अस्वाभाविक नहीं है।

यह एक आम समझ है जिसके सहारे सामाजिक वास्तविकता की बनावट में पिछले वर्षों के दौरान हुए फेरबदल को आज का कथाकार शिल्प के फेरबदल से पकड़ने की कोशिश करता है। यह कोशिश बीती सदी के अन्तिम दशक में चर्चित हुए कुछ प्रयोगशील कथाकारों के यहाँ पहले-पहल दिखाई दी थी लेकिन इधर चन्दन पाण्डेय, राकेश मिश्र, मनोज कुमार पाण्डेय, कुणाल सिंह या उनसे थोड़ा पहले से लिख रहे रवि बुले, शशिभूषण द्विवेदी आदि युवतर कथाकारों में भी शिल्प के नये प्रयोगों के प्रति झुकाव परिलक्षित होता है। कुल मिला कर कहानी के नये परिदृश्य में 'शिल्प और कथाभाषा में प्रयोगशीलता' का आग्रह बढ़ा है।

कहानी में बौद्धिक सघनता की कमी को अशोक वाजपेयी 'शिल्प और कथाभाषा में प्रयोगशीलता' को लेकर कथाकारों की उदासीनता के रूप में देख रहे थे। इसी तरह अखिलेश के वक्तव्य (वागर्थ : मई 2006) पर ग़ौर करें तो वे भी सेरेब्रल राइटिंग को शिल्प के नवाचार का नतीजा मानते प्रतीत होते हैं। प्रयोगशील कथा-लेखन की हिमायत में वे मार्क्वेज़ के जादुई यथार्थवाद और लोककथाओं की शिल्प-विधि को मिसाल के तौर पर पेश करते हैं और उनमें सेरेब्रल तत्व की मौजूदगी का संकेत करते हैं। उनका तर्क है कि आज के कथा-प्रयोग यदि सेरेब्रल हैं तो लोककथाएँ भी सेरेब्रल हैं।

इस तरह यह आम धारणा बन चुकी है कि कहानी में बौद्धिक रूप से सजग या सेरेब्रल होना उसके शिल्प का गुण है। अखिलेश ने इसी धारणा के तहत सात भाइयों की बहन को भाभियों द्वारा मार कर घर से बाहर गाड़ देने, फिर उसी जगह एक पेड़ उगने और रोज़ शाम भाइयों के घर लौटने पर उस पेड़ की फुनगी पर कोयल बन कर बैठी बहन के कूकने की लोककथा और उसके शिल्प को सेरेब्रल लेखन के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। लोककथाओं में ऐसे हैरतअंगेज़ और चामत्कारिक प्रयोग मिलते हैं। मगर सहज ही देखा जा सकता है कि वे श्रोता के बुद्धितन्त्र के बजाये उसके भावतंत्र को ज़्यादा छूते हैं। इसी तरह जादुई यथार्थ का झटका भी बौद्धिक से अधिक भावात्मक होता है। ज़ाहिर है, ये कल्पना के विलक्षण प्रयोग हैं जो यथार्थवादी वस्तुयोजना को अक्सर नकारते हैं और कथा के निहितार्थ को कल्पना की आन्तरिक संगति और उसके अपने तर्कविन्यास में साकार करते हैं। इस प्रक्रिया में निर्मित हुआ अर्थ बौद्धिक नहीं, संवेगात्मक होता है। इसलिए उसे ग्रहण करना मुश्किल नहीं होता। उसका स्वभाव और प्रभाव सेरेब्रल नहीं इमोटिव होता है। सात भाइयों की बहन का कोयल बन कर कूकना गहरा भावात्मक असर उत्पन्न करता है। उसे ग्रहण करने के लिए दिमाग़ी मशक्कत (सेरेब्रेशन) की ज़रूरत नहीं होती।

लोककथा की इसी शिल्पविधि का प्रयोग प्रेमरंजन अनिमेष की कहानी 'लड़की जिसे रोना नही आता था' (कथादेश : जुलाई 2006) में मिलता है। कहानी की नायिका खिलखिल विवाह के बाद विदा होती है। डोली में बैठी खिलखिल को सहसा

उन्हीं कुजकुज चिड़ियों की आवाज़ सुनाई देती है जो उसके घर के पिछवाड़े आकर बैठती थीं। वे कहती हैं—'देखो देखो, इस लड़की को। इसे नहीं पता ननिहाल में इसका भाई कहाँ है।' चिड़ियाँ आपस में बातें करती हैं और खिलखिल को लक्ष्य कर बताती हैं कि विवाह के बाद उसके माता-पिता-भाई-बहन का क्या हाल हुआ। अपने परिवार की करुण कथा सुन कर कभी न रोने वाली खिलखिल को आख़िर रुलाई आ ही जाती है। लेखक ने सहज कौशल से कल्पना की भावात्मक ऊर्जा का प्रयोग कहानी को उसके मर्म तक पहुँचाने के लिए किया है। कहानी के अन्त में चिड़ियों के संवाद के माध्यम से कथा का उपसंहार करना कुशल शिल्पयुक्ति है। इसके ज़रिए कहानी सीधे पाठक के भावक्षेत्र का स्पर्श करती है। यह क़तई सेरेब्रल नहीं मालूम पड़ता, जैसे कि सात भाइयों की कथा में मृत बहन का कोयल बन कर कूकना सेरेब्रल नहीं लगता। मिथक, लोककथाएँ, बोधकथा स्वैर कल्पना और फँतासियाँ अतिप्राकृतिक-अतियथार्थवादी तत्वों से भरी हुई होती हैं लेकिन वे सेरेब्रल नहीं होतीं। वे जातीय स्मृति की गहरी परतों से होकर आती हैं और अपना अर्थ प्रकट करने के लिए सेरेब्रेशन पर निर्भर नहीं करतीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि जादुई यथार्थवाद की प्रविधि भी लैटिन अमेरिकी जातीय मनोरचना के अनुकूल होने के कारण अपने देसी पाठक के लिए सहजग्राह्य है। जिस तरह चिड़िया का मनुष्य की भाषा बोलना भारतीय लोकमानस के लिए विस्मयपूर्ण और चमत्कार-सृष्टि से प्रेरित नहीं है, उसी तरह जादुई यथार्थ की कथाओं में किसी का अचानक ग़ायब हो जाना, फिर सदियों बाद प्रकट होना या इस प्रकार की कोई भी अप्रत्याशित घटना लैटिन अमेरिकी जनमानस की बोध-प्रणाली का स्वाभाविक हिस्सा है। यह सेरेब्रेशन नहीं है। उल्टे, लोककथाएँ हों या जादुई यथार्थवाद की कहानियाँ, वस्तुतः यथार्थवाद की प्रचलित तर्क-विधि अर्थात् इंद्रिय-प्रमाणवाद का निषेध करती हैं और अतार्किक या काल्पनिक को अपनाती हैं।

दरअसल औपनिवेशिक शिक्षा द्वारा अनुकूलित आधुनिक भारतीय मानस और उसकी बोध-प्रणाली का यथार्थ की इंद्रिय-प्रमाणवादी पद्धति के साथ कुछ इस तरह तालमेल बन चुका है कि इंद्रियेतर, तर्केतर या यथार्थेतर की किसी भी तरह की सत्ता को नकारने के अलावा वह उसके सृजनात्मक उपयोग को भी अस्वीकार करती है। इस वजह से मुक्त कल्पना की सृजन-शक्ति पर विश्वास कमज़ोर हुआ है। दूसरे, प्रत्यक्ष वास्तविकता के बोध पर आधारित होने के कारण कल्पना के निर्बाध संचरण का अवकाश कहानी में यूँ भी कम होता है; इस वजह से भी उसकी प्रयोगशीलता सीमित होती है। अगर प्रयोग किये भी जायें तो वे सहजग्राह्य नहीं होते; उन्हें चमत्कार या शिल्प-आडम्बर के रूप में देखा जाता है। अचरज नहीं अगर ऐसे प्रयोगों को सेरेब्रल करार दिया जाये। इस तरह की कुछ प्रयोगशील कहानियों को समझने में पाठक को कभी-कभी माथापच्ची भी करनी पड़ती है। 'कथादेश' में 'गहरे पानी पैठ' के अन्तर्गत प्रकाशित कहानियों को मिसाल के तौर पर लिया जा सकता है जो दिमाग़ी मशक़्क़त या पहेली-बुझौअल के लिए आमंत्रित करती थीं। इस क़िस्म के सृजनात्मक दुस्साहस को

अगर यथेष्ट स्वीकृति नहीं मिली तो इसका कारण हिन्दी-पाठक का इंद्रिय-प्रमाणवादी तर्कशील मानस या आधुनिक कहानी का विधागत स्वभाव तो है ही, बहुत हद तक कथाकारों की दुर्बल कल्पनाशीलता भी है जिसके चलते कहानी में प्रतीकों और संकेतों (मोटिव्स) की स्वायत्तता क़ायम होने लगती है और वे कथा के प्रवाह से छिटक कर या तो स्वतंत्र हो उठते हैं या कुहासे में अलग से जगमगाने लगते हैं और इस प्रकार कहानी को दुरूह बना देते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि प्रतीकवाद (या अंधेरे में डूबे संकेतों) को कहानी एक सीमा तक ही बर्दाश्त कर सकती है। ऐसी कहानियाँ स्वभावतः सेरेब्रल जान पड़ती हैं, यद्यपि वे कथाकार की अकुशलता के कारण सेरेब्रल होती हैं जब वह प्रतीकों को समेट कर मुकम्मल रूपक की शक़्ल नहीं दे पाता, अथवा या उन्हें अपकूटित करने की अन्तर्निहित सम्भावनाएँ खोलने में असमर्थ रह जाता है। उनकी दुरूहता, अमूर्तता या किंचित रहस्यात्मकता का कारण उनका स्थापत्य-दोष होता है—कम-से-कम एक नज़र में यही मालूम पड़ता है, लेकिन बारीक़ी से देखने पर यह भी समझ आता है कि मूलतः कथ्य में अस्पष्टता की वजह से वे प्रायः अबूझ रह जाती हैं। कथ्य पर पकड़ मज़बूत हो तो कहानी न स्थापत्य-देष का शिकार होगी, न सेरेब्रल मालूम पड़ेगी।

दुरूहता अक्सर शिल्प की वाचालता के कारण पैदा होती है, लेकिन सेरेब्रेशन के चलते होने वाली दुरूहता शिल्प से उतना ताल्लुक नहीं रखती जितना कि कथ्य को ही वाचाल और जटिल बना कर प्रस्तुत करने के उदग्र उत्साह से। कहानी के नये पाठ में यही उत्साह परिलक्षित होता है। इसके फलस्वरूप कथाकार अनुभव को प्रकट करने की बजाय उसे बौद्धिक स्तर पर स्वायत्त करने के फेर में एक वैचारिक साँचे में मैन्युफ़ैक्चर करने लगता है। इस प्रक्रिया को ही इन दिनों विमर्श कहा जाता है। विमर्श, जैसा कि मृदुला गर्ग ने 'कथाकुंभ' में ही कहा है, एक 'बौद्धिक सुख' है—ऐसा बौद्धिक सुख जो 'कथात्मक गढंत' की रचना के दौरान उत्पादित होता है। वीरेन्द्र यादव ने इस क़िस्म की कथात्मक गढंत को उचित ही एक 'लिटरेरी कंस्ट्रक्ट' (हंस : अगस्त 2004) कहा है और कहानी के सेरेब्रल होने को उसके भीतर सक्रिय विमर्श का परिणाम बताया है। स्वयं विमर्श का कार्यकलाप कथाकार के बौद्धिक एजेंडा से प्रेरित होता है। बौद्धिक सुख के उत्पादन के दरम्यान कहानी की संवेदनात्मक प्रक्रिया को विमर्श की बौद्धिक प्रक्रिया स्थगित करने लगती है और अपने प्रभाव में कहानी सेरेब्रल हो उठती है। स्पष्ट देखा जा सकता है कि इस चेष्टा में सामाजिक यथार्थ विरूपित होने लगता है। मूलतः यह विरूपण कथ्य के साथ छेड़छाड़ के कारण मुमकिन होता है लेकिन प्रकट रूप में शिल्पगत एड्वेंचर का नतीजा जान पड़ता है।

ज़ाहिर है, कहानी एक पूर्वनिर्धारित बौद्धिक व्याकरण के सहारे लिखी जाने पर पाठ की जटिलता में सेरेब्रल होती है। समय का विमर्श रचने की महत्वाकांक्षा और उसके छवि-चिह्नों को पकड़ने की कोशिश में नये पाठ की कहानियाँ अक्सर सेरेब्रेशन पर निर्भर करती हैं इसलिए कथाकार सेरेब्रेशन के लिए तर्क ढूँढता है। तर्क सिर्फ एक

है—यथार्थ दुर्गम हो गया है, सेरेब्रल हो गया है इसलिए उसे समझना भी जटिल बौद्धिक कर्म है। आश्चर्य नहीं कि शिल्प की जटिलता को यथार्थ की जटिलता का परिणाम बताया जा रहा है। नये पाठ का रचनाकार कथा-कर्म को जटिलता की अवधूत-साधना मानने लगा है। सच कहा जाये तो नये पाठ की कहानियाँ वास्तविकता के बारे में कम, वास्तविकता के प्रति लेखक के बौद्धिक दृष्टिकोण के बारे में ज़्यादा बताती हैं; या फिर यथार्थ को छेंक कर बौद्धिक सींखचे में क़ैद करती हैं। कथाकार इस भ्रम में है कि यथार्थ अब ऐंद्रिक नहीं रह गया, बुद्धिगम्य (सेरेब्रल) हो चुका है, इसलिए कहानी को भी बुद्धिगम्य होना चाहिए। इस नज़रिये ने उसे यथार्थ को सनसनी और उत्तेजना में पकड़ने के लिए प्रेरित किया है। कथाकार प्रगल्भ और वाचाल हो उठा है और कथा ऐसी विदग्धता के हवाले हो चुकी है जो यथार्थ की पुनर्रचना के लिए उसके संश्लिष्ट रूपों की खोज तो करती है लेकिन 'संश्लेषण' की इस प्रक्रिया का उद्देश्य वस्तुतः यथार्थ का 'विश्लेषण' होता है, जो मूलतः बौद्धिक कर्म है, सेरेब्रेशन है। कहानी का नया पाठ सेरेब्रेशन के उपक्रम में लिखा जा रहा है। अकारण नहीं कि कहानी की भाषा में अब सृजनात्मक गद्य का सहज लालित्य क्षीण होता जा रहा है, उसकी ऐंद्रिक संवेदनशीलता शिथिल हो रही है; उसमें सपाट सूचनात्मकता, निबन्धात्मकता, अप्रत्यक्ष कथनों, वेचारिक मुद्राओं, विशेषण-बहुल पदबन्धों, समाज वैज्ञानिक सन्दर्भों तथा अन्यान्य बौद्धिक उपकरणों का निस्संकोच प्रयोग होने लगा है। इससे कहानी में अनावश्यक जटिलता और दुरूहता उत्पन्न हो रही है।

मगर नये पाठ की असल समस्या जटिलता या दुरूहता नहीं, विमर्शात्मकता (सेरेब्रेशन) है, जिससे जटिलता स्वयं उत्पन्न होती है। विमर्श दरअसल एक बौद्धिक उत्तेजना में आकार ग्रहण करता है और जिस बौद्धिक सघनता को प्राप्त करने की आकांक्षा से प्रेरित होता है, वह भावात्मक सघनता को तज देने पर सम्भव होती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि भावात्मक सघनता को अर्जित करना सदैव कहानी का स्वाभाविक लक्ष्य रहा है, उससे बौद्धिक सघनता की माँग करना ज़्यादती है। मगर यह ज़्यादती ही नये पाठ को सम्भव करती है। नया पाठ दुस्साहस का परिणाम है। यह बौद्धिक दुस्साहस ही है जो यथार्थ की कथित जटिलता को खोलने के संकल्प के साथ सक्रिय है। 'यथार्थ की जटिलता' को एक बौद्धिक गढ़ंत में खोलने की बजाये यदि 'यथार्थ की यथार्थता' को ऐंद्रिक अनुभव में ढालने के विकल्प पर पुनर्विचार करे तो कहानी अपनी लीक पा सकती है; नये पाठ में तो उसका विचलन प्रकट होता है। नये पाठ की जटिलता जितनी प्रयत्नसाध्य है, पारम्परिक कहानी की यथार्थता उतनी ही सहज। मगर सहजता की साधना कठिन है, क्योंकि उसके ज़रिए जीवन की उलझी हुई गाँठें खुलती हैं। आख़िर कहानी जीवन की गाँठें सुलझाने की कला है, मर्म छूने की कला। वह बौद्धिक संश्लिष्टता की नहीं, मूलतः भावात्मक सघनता की कला है। यदि वह 'गम्भीर बौद्धिक विधा' बनने की ओर अग्रसर है तो देखना होगा कि भावात्मक सघनता को वह किस हद तक साध पायेगी।

कहानी नये पाठ में (६)

कहानी का नया पाठ नये पाठक की माँग करता है। नये पाठ के आगे पुराने ढंग का पाठक अब बेबस हो उठा है। ब्यौरों की सीधी सड़क पर चलते हुए सहसा वह किसी प्रतीक, बिम्ब, रूपक, सूचना, संकेत, रपट, समाजशास्त्रीय तथ्य, मिथक या किसी आख्यानेतर जुगत का सामना कर रहा होता है और उसके पेचीदा तिलिस्म को भेदने में नाकाम रहता है।

पुराने ढंग के पाठक के लिए कहानी सीधी-सरल क़िस्साग़ोई है। वह कथा की आदि-मध्य-अन्त वाली इकहरी वृत्तात्मक संरचना में क़िस्साग़ोई को घटित होते देखने का अभ्यस्त है—ऐसी क़िस्साग़ोई जिसमें आख्यान की समूची अर्थ-निष्पत्ति उसके अन्त में समाई होती है और जिसमें वास्तविकता का घटित होना नहीं, उसका आरम्भ होना और समाहार होना महत्वपूर्ण है। ऐसे पाठक के लिए आख्यान की जटिल और बहुस्तरीय बुनावट मुश्किल पैदा करती है। हिन्दी कहानी का औसत पाठक इस मुश्किल से अक्सर दो-चार होता है।

यह मूलतः वाचिक कथाओं का सदियों पुराना 'श्रोता' है जो लिखित-मुद्रित परम्परा क़ायम होने के साथ 'पाठक' में तब्दील हो गया। क़िस्साग़ोठ के पुराने संस्कारों से यह थोड़ा-बहुत अब भी बँधा हुआ है, जिसमें वास्तविकता और फँतासी, लौकिक और अतिलौकिक के बीच सहज आवाजाही मुमकिन थी, लेकिन साक्षरता और आधुनिक शिक्षा पर आधारित नई ज्ञान-परम्परा को अपनाने की विवशता ने उसके पुराने संस्कारों को बुरी तरह झकझोर दिया है। प्रत्यक्षवाद और तर्कवाद पर आधारित आधुनिक यथार्थ-बोध से उसके नये कथा-संस्कार बने हैं। इन संस्कारों की वजह से वह इकहरी संरचना में कथा के घटित होने को एकमात्र कथा-पद्धति मानने को बाध्य है। उसके भीतर पुराने संस्कार इतने कमज़ोर पड़ चुके हैं कि यथार्थ-बोध के साथ स्वैर-वृत्ति का तालमेल बिठा कर कथा की नई रीति को अपनाने के लिए प्रेरित नहीं कर पाते, जबकि कथा की मौखिक परम्परा की वे बुनियादी पहचान हैं।

यथार्थ की इंद्रियजन्य प्रामाणिकता और देशकाल की मुखर उपस्थिति का आग्रह कथा में इतिहास की चेतना का परिणाम था। यह ज्ञानोदयजनित चेतना थी जिसने कहानी को एक ओर इतिहास यानी देशकाल के प्रति सजग बनाया और दूसरी ओर उसे अपनी ही काया और विधागत मर्यादा को लेकर एक तरह के आत्मसंकोच से भर दिया। यथार्थ के पीढ़े पर सिकुड़ी बैठी कहानी इतिहास-देवता के ध्यान में लीन हो गई। हालाँकि आला दरजे की कहानियाँ वे हैं जिनमें कहानी का ध्यान भंग होता है और

वह इतिहास की जकड़ से छूटने का जतन करती है। इस आत्मसमर्पण के फलस्वरूप कहानी ने अपने आधुनिक रूपकल्प को वरदान के रूप में पाया। यह वरदान पा कर वह लिखित-मुद्रित प्रारूप में उतरी। मौखिक कथा का 'श्रोता' आधुनिक कहानी का 'पाठक' बन गया। यह ऐसा पाठक था जो साक्षर होने के विशेषाधिकार के बल पर, तनिक श्रेष्ठता-बोध के साथ, कथा के नये क़िस्म के आस्वाद का दावा कर रहा था, जबकि सच तो यह था कि मुद्रित पाठ में कहानी यथार्थ और फैंटेसी दोनों स्तरों पर सक्रिय अपनी दुहरी सृजनात्मकता से स्खलित हो चुकी थी और यथार्थवादी प्रामाणिकता के धरातल पर ठहरी इकहरी सृजनात्मकता में रूढ़ होना उसकी नियति थी। मौखिक कथा का श्रोता स्वैर-संसार और फैंटेसी में छलाँग लगा सकता था लेकिन मुद्रित कहानी के पाठक की स्थिति परकटे परिन्दे की तरह थी। उसका चलना-फिरना-फुदकना, सब-कुछ यथार्थ के मैदान पर, क़िस्से की सीधी-सरल लक़ीर में सम्भव हुआ। इस मैदान पर पेड़ों या इमारतों की छाया की तरह अयथार्थ छिटका हुआ था। पाठक उसे सिर्फ छू कर निकल सकता था।

आज जबकि यथार्थ अपने जाने-पहचाने प्रारूप से बाहर आ चुका है, अपने आधुनिकोत्तर चरित्र में प्रायःअस्थिर, विशृंखल, चंचल और मायावी प्रतीत होने लगा है, वह अपनी पहचान के पुराने प्रत्ययों को स्वयं खारिज करता है। अनिश्चयता और बहुस्तरीयता उसकी नयी पहचान है। नया पाठ इस पहचान को ज्ञापित करने का प्रयत्न है। इस प्रयत्न में कहानी ग़ैर-कथात्मक प्रविधियों का बेरोकटोक इस्तेमाल करती है, यथार्थ से फ़ैंसी के इलाक़े में जाती है, एक क़िस्म का अपमिश्रित रूपकल्प प्राप्त करती है।

निस्संदेह इधर कहानी कहने की विधि बदली है, क्योंकि अनुभव ग्रहण की पद्धति बदलने लगी है। अनुभव एक जटिल वैचारिक ताने-बाने में इस तरह से गूँथा जाने लगा कि वह उसके बीच फँसा हुआ प्रतीत होता है; या फिर वह विचार से निर्देशित और सत्यापित हो कर बाहर आता है। इस तरह अनुभव आत्मसन्दर्भी या वस्तुसन्दर्भी न रह कर आधुनिकोत्तर परिदृश्य पर एकाग्र बौद्धिक विमर्श से सन्दर्भित हो रहा होता है। इस प्रकार कहानी का संवेदन-व्यापार एक बौद्धिक क्रिया में सिमट जाता है। कथाकार की सर्जक प्रतिभा अपनी बौद्धिक पच्चीकारी से अनुभव को वैचारिक पाठ में जड़ने लगती है।

इस तरह के जड़ाऊ अनुभव से बने नये पाठ को उस पाठक की प्रतीक्षा होती है जो पाठ की पेचीदगी में फँसे अनुभव को बाहर निकाल कर उसके आशय का खुलासा कर सकने में समर्थ हो। कहानी चूँकि भावक्षेत्र के साथ ज्ञानक्षेत्र को भी सम्बोधित करती है इसलिए नये ढंग के इस पाठक से एक भिन्न सौन्दर्य-बोध की अपेक्षा करती है—यह कि नया पाठक सौन्दर्यग्राही (एस्थीट) भर नहीं, बौद्धिक (इंटेलेक्चुअल) भी हो। यह नई तरह की गुणग्राहकता की माँग है—बौद्धिक-भावक होने की माँग। उसका साक्षर होना-भर काफ़ी नहीं है। नया पाठ सुशिक्षित और प्रबुद्ध पाठक को पुकारता है।

यह फुर्सतिया नहीं, शौकीन या बुद्धिविलासी पाठक ही हो सकता है। पुराना पाठक साक्षर होने की योग्यता के आधार पर वाचिक कथा के श्रोता पर भारी पड़ता था। नया पाठक शिक्षित होने की सुविधा और प्रमुद्ध होने की चुनौती के साथ कहानी के नये पाठ को बौद्धिक मनोरंजन के उपकरण की तरह बरत सकता है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने आई॰ ए॰ रिचर्ड्स के सिद्धान्तों को समझने के सिलसिले में विलियम राइटर की उस धारणा का ज़िक्र किया है, जिसमें उन्होंने दो प्रकार के पाठक होने की बात कही है। राइटर के मुताबिक 'कुछ ऐसे पाठक होते हैं जो एक साधारण स्तर पर सरल तृप्ति की कामना करते हैं और कुछ दूसरे अधिक जटिल तथा श्रमसाध्य अनुभूति की खोज करते हैं।' चतुर्वेदी जी ने कहानी के पाठक को न सिर्फ़ पहली श्रेणी में रखा है, बल्कि कहानी के रचना-विधान को 'समकालीन जटिल जीवन के अनुभव और उसके अंकन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त' पाया है। प्रभाकर माचवे, रघुवीर सहाय, निर्मल वर्मा, कुँअरनारायण, मनोहर श्याम जोशी, विपिन अग्रवाल की कहानियों में अनुभव की जटिलता को रेखांकित करते हुए उनकी कहानियों की जो विशेषताएँ चतुर्वेदी जी ने बताई हैं, वे हैं—''संवेदन की सूक्ष्मता, मितकथन, अमूर्तन का प्रयास और जटिल तथा 'सामान्य किन्तु संगत' अनुभवों से जूझने का उपक्रम।'' चतुर्वेदी जी की धारणा यह थी कि कहानी में अगर अनुभवों की जटिलता लाई जा सकती है तो सूक्ष्म विधान और अमूर्तन के स्तर पर ही। स्थूल यथार्थवादी पद्धति से यह सम्भव नहीं है। यह धारणा उन्होंने आधुनिकतावादी प्रभाव को रेखांकित करने की कोशिश में प्रकट की थी।

बीती सदी के मध्य में 'परिमल द्वारा कहानी विधा के विरोध में निर्मित वातावरण के दौरान लिखे गये निबन्ध 'कहानी का माध्यम और आधुनिक भावबोध' में चतुर्वेदी ने जब आधुनिक जीवन की जटिलताओं का सामना करने में कहानी विधा के सामर्थ्य का आकलन किया था तब वे जटिलताएँ प्रकट नहीं हुई थीं जो आज नई सदी में दिखाई देती हैं। तब आधुनिकता के दबाव को आत्मचेतना के स्तर पर झेलते 'व्यक्ति' के जीवन में पैदा हुई जटिलता को कहानी का विषय बनाया गया था। आज स्थिति बहुत बदली हुई है। इस आधुनिकोत्तर दौर में व्यक्ति की आत्मचेतना से अपसरित हो कर उसका दबाव समाज के सामुदायिक चित्त पर है। इसलिए कहानी के नये पाठ में पात्र या चरित्र 'व्यक्ति' न रह कर समाज के वर्ग-विशेष के प्रतिनिधि मालूम पड़ते हैं। कहानी अब समूची सामाजिक प्रक्रिया, अर्थात् समाज में व्यापक स्तर पर हो रहे आलोड़न, को व्यक्त करती है। जटिलता अब माइक्रो नहीं मैक्रो स्तर की है। उसे व्यक्त करने के लिए 'संवेदन की सूक्ष्मता, मितकथन, अमूर्तन और सामान्य किन्तु संगत अनुभवों से जूझने का उपक्रम' ही काफ़ी नहीं है। बल्कि इसके उलट स्थूल वृत्तान्त में प्रकट हुए सामाजिक संवेदन, विस्तृत ब्यौरों, वास्तविकता की मूर्त छवियों, दृश्यों और उसकी असंगतियों को प्रकट करने की दरकार है। इसकी ख़ातिर एक बेडौल क़िस्म के कथा-ढाँचे की खोज की गई है जो एकाधिक कथा-युक्तियों के

संयोजन में साकार होता है। ज़ाहिर है, यह नये यथार्थ के रंग-ढंग के अनुरूप है और उसकी जटिलता को अपने भीतर समेट लेने की क्षमता के कारण मूलतः यथार्थवादी रूपकल्प में ही ग़ैर-यथार्थवादी पद्धति की अनेक विलक्षणताओं को अपना लेता है। इसमें वास्तविकता और फ़ैंसी का अद्‌भुत तालमेल दिखाई देता है।

कहानी के इस नये ढाँचे में समाये यथार्थ और उसकी जटिल क़िस्म की अभिव्यक्ति को 'साधारण स्तर पर सहज तृप्ति की कामना करने वाला पाठक' बुद्धिसात नहीं कर पाता। उसे 'जटिल तथा श्रमसाध्य अनुभूति' की तलाश करने वाला पाठक चाहिए। इस पाठक की गुणग्राहकता का आधार उसकी बौद्धिकता, विमर्श-क्षमता और आधुनिकोत्तर सामाजिक उथल-पुथल के प्रति उसकी संवेदनशीलता है। उससे यह अपेक्षा होती है कि वह कहानी की गढ़ंत में समाहित विवरणों, प्रतीकों, सूचनाओं, तथ्यों, अन्यार्थों और विभिन्न कथा-उपकरणों के बीच संगति स्थापित कर उनकी व्यंजनाओं और मर्म को पकड़ सके और वृत्तान्त की चुस्ती में उन्हें संयोजित कर सके। अन्यथा इस नई गुणग्राहकता या सौन्दर्य-दृष्टि के अभाव में 'साज़-नासाज़' कलाकार के आत्मक्षोभ की कहानी-भर होगी, या 'मोहन दास' महज़ एक बेरोजगार युवक के संघर्ष और उसकी नाकामी की दास्तान की तरह पढ़ी जायेगी। या 'टॉवर ऑव साइलेंस' पारसी जमात के समुदायगत आचरण और नृतात्विक विचित्रताओं को जानने के लिए और 'वारेन हेस्टिंग्ज़ का सांड' एक देसी युवती के साथ अंग्रेज़ साहब बहादुर की प्रेमगाथा के रूप में पढ़ी जायेगी। तब 'उस शहर में चार लोग रहते थे' के चारों पात्रों के बीच सम्बन्ध जोड़ने के लिए क्या स्वयं पाठक को बौद्धिक-संवेदनात्मक युक्ति अपनाने की ज़रूरत नहीं होगी? क्या नई कहानी के दौर में मोहन राकेश का 'सोफ़ेस्टिकेटेड पाठक' ही पूरी तैयारी के साथ आगे आ कर आज के नये पाठ का पाठक बनेगा?

नये पाठ की बौद्धिक भंगिमा कहानी को सिर्फ़ मनोरंजन की वस्तु नहीं रहने देती। उसकी रचनात्मक प्रतिबद्धता और सामाजिक सरोकार पाठक को बेचैनी और उत्तेजना से भर देते हैं। उत्कट वैचारिकता से प्रेरित यह बेचैनी और उत्तेजना नये पाठ का अनिवार्य सौन्दर्यात्मक प्रतिफल है। इसकी प्रक्रिया को किसी सटीक शब्द के अभाव में 'मनोरंजन' की तर्ज़ पर 'बुद्धिरंजन' कहा जा सकता है। बुद्धिरंजन एक ऐसा सौन्दर्यात्मक क्रियाकलाप है जिसमें बौद्धिक संवेग पाठक को सौन्दर्यानुभव की ओर प्रेरित करता है और उसे अन्ततः मुग्धता के मुहाने पर ला कर छोड़ देता है। एक तीखे स्वाद का कथारस इसमें पैदा होता है और पाठक को बौद्धिक विकलता से पूर देता है।

इस क़िस्म के सौन्दर्यानुभव का स्रोत कहानी के पाठ में बसा यथार्थ और स्वयं उसका वस्तुगत प्रतिरूप अर्थात् समाज की मौजूदा वास्तविकता है। मुद्रित पाठ होने के कारण कहानी में यथार्थ एक स्थिर प्रारूप में ढला होता है। यूँ तो किसी भी तरह का मुद्रित प्रारूप सामाजिक वास्तविकता को प्रस्तरीभूत और अपरिवर्तनीय बनाता है—मुद्रित से वाचिक या किसी अन्य प्रारूप में उसको स्थानांतरित कर पाना आसान नहीं होता,

लेकिन पुराने पाठ की कहानियों में तब भी एक गुंजाइश बची होती है कि उन्हें वाचिक माध्यम में बदला जा सकता है। ऐसी कहानियाँ पढ़ने के अलावा सुनी भी जा सकती हैं। हिन्दी में दुर्भाग्यवश मराठी की तरह कथा-कथन की परम्परा विकसित नहीं हो पाई, वरना कहानी के पाठ्य (मुद्रित) और मौखिक दोनों तरह के प्रारूप साथ-साथ विकसित होते। मगर नये पाठ की कहानियाँ तो मूलतः लिखित गद्य अर्थात् पूरी तरह से पाठ्य कहानियाँ हैं। उनका वाचिक प्रारूप सम्भव ही नहीं है। उन्हें सुना या सुनाया नहीं जा सकता। जिस विदग्धता के साथ और जिस भाषिक संघटन में वे रची गई हैं, वह पाठ्य या लिखित-मुद्रित गद्य में ही सम्भव है, बोलचाल के अन्दाज़ वाले गद्य में नहीं। संयुक्त वाक्यों की लम्बी लड़ियाँ, विशेषण-बहुल भाषा, देशज मुहावरों की बजाय अंग्रेज़ी से प्रभावित भाषिक गठन और वैचारिक गद्य की पद्धति का असर कहानी की भाषा को ऐसी शैलीगत कसावट देता है कि उसका वाचिक लचीलापन नष्ट हो जाता है। नये पाठ का गद्य इसी वजह से चुस्त, प्रभावशाली, तात्कालिकता से भरपूर क्रिस्टलाइज़्ड गद्य है। वह पाठक को जकड़ता है, उसे पाठ से बाहर नहीं जाने देता, मुग्ध कर देता है। इस गद्य की चपलता और सटीकपन में उसका सौन्दर्य है, आकर्षण और सम्मोहन है। वह बार-बार पढ़ने को प्रेरित करता है; पाठक को इस तरह नये पाठ का गद्य 'पाठ-रति' का शिकार बनाता है। यूँ भी उसका विमर्शात्मक चरित्र एकाधिक पाठ में खुलता है। एकाधिक पाठ में विमर्श की विवशता ही नहीं, स्वयं पाठ का सम्मोहन है।

पाठ की जकड़ में कसा हुआ आख्यान यहाँ वाचिक परम्परा से छुटकारा पाने का ऐलान करता है। अगर भविष्य में सिर्फ़ नये पाठ में कहानियाँ लिखी जायेंगी तो कथात्मक गद्य सिर्फ़ पढ़ा जा सकेगा, सुनाया नहीं जायेगा। ज़ाहिर है, वाचिक से मुक्त होकर क़िस्साग़ोई नये पाठ में बिलकुल नया रूप ले लेती है। वाचिक से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद नये पाठ की चारित्रिक विशेषता है। नया पाठ कहानी को श्रव्य विधा बनने से रोकता है। 'बरगद के नीचे चौपाल तक पहुँचाने की आकांक्षा' (सुधा अरोड़ा, वागर्थ : मई 2006, पृष्ठ 32) को निरस्त करता है। उसका यथार्थ लेखक के हाथों बेबस है। लेखक बौद्धिक कारीगर (इंटेलेक्चुअल क्राफ़्ट्समैन) की भूमिका में है; वह यथार्थ को मनमाने तरीक़े से मिट्टी के लोंदे की तरह गढ़ता-सिरजता है। वह अपनी सम्प्रभुता के मद में पुराने ढंग के पाठक की परवाह नहीं करता, विदग्ध और प्रगल्भ पाठक को सम्बोधित करता है। अपना उत्सव वह आप ही रचता है, अपने ग्लैमर और रोमांच के लिए पॉपुलर हथकंडे अपनाता है, लेकिन उच्चभ्रू क़िस्म के पाठक को न्यौतता है। यह दिलचस्प है कि 'पीली छतरी वाली लड़की' (उदय प्रकाश) या 'प्रेतछाया' (मनोज रूपड़ा) का मेलोड्रामेटिक अन्दाज़ वाला गद्य इस उच्चभ्रू पाठक का गद्य हो सकता है लेकिन अगर इन कहानियों पर फिल्म बना दी जाये तो वह निम्नभ्रू दर्शक की फ़िल्म होगी। अन्य माध्यम में स्थानांतरित कर देने पर नये पाठ की बौद्धिकता झर जायेगी और पाठक का आत्मगौरव भंग हो उठेगा। ज़ाहिर है, पाठक के हाथ लगती है, नये

पाठ की भंगुरता लेकिन वह उसे नये यथार्थ की भंगुरता का प्रमाण समझ कर ग्रहण करता है। इस रूप में नया पाठ पॉपुलर को उच्चभ्रू बनाने की हास्यास्पद-सी कोशिश का भी पाठ है।

कहानी नये पाठ में (७)

आधुनिक कहानी अत्यन्त अनुशासित और मर्यादाबद्ध विधा है। उसके बनाव में ही नहीं, स्वभाव में भी सहज संकोच दिखाई देता है। इसलिए कहानी का सच अक्सर धीमे सुर में व्यक्त होता है। देवीशंकर अवस्थी ने 'कथातत्व' 'रंजकता' और 'बहुजनग्राह्यता' को इस विधा का अनिवार्य 'आन्तरिक गुण' मानते हुए दरअसल उसके अनुशासित आचरण और मर्यादित स्वभाव को ही रेखांकित किया है। वे मानते थे कि 'कहानी सदी नपी-तुली और एक्ज़ेक्ट रही है (रचना और आलोचना : देवीशंकर अवस्थी, पृष्ठ 134)।' यह उपन्यास के विस्तार के बरअक्स कहानी की संक्षिप्तता-भर नहीं है। अवस्थी जी यहाँ इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि कहानी जीवन के किसी मार्मिक अनुभव और उसके अन्दर छिपी हुई किसी अनूठी वास्तविकता पर एकाग्र होती है और उसे ही प्रकाशित करने में अपने समूचे उद्यम को नियोजित करती है। यह एकाग्रता उसे अनावश्यक विस्तार से बचाती है।

देवीशंकर अवस्थी की तरह रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी कहानी की विधागत सीमाओं को रेखांकित करते हुए लिखा है कि 'आधुनिक युग और साहित्य अपनी समग्र प्रकृति में प्रधानतः बौद्धिक है। इस दृष्टि से कहानी का रूपगठन ही आधुनिक संवेदना का विरोधी है। कथा-साहित्य में जिस रचना-दृष्टि की प्रधानता होती है, वह उसके माध्यम से अभिव्यक्त नहीं की जा सकती; कुछ तो उसके आकार के कारण और कुछ उसकी स्फुट प्रकृति के कारण (समकालीन हिन्दी साहित्य : विविध परिदृश्य : रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 113)।'

स्पष्ट है कि चतुर्वेदी जी ने बौद्धिकता को कहानी-विधा के अनुकूल नहीं माना है और अवस्थी जी ने असंयत विस्तार को। संयोगवश इन दिनों लिखी गई अनेक चर्चित कहानियाँ बौद्धिक उदग्रता और सुदीर्थ विवरणों के कारण बहस के केन्द्र में आई हैं और इन विशेषताओं को कहानी विधा के नये रचनात्मक लक्षणों के रूप में रेखांकित किया गया है। यह भी ध्यान रखें कि इन कहानियों में शिल्प के जो प्रयोग दिखाई देते हैं, कमोबेश वे भी इन नये लक्षणों से सम्बन्धित मालूम होते हैं क्योंकि दोनों साथ-साथ प्रकट हुए हैं।

याद दिलाने की ज़रूरत नहीं है कि कहानी देवीशंकर अवस्थी और रामस्वरूप चतुर्वेदी के समय से बहुत आगे आ चुकी है। नये पाठ की कहानियों में साफ़ दीखता है कि इस विधा का संयम टूट रहा है। मर्यादा और अनुशासन की लक़ीरें धुँधली पड़ने लगी हैं। अपनी महत्वाकांक्षा में कहानी बौद्धिकता और शिल्पगत प्रयोगों की ओर

अग्रसर हुई है, हालाँकि बौद्धिकता और शिल्पगत नवाचार की प्रयोगभूमि वस्तुतः उपन्यास है। उपन्यास का जन्म ही आधुनिक युग में हुआ है जबकि कहानी पुरातन काल से कही जा रही है। आधुनिक युग में आकर कहानी की चुनौती आधुनिक संवेदना और उसकी बौद्धिक प्रकृति के साथ तालमेल क़ायम करने की थी। इस चुनौती के कारण कहानी को अनुशासन और मर्यादा की अपनी नई सरहदें खींचनी पड़ी। गोचर यथार्थ की सरहद के भीतर कहानी जब कल्पना की ऊँचाइयों से उतरी तो उसके सामने दो रास्ते थे। एक रास्ता गोचर यथार्थ के विवरणात्मक विस्तार की तरफ़ जाता था, जिस पर स्वयं उपन्यास चल रहा था। दूसरा रास्ता अनुभव की गहराई की ओर जाता था। कहानी ने दूसरा रास्ता चुना। चेख़व-मोपासाँ आदि महान कहानीकारों के यहाँ जब यह विधा आधुनिक समय के मिज़ाज में यथासम्भव ढल कर, सामाजिक वास्तविकता के मूर्त रूपों के साथ प्रकट हुई तथा मनुष्य की जीवन-विडम्बना और नियति के पेंचोखम की तरफ़ इशारा करती दीख पड़ी तो लगा कि मानवीय अनुभव की गहराई में जाने की कला उसने सीख ली। सीखने की इस कोशिश में उसने अपनी सदियों पुरानी और जानी-पहचानी संरचना को बदल डाला। आख्यान की पूर्व-प्रचलित पद्धतियों को रद्द कर आधुनिक कहानी ने एक ऐसी संरचना को अपनाया जो इतिहास की सरल-गतिशील रेखा पर रेंगते यथार्थ को उसकी सौन्दर्यात्मक परिणति तक, यानी जीवन-मर्म तक पहुँचाती थी। क़िस्साग़ोई आदि-मध्य-अन्त वाला ढाँचा इस प्रकार आधुनिक कहानी के अधिकृत रूपाकार के तौर पर मान्य हुआ।

आधुनिक युग में मानवीय बोध-तन्त्र पर तर्कवाद और इंद्रियप्रमाणवाद के प्रभाववश यथार्थ को ग्रहण करने की विधि बदल चुकी थी। उपन्यास का उदय इसी बदलाव का परिणाम था। कहानी ने जब नई देह धरी तो उसके पास नये यथार्थ को ग्रहण करने की कोई और विधि नहीं थी, क्योंकि तर्कवाद और इंद्रियप्रमाणवाद ने वाचिक कथा की स्वच्छन्दता समाप्त कर दी थी और चारों तरफ़ यथार्थवाद का पहरा बिठा दिया। इस वास्तविकता की अनदेखी कर देने पर आधुनिक कहानी के सरलरेखीय वृत्तात्मक ढाँचे को उसका 'रूढ़िवादी रूपाकार' कहना आसान हो जाता है।

कहानी की इस विवशता को ध्यान में रखें तो यह समझने में कठिनाई नहीं होगी कि कहानी के ढाँचे में फेरबदल करने की सम्भावना अधिक नहीं है। यानी प्रयोगशीलता की सीमा वहीं तक है, जहाँ तक इंद्रियानुभव की सीमा है। इसे पार करने पर कहानी विघटित होने लगती है। इसलिए एक प्रयोगशील कहानी शिल्प और कथ्य दोनों स्तरों पर यथार्थ की बनावट में थोड़ा-बहुत बदलाव का साहस तो करती है, लेकिन ऐसा करते हुए कल्पना का दुस्साहसिक प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र नहीं होती। ख़ास तौर पर शिल्प के अतिरंजक प्रयोगों में आख्यान की सहजता खो जाने का जोख़िम होता है।

नये पाठ में कहानी यह जोखिम उठाती है। नये पाठ में 'कथातत्व' और 'रंजकता' तो है लेकिन 'बहुजनग्राह्यता' की दृष्टि से वह कमज़ोर पड़ता है, क्योंकि वह

सहज पाठ नहीं है। फ़ेबल, रूपक, फंतासी सरीख़ी यथार्थेतर कथा-युक्तियों का इस्तेमाल हिन्दी कहानी में बहुत पहले से होता आया है—प्रेमचन्द की 'दो बैलों की कहानी' या जैनेन्द्र की 'तत्सत' से लेकर मुक्तिबोध की 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' या विश्वेश्वर की 'लाक्षागृह' और आनन्द हर्षुल की 'पृथ्वी को चन्द्रमा' तक अनेक ग़ैर-यथार्थवादी प्रयोग मिलते हैं लेकिन वे अन्ततः ऐसे प्रयोग हैं जिनमें किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष वास्तविकता का प्रतिनिधान (रिप्रज़ेंटेंशन) होता है (प्रतिनिधान न हो तो कथ्य अमूर्त रह जाता है)। इन प्रयोगों की मुश्किल यही है कि वे वास्तविकता के निरूपण तक सीमित रह जाते हैं। इसलिए वे ही प्रयोग सफल हुए हैं जिनमें कहानी यथार्थ के निरूपण तक सीमित रह जाते हैं। इसलिए वे ही प्रयोग सफल हुए हैं जिनमें कहानी यथार्थ के निरूपण को अपना अन्तिम लक्ष्य न मान कर यथार्थ की तहों में बसे कथात्मक सत्य को उसकी संवेदनात्मक बनावट में पकड़ पाती है।

कथात्मक यथार्थ का मर्म पाने की बजाय वास्तविकता का निरूपण या चित्रण करने तक सिमट रहने की यह प्रवृत्ति नई कहानी के दौर की देन है। इसी के चलते अनुभव की प्रामाणिकता पर विशेष बल दिया जाने लगा या समकालीनता का आग्रह बढ़ा। नई कहानी के सिद्धान्तकार पुराने ढंग की कहानियाँ कह कर जिन रचनाओं को निरस्त कर रहे थे, वे जीवन के मर्म को खोलने का प्रयत्न करती थीं, न कि सिर्फ़ वास्तविकता का चित्रण कर रह जाती थीं। प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय आदि की श्रेष्ठ कहानियाँ वे हैं जो अपनी समकालीन वास्तविकता के बीच से गुज़र कर कथा की व्यापक संवेदना तक पहुचती हैं जबकि नई कहानियाँ प्रामाणिक अनुभव के घेरे में क़ैद रह जाती हैं। अकहानी या साठोत्तरी कहानी में लेखक की आत्मलिप्तता का कारण दरअसल अपने स्वगठित यथार्थ में उसके फँस जाने की विवशता है, जो संत्रास, घुटन और यातना के भावबोध में निरूपित हुई। आगे चल कर तथ्य-निरूपण की प्रवृत्ति ने समान्तर कहानी और जनवादी कहानी के दौर में ज़ोर पकड़ा और वह आज भी जारी है। आज कहानी की सफलता का प्रायः सर्वमान्य पैमाना यह है कि किस हद तक वह समकालीन वास्तविकता का चित्रण कर पाती है। नई कहानी ने अनुभवसिद्ध वास्तविकता की जिस धारणा को मूल्यांकन के प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित किया था, उसका प्रभाव आज भी कायम है। इसलिए आज के कहानीकार की समस्या वास्तविकता के प्रत्यक्ष रूपों के साथ तालमेल क़ायम करने की समस्या-भर रह गई है, उनका सौन्दर्यात्मक रूपान्तरण कहानी की बुनियादी समस्या नहीं है (ज़ाहिर है, कहानी ने यथार्थवाद का दामन ठीक उसी तरह से पकड़ रखा है, जिस तरह से उपन्यास ने। और वह दामन आज तक छूटा नहीं है। यहाँ फिर देवीशंकर अवस्थी को याद किया जाना चाहिए, जिन्होंने नई कहानी के दौर में ही नामवरसिंह पर उपन्यास की पद्धति से कहानी पढ़ने का आरोप लगाया था। सच कहा जाये तो स्वयं नई कहानी का यथार्थवाद उपन्यास की पद्धति से कहानी को पढ़ने के लिए विवश करता था)।

वास्तविकता नहीं, वास्तविकता की छवियों को पकड़ कर उनके साथ सामंजस्य

बिठाने की कोशिश में आज शिल्प के छिटपुट प्रयोग किये जा रहे हैं। इस क़िस्म के उत्साही प्रयोग भी कहानी के तथाकथित 'रूढ़िवादी रूपाकार' को पूर्णतः विघटित नहीं कर पाते। नये पाठ की कहानियों में देखा जाना चाहिए कि अपनी उदग्रता और मुखरता के चलते चमत्कार पैदा करने वाली नई कथायुक्तियाँ भी आखिर सरलरेखीय वृत्तात्मक संरचना में खप जाती हैं, उसमें बुनियादी बदलाव नहीं कर पातीं। उदय प्रकाश, योगेन्द्र आहूजा, मनोज रूपड़ा, नीलाक्षी सिंह आदि चर्चित कथाकारों के यहाँ इसके यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि इन कथाकारों में यथार्थ का मर्मोद्घाटन करने की विदग्धता कम और यथार्थ के निरूपण का कौशल ज़्यादा दिखाई देता है। शायद यही कारण है कि उनकी अनेक कहानियों में सामाजिक वास्तविकता प्रायः समाजशास्त्रीय वास्तविकता की ओर झुकती नज़र आती है।

सम्भवतः समाजशास्त्रीय झुकाव की वजह से ही नये पाठ की कहानियाँ कथ्य को सहज-प्राप्य समझती हैं और उसमें निहित जीवन-विडम्बना को नज़रअंदाज़ कर जाती हैं। अर्थात् कथ्य के क्षेत्र में नवोन्मेष से कतराती हैं और शिल्प के प्रयोगों को श्रेयस्कर समझती हैं। ज्ञात यथार्थ को वे शिल्प की चमक से आकर्षक बनाती हैं। मैंगोसिल (उदय प्रकाश), पेटहगना (अखिलेश), हिप्पोकैम्पस (नीलाक्षी सिंह) या माफ़िया सरगना (मनोज रूपड़ा) सरीखी विचित्रताओं का कथा-युक्ति के रूप में प्रयोग किया गया है, न कि कथ्यान्वेषण के लिए। ये कथा-युक्तियाँ नये अनुभव-क्षेत्रों की ओर नहीं ले जातीं, बल्कि कहानी में चमत्कार उत्पन्न करती हैं या फिर अनुभव की पुष्टि के लिये प्रमाण की तरह या उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक की तरह प्रयोग में लाई जाती हैं।

सरलरेखीय वृत्तगठन में होने के बावजूद नया पाठ प्रयोगात्मक पाठ नहीं है बल्कि प्रयोगात्मक पाठ होने का भ्रम उत्पन्न करता है, क्योंकि वह फ़ैंसी के बहुरंगी संयोजन में प्रकट होता है। यह समकालीन वास्तविकता के जटिल विन्यास को देखते हुए उपयुक्त भी मालूम पड़ता है। लेकिन ध्यानपूर्वक पढ़ें तो नये पाठ में कथन-वैचित्र्य पर अधिक ज़ोर है, कथ्य-वैचित्र्य पर कम। स्पष्ट है कि उसमें कथ्य की प्रयोगशीलता गौण है, शिल्प की प्रयोगशीलता मुखर है। चूँकि शिल्प के प्रयोगों के बावजूद कहानी का अधिकृत रूपाकार भंग नहीं हो पाता, इसलिए नये पाठ में प्रयोगशीलता का तात्पर्य प्रायः शिल्प का उत्कर्ष या नवाचार मान लिया गया है, उसके नये रूपाकार की खोज नहीं।

यहीं इस तथ्य की तरफ़ ध्यान जाता है कि हिन्दी कहानी के पिछले सौ वर्षों के सफ़र में वे ही कहानियाँ उल्लेखनीय साबित हुई हैं जो कथ्य के क्षेत्र में प्रयोगशील रही हों अर्थात् जो अनुभव के नये इलाकों की ओर जाती हों। अथवा सुपरिचित अनुभव-संसार को एक नये कोण से देखने की कोशिश में उसे नया और अचीन्हा (डिफ़ेमिलियराइज़) करती हों। कफ़न, जाह्नवी, हिलीबोन की बतखें, फूलो का कुर्ता, अमृतसर आ गया है, लंदन की एक रात, घंटा-जैसी यादगार कहानियाँ दरअसल

शिल्प की बजाय कथ्य के नव-अन्वेषण की कहानियाँ हैं। कहानी की इस विडम्बना की ओर नामवर जी ने ठीक ही इशारा किया था कि 'वह मनोरंजन के रूप में पढ़ी जाती है और शिल्प के रूप में आलोचित होती है (कहानी-नई कहानी, पृष्ठ 18)। मगर यह एक और विडम्बना है कि शायद ही कोई ऐसी कहानी हो जो अपने उत्कृष्ट शिल्प के चलते यादगार कहानी बनी हो। नई कहानी के दौर में सबसे अनूठा शिल्प लेकर मुक्तिबोध आये थे, मगर उनकी कहानियों की सफलता उनके अनूठे कथ्य में निहित है।

नामवर जी ने कहानी की सफलता का सम्बन्ध उसकी मनोरंजन-क्षमता से और उसकी सार्थकता का सम्बन्ध शिल्प के उत्कर्ष से माना है। मनोरंजन की क्षमता उसी कहानी में सम्भव होगी जिसमें 'कथातत्व', 'रंजकता' और 'बहुजनग्राह्यता' का अनिवार्य 'आन्तरिक गुण' होगा। नये पाठ की कहानियों का परीक्षण कहानी की सफलता के इन मानदण्डों के आधार पर करें तो रंजकता का गुण कहानी को आक्रान्त करता जान पड़ता है, फिर भी वह 'बहुजनग्राह्य' नहीं हो पाती। ऐसा इस वजह से है कि नये पाठ में कहानीकार रंजकता को कथ्य में न ढूँढ कर शिल्प में सिरजता है। नतीजा यह होता है कि सफलता में खोट रह जाती है। इसलिए नये पाठ की अतिरंजकता को ही उसकी सफलता की तरह पेश किया जाता है। अगर कहानी कसी हुई और नपी-तुली न होगी तो उसके विस्तार को अतिरंजकता से ही संतुलित किया जा सकता है। इससे मार्मिकता के अभाव को भी भुलाया जा सकता है।

कहानी नये पाठ में (८)

बीसवीं सदी के आख़िरी दशक में अब इक्कीसवीं सदी को मानवता के सुनहरे भविष्य के रूप में देखा जा रहा था, आर्थिक उदारीकरण के ज़रिये नई विश्व-व्यवस्था विकसित करने की महत्वाकांक्षा के साथ हमारे समाज में ढाँचागत समायोजन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। वैश्वीकरण की शक्तियों ने 'खुशहाली के मिथक' रचे। मगर वास्तविकता यह थी कि लोकतन्त्र का मुखौटा लगाये सर्वसत्तावाद का समाज को वैश्विक मंडी में तब्दील करने के लक्ष्य के साथ पदार्पण हुआ था। वह उन्नत प्रौद्योगिकी और वित्तीय पूँजी की ताक़त से संचालित था। उसकी मौजूदगी समाज की अँदरूनी तहों में महसूस की जाने लगी; हमारे यथार्थ की जानी-पहचानी संरचनाएँ सहसा दरकती जान पड़ीं और उन्हें जानने-समझने के तरीक़े अब संदिग्ध समझे जाने लगे। ठीक इसी समय बौद्धिक जगत में आधुनिकोत्तरवाद का शोर सुनाई दे रहा था। और यह महज़ उएक संयोग नहीं था।

इस शोर में कुछ बातें साफ़ सुनी जा सकती थीं। कहा जा रहा था कि जनसंचार-माध्यमों द्वारा निर्मित वैश्विक संचार की नई परिस्थितियों में कहानी-विधा के आगे बड़ी चुनौतियाँ खड़ी हो गई हैं—एक तरफ़ साइबर-स्पेस का आभासी यथार्थ और साइबर-पंक है जिसमें कथा-पात्रों पर लेखक की नकेल छूट जाती है और उसकी जगह पाठक का नियंत्रण क़ायम हो जाता है; दूसरी तरफ़ यथार्थ के सारतत्व की बजाय उसके छविचिह्नों में प्रकट सत्याभास को यथार्थ की तरह बरतने का आधुनिकोत्तरवादी आग्रह है जो उसकी यथार्थता को ही संदिग्ध बनाता है। ये यथार्थ के मैनिपुलेशन की चुनौतियाँ हैं जो आज भी कथा-विधा के समक्ष उपस्थित हैं, हालाँकि उनका प्रभाव बहुत सीमित है। इसलिए उनसे असम्पृक्त रह कर भी कहानियाँ लिखी जाती हैं। लेकिन बड़ी चुनौती यह हुई कि दृश्य-श्रव्य माध्यमों ने यथार्थ को जिस ढंग से उसकी तात्कालिकता और उत्तेजना में पकड़ा था, उससे कथात्मक यथार्थ का विकल्प निर्मित होने की संभावना प्रकट हुई। केबल-क्रान्ति के बाद टेलिविज़न पर रोजमर्रा की घटनाओं की जीवन्त प्रस्तुति ने एक नई क़िस्म की दर्शक-संस्कृति विकसित की। घटनाओं की चाक्षुष प्रस्तुतियों ने अपने आसपास के यथार्थ के प्रति व्यापक उत्सुकता पैदा कर दी थी और उसे शान्त करने के लिए तात्कालिक उपाय भी किया। उत्सुकता का सतत उत्पादन और उसका निरन्तर शमन रोज़मर्रा का कार्यकलाप बन गया। इससे एक विशाल संस्कृति-उद्योग चल निकला। उसने पाठक को लुभा कर दर्शक में तब्दील करने की जुगत निकाली। दरअसल वह कहानी को तुरन्तापन की छौंक लगा कर चटपटे वृत्तान्त में

बदल देने में माहिर है। संस्कृति उद्योग घटनात्मक वास्तविकता को उपभोग्य पदार्थ या पण्य वस्तु में रूपान्तरित करता है।

इस चुनौती को सृजनात्मक लेखन से पहले प्रिंट-पत्रकारिता ने पहचाना। दरअसल यह एक व्यवसाय के रूप में पत्रकारिता की अस्तित्व-रक्षा से जुड़ा प्रश्न था। पत्रकारिता ने रक्षात्मक पद्धति अपनाई। अपने धरम-करम और रीति-नीति को अनुकूलित कर लिया। इलेक्ट्रॉनिक माध्यम में यथार्थ की चाक्षुष-प्रामाणिकता का मुकाबला करने के लिए अख़बारी वृत्तान्त को अधिकाधिक तथ्यपरक, विवरणात्मक और जन-सरोकारों से सम्पृक्त करने की बजाय उसे मसालेदार बना कर पेश करने की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ। अब ख़बरों की सत्यता और तथ्यता पर नहीं, उसके तुरन्तापन और चटपटेपन यानी उनकी रंजकता पर ज़ोर था। कहानी का उद्देश्य मनोरंजन है और ख़बरें सूचना के लिए होती हैं। लेकिन टी॰ वी॰ और अख़बार के वृत्तान्तों में दोनों का मिला-जुला रूप देखने को मिला जिसे सूचनारंजन (एन्फ़ोनटेनमेंट) कहा गया है।

सूचनारंजन अन्ततः कहानी की चुनौती बना। प्रश्न यह था कि कहानी इसका सामना कैसे करे? क्या कहानी भी रंजकता के आगे घुटने टेक दे और अपने आख्यान को लेकर वैसा ही बर्ताव करे जैसा टेलीविज़न और अख़बार ने किया? या फिर अपनी स्वतन्त्र पहचान पर दृढ़ता से आग्रह करे?

ज़्यादातर कहानियाँ दूसरे रास्ते पर चलने का यत्न करती हैं मगर नये पाठ की कहानियों में पहले रास्ते को चुनने की ललक दिखाई पड़ती है, हालाँकि वे पहले रास्ते को छोड़ना नहीं चाहतीं और थोड़ी दुविधाग्रस्त जान पड़ती हैं। एक तरफ़ नया यथार्थ है, जिसका सम्मोहन उसे मुक्त और रंजक वृत्तान्त की विधि अपनाने के लिये उत्तेजित करता है; दूसरी तरफ़ पारम्परिक शिल्प है जो उसे कथा-मर्म छूने के विधान का पालन करने के लिये प्रेरित करता है। नये पाठ की कहानियाँ दुविधामुक्त नहीं होतीं, लेकिन अपनी प्राथमिकता तय कर लेती हैं। वे नये यथार्थ की सम्मोहकता से बच नहीं पातीं और पुराने पाठ की मार्मिकता को त्याग नहीं पातीं। इसलिए दोनों के बीच का मार्ग ढूँढती है, यद्यपि नये यथार्थ के प्रति उनके झुकाव को स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। नये पाठ की कहानियाँ रंजकता को मार्मिकता के ऊपर, सनसनी और उत्तेजना को वास्तविकता के ऊपर, पाठ के विवरण-विस्तार को संक्षिप्तता के ऊपर, अनुभवों के बेतरतीब संयोजन या जोड़तोड़ को सुगठित और एकाग्र आख्यान के ऊपर वरीयता देती हैं। नये यथार्थ की माँगों को पूरा करने के लिए नये पाठ की कहानियाँ अपने रूप-रंग और चरित्र को बदलने का साहस करती हैं।

यह साहस हिन्दी में कहानी से पहले उपन्यास में परिलक्षित हुआ। श्रीलाल शुक्ल, मनोहरश्याम जोशी, कृष्ण बलदेव वैद, विनोद कुमार शुक्ल, सुरेन्द्र वर्मा के कुछ कथा-प्रयोगों को 'यथार्थवादी कोटि के अवसान' और 'उत्तर-यथार्थवाद के आगमन' के रूप में देखा गया। बताया गया कि प्रामाणिक अनुभव को यथार्थवाद का मानक समझ कर कथा रचने के दिन अब बीत चुके हैं; कि कहानी का रूपबन्ध भी उत्तर-

यथार्थवादी शिल्प से प्रभावित हो रहा है, उसकी संचार-प्रक्रिया बदल रही है, उसका केन्द्र लेखक में नहीं, पाठ और पाठक में है; कि पाठ-केन्द्रित होकर कहानी वृत्तान्त बन रही है, वह कहीं भी हो सकती है, लिखित-मुद्रित पाठ में निबद्ध रहने की बजाय वह फ़िल्म में, टी॰ वी॰ वृत्तान्तों में या अख़बारी सूचनाओं में पाई जा सकती है। वह जादुई यथार्थवाद, अतिकथा (सरफ़िक्शन), विचार-कथा (क्रिटीफ़िक्शन) महाकथा (मेटा-फ़िक्शन), कुछ भी हो सकती है। उसकी चारित्रिक एकरूपता और सार्वभौमिकता ख़त्म हो रही है। यह एक नई स्थिति है। यह उत्तर-यथार्थवाद है। यथार्थ यहाँ बहुरूपी, बहुआयामी, बहुकेन्द्रिक है। आदि-आदि...।

यह स्थिति उत्तर-पूँजी की लीला के चलते उत्पन्न हुई थी। यथार्थ के इस तरह उत्तर-यथार्थ में संक्रमित होने अर्थात् उसकी बहुकेन्द्रिकता को दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श, निम्नवर्गीय इतिहास, जन-इतिहास, देसीवाद, नव-इतिहासवाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, पूरबवाद, सांस्कृतिक अध्ययन आदि अनेक विमर्शों में प्रकट होते देखा जा सकता है। इन विमर्शों ने किसी हद तक कथा-साहित्य को भी छुआ है। उत्तर-यथार्थवाद की चर्चा हिन्दी में तभी शुरू हुई जब पिछली सदी के अन्तिम दशक में उदारीकरण का दौर आया और हमारा सामाजिक जीवन तेज़ी से बदलाव की ओर अग्रसर हुआ। यही समय था जब स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श का एजेंडा पेश किया गया। यही दौर था जिसमें निर्मल वर्मा के लेखन में उत्तर-औपनिवेशिकता या उदय प्रकाश के कथा-गढंतों में विखण्डन या उनकी 'वारेन हेस्टिंग्ज़ का साँड' कहानी में पूरबवाद तलाशने के प्रयत्न हुए।

कहानी का नया पाठ भी इसी समय चलन में आया। यह कहना सरलीकरण होगा कि नया पाठ नई साहित्यिक थियरी या विमर्शों का परिणाम है। दरअसल वह बदले हुए यथार्थ को समझने की कोशिशों का नतीजा है। विभिन्न प्रकार के विमर्शों में भी यही कोशिश है। इन विमर्शों के साहित्यिक संस्करणों में भी यथार्थ के बदल जाने और उसके नये उपकेन्द्र, मसलन स्त्री और दलित, निर्मित होने की स्पष्ट पहचान प्रारम्भ से ही रही है। यह यथार्थ के सार-तत्व का बदल जाना है जिसके चलते यथार्थ को देखने का नज़रिया बदला हुआ (पैरा-डाइम-शिफ़्ट) है। दलित और स्त्री की मुक्ति के आग्रह में रची गई कहानियों में मानों एक-एक जगह कैमरा स्थिर कर दिया गया और अपने-अपने ख़ास कोण से अपनी-अपनी जीवन-वास्तविकताओं के चित्र खींचे जाने लगे। इन्हें उत्तर-यथार्थवाद के साक्ष्य कहा गया। पर सहज ही दीखता है कि इनमें कहानी की सार्वभौमिक संवेदना बिखर जाती है; उसकी जगह सामुदायिक या वर्गीय आत्मनिष्ठता ले लेती है।

मगर दलित-चेतना और स्त्री-चेतना की कहानियों में यथार्थ के बदल जाने पर ज़ोर नहीं है, बल्कि बदलाव का वास्तविक अर्थ यथार्थ को देखने के कोण का बदल जाना है। यही वजह है कि इन कहानियों में यथार्थ अस्मितापरक हो उठा है। देखने का कोण बदला है, पद्धति और प्रविधि नहीं। शिल्प कमोबेश पुराना है। ये कहानियाँ

ढीला-ढाला, अनगढ़ और सरल रैखिक इतिवृत्त में हैं। ज़ाहिर है, यदि इन कहानियों में उत्तर-यथार्थवाद के लक्षण हैं तो उन्हें जाने-पहचाने कथा-शिल्प में नहीं, बल्कि उनके नये ढंग के कथ्य या नये कथन-परिप्रेक्ष्य में निहित माना गया है। अन्यथा शिल्प की दृष्टि से तो ये निपट यथार्थवादी कहानियाँ है। इस तथ्य पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि यथार्थवाद का आविर्भाव एक कथा-प्रविधि के रूप में हुआ है। आधुनिक जीवन की वास्तविकताओं को कथा में मूर्त करने की यह मान्य विधि है। यथार्थवाद के विभिन्न संस्करण वस्तुतः प्रत्यक्ष वास्तविकता को व्यक्त करने की युक्तियाँ हैं। उत्तर-यथार्थवाद अगर उनकी विफलता का परिणाम है, तो समझा जाना चाहिये कि वह भी यथार्थ का एक नया रूपबन्ध, उसके आगे का शिल्प है।

समस्या यह है कि हिन्दी का आधुनिकोत्तर साहित्य-विमर्श उत्तर-यथार्थवाद को उपन्यास के भीतर, कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर उद्घाटित होते देखता है, पर कहानी में शिल्प को वह किस तरह प्रभावित करता है, इसकी पहचान नहीं कर पाता।

मनोहर श्याम जोशी, विनोद कुमार शुक्ल, सुरेन्द्र वर्मा के औपन्यासिक प्रयोगों में उत्तर-यथार्थवाद की पहचान करने वाली आधुनिकोत्तर शैली की आलोचना ने इन लेखकों की कथन-भंगिमा और आख्यान-शैली को ख़ासी तवज्जो दी थी। कुछ ऐसी धारणा पैदा हुई थी कि खिलवाड़-वृत्ति मानो उत्तर-यथार्थ की चारित्रिक विशेषता हो। लेकिन ऐसी खिलवाड़-वृत्ति अपकेन्द्रित यथार्थ (दलित-यथार्थ और स्त्री-यथार्थ) की रचनाओं में नहीं, बल्कि नये पाठ की कहानियों में देखने में आई—मसलन पंकज मित्र के यहाँ शिल्प-सजगता एक ख़ास क़िस्म के कॉमिक और खिलंदड़े अन्दाज़ में परिलक्षित होती है; उनकी 'हड़कलुल्लू' या 'बेला का भू'-जैसी कहानियों के शीर्षक में भी खिलंदड़ व्यंजनाएँ देखी जा सकती हैं। उदय प्रकाश, मनोज रूपड़ा, योगेन्द्र आहूजा, नीलाक्षी सिंह या बिलकुल नये कथाकारों में चन्दन पाण्डेय, रवि बुले, शशिभूषण द्विवेदी, राकेश मिश्र, कुणाल सिंह आदि के यहाँ पर्याप्त शिल्प-सजगता है। कहा जा सकता है कि यह उत्तर-यथार्थवाद का प्रभाव न होकर सूचना-रंजन की चुनौती के प्रति कथाकार की संवेदनशीलता का परिणाम है। कहा तो यह भी जा सकता है कि स्वयं सूचना-रंजन का सम्बन्ध उत्तर-यथार्थ की लीला से है या उदय प्रकाश की कुछ कहानियाँ सूचनाओं और तथ्यों को रंजकता उत्पन्न करने के प्रयोजन से कथा-शिल्प में संयोजित करती हैं और उत्तर-यथार्थ की लीला को पकड़ने का प्रयत्न करती हैं अथवा इसी प्रयत्न में मनोज रूपड़ा की कहानियाँ मेलोड्रामा का अंदाज अपनाती हैं, इसलिए नये पाठ की कहानियों में यथार्थ का आचरण उत्तर-यथार्थवादी प्रतीत होता है।

लेकिन इस धारणा को सही मान लेने का अर्थ होगा, अतिरंजकता को उत्तर-यथार्थवाद का चारित्रिक लक्षण मान लेना; जबकि उत्तर-यथार्थवाद अतिरंजित पाठ रचने की शिल्प-सजगता से ज्ञापित होने की बजाय यथार्थ के स्वीकृत पाठ को नकार कर एक भिन्न दृष्टि से या नये कोण से उसे देखने की पेशकश करता है। तो क्या नया पाठ यथार्थ को नये ढंग से देखने की कोशिश में सम्भव हुआ है? अगर यह सच है

तो कहना होगा कि दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श की सपाट कहानियों से नये पाठ की कहानियाँ अलग नहीं हैं, क्योंकि वे भी नये कोण से यथार्थ को पकड़ती हैं। असल बात तो यह है कि जहाँ दलित पाठ और स्त्री-पाठ में स्वानुभूति का आग्रह मूलतः प्रत्यक्ष-प्रमाणवादी तर्क के साथ सक्रिय होता है, वहीं नये पाठ की कहानियाँ भी अपनी समूची शिल्पकुशलता के बावजूद अन्ततः प्रत्यक्ष-प्रमाणवादी और कमोबेश घटनात्मक क़िस्म की कहानियाँ हैं जो प्रायः यथार्थवादी कथा-संरचना को बरकरार रखती हैं, उसमें कोई बुनियादी छेड़छाड़ नहीं करतीं। उनका प्रत्यक्ष-प्रमाणवादी चरित्र अक्सर उत्तर-यथार्थवाद की सम्भावनाओं को रोकता है।

दरअसल उत्तर-यथार्थवाद-जैसे पद के सहारे कहानी के यथार्थ को समझने में कुछ मुश्किलें हैं। कहानी प्रामाणिक यथार्थ का आख्यान होने से बच नहीं सकती। बचने की कोशिश में सम्भव होती है। इसी कोशिश में नये शिल्प की तलाश करती है और अपना वैशिष्ट्य अर्जित करती है। वह कितना ही विलक्षण स्वैर-संसार निर्मित करे, अन्ततोगत्वा उसका प्रयोजन जीवन-यथार्थ को व्यक्त करना ही है। कहानी में प्रयोगशीलता का तात्पर्य अधिक-से-अधिक यही है कि वह कितनी अप्रामाणिक छवियों में प्रामाणिक यथार्थ की पुनर्रचना कर सकती है। इस दृष्टि से शिल्प उसकी पहचान तय करता है। ज़ाहिर है, यथार्थवाद की पहचान भी उसके शिल्प से है। शिल्प की भिन्नता यथार्थवाद के भिन्न-भिन्न संस्करणों की पेशकश करती है।

मगर उत्तर-यथार्थवाद को नई शिल्प-विधि को रेखांकित करने वाली अवधारणा के रूप में नहीं देखा गया है। उसके लक्षण और उदाहरण जिन कहानियों में चिह्नित किये गये हैं, उनका शिल्प पुराना और शिथिल है। दिलचस्प यह है कि आधुनिकोत्तर समीक्षा-दृष्टि साहित्येतर माध्यमों (अख़बार और फ़िल्म) में भी उत्तर-यथार्थ को घटित होते देखती है, जहाँ अनुभव की प्रामाणिकता से अधिक रंजकता की माँग की जाती है, मगर शिल्प एक मनोरंजक वृत्तान्त को प्रस्तुत करने की औपचारिकता से आगे नहीं जाता।

ज़ाहिर है, यथार्थ को नये ढंग से देखने की बजाय यहाँ नये यथार्थ को देखने पर ज़ोर है। दलित और स्त्री के निजी कोण से देखने पर यथार्थ नया जान पड़ता है; उसका इस ढंग से नया होना पर्याप्त है इसलिए नयेपन के सृजन के लिये किसी और कलात्मक उद्यम की आवश्यकता नहीं है—इस दृष्टिकोण के चलते दलित और स्त्री-विमर्श की कहानियों में शिल्प के प्रयोगों का जोखिम नहीं मिलता और उत्तर-यथार्थ की सैद्धान्तिकी उनकी कथ्य में घटित हो गई होती है। लेकिन वास्तविकता यह है कि एकरैखिक वृत्त और यथार्थ की प्रत्यक्षता और पूर्वानुमेयता जैसे लक्षण अन्ततः उन्हें यथार्थवादी रचना साबित करते हैं। वे नये यथार्थ को पुरानी पद्धति से ग्रहण करती हैं। लेकिन कलात्मक अन्तर्दृष्टि के अभाव में उसके इकहरे चित्र पेश कर रह जाती है।

नये पाठ की कहानियाँ नये यथार्थ को नयी पद्धति, नये शिल्प में, प्रस्तुत करती हैं। हिन्दी में हाल ही के कुछ प्रयोगशील उपन्यासों में जिस उत्तर-यथार्थवाद की पहचान

उनके नये कथ्य और नये शिल्प के आधार पर की गई थी, उसकी झलक नये पाठ की कहानियाँ देती हैं। लेकिन प्रयोगधर्मिता को लेकर उनके उत्साह के पीछे एक गहरी दुविधा भी है। वे कथ्य की सनसनी और उत्तेजना में लिखी कहानियाँ हैं इसलिये गढ़ंत बन जाती है, लेकिन जीवन की ठोस वास्तविकता का दामन छोड़ नहीं पातीं। वे अतिरंजक वृत्तान्त में स्वच्छन्दतापूर्वक ढलना चाहती हैं लेकिन कहानी की विधागत मर्यादा को तोड़ने से हिचकती भी हैं, इसलिए यथार्थ के मर्मस्थल के आसपास मँडराती हैं और छू न पाने में नाकाम होने पर रंजकता से उसकी क्षतिपूर्ति करती हैं। वे उत्तर-यथार्थवाद के इलाक़े में दाखिल होना चाहती हैं, लेकिन यथार्थवाद की देहरी नहीं लाँघ पातीं। दरअसल कहानी-विधा की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि उसे यथाशीघ्र यथार्थ के मर्म तक पहुँचना होता है। यही उसकी सीमा है। इसे लाँघने पर ही उत्तर-यथार्थवाद की शुरुआत होती है, जहाँ कोरे वृत्तान्त और उत्तेजक-अतिरंजक दृश्य हैं। नया पाठ यथार्थ और उत्तर-यथार्थ के बीच कहीं ठहरा हुआ है। उपन्यास हड़बड़ी में नहीं होता लेकिन कहानी अगर उपन्यास के इत्मीनान को अपना ले, तो ही वह वृत्तान्त के विस्तार में रम सकेगी।

नये यथार्थ की मौजूदगी, प्रयोगवृत्ति और वाग्मिता, अनुभव की स्फीति और रंजकता के बावजूद कहानी अपने नये पाठ में न उत्तर-यथार्थवाद के पैराडाइम में दाख़िल हुई है, न सूचनारंजन का विकल्प बन सकी है। वह उत्तर-पूँजी के मायावी संसार को उद्घाटित करना चाहती है मगर न तो अपने अनुभव के क्षितिज का यथेष्ट विस्तार कर पा रही है, न अपने संचार के स्पेस का; जबकि उसने वृत्तान्तपरकता को अपनाया ही इसलिये था कि इससे वह एक तरफ़ नये अनुभव-क्षेत्रों की खोज कर सकेगी और दूसरी तरफ़ एक लोकप्रिय और समावेशी मुहावरे में व्यापक पाठक-समूह तक पहुँच पायेगी। जो लोग कहानी की संचार-प्रक्रिया बदल जाने का तर्क देकर उसके मुद्रित पाठ से निकल कर अख़बारी वृत्तान्त, फ़िल्म, टेलीविज़न या साइबर-माध्यम में संक्रमित होने का औचित्य प्रतिपादित कर रहे हैं वे आधुनिक कहानी के मूल स्वभाव और उसकी चारित्रिक पहचान को नज़रअंदाज़ कर उसके ऐतिहासिक विकास को नकारते हैं। वे एक साहित्यिक विधा के रूप में कहानी के अस्तित्व को अकारण ही संकटग्रस्त घोषित कर उत्तर-यथार्थवाद और उत्तर-कहानी की ज़मीन बनाना चाहते हैं। इन धारणाओं पर बात करने के पहले अगर यह ख़्याल रहे कि कहानी नाम की जिस साहित्य-विधा का चरित्र समझने का जतन किया जा रहा है, वह बाक़ायदा लिखी और पढ़ी जाने वाली विधा है और काग़ज़ पर, पाठक के एकान्त में घटित होती है तो शायद इस विधा के चरित्र और उसकी संचार-प्रक्रिया को सही सन्दर्भों में समझा जा सकेगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि कहानी के यथार्थवाद का विकल्प वृत्तान्तवाद नहीं हो सकता।

कथात्मक वास्तविकता और भाषिक व्यवहार

यदि कहानी के मुकम्मल होने का पैमाना यह हो सकता है कि आख्यान को कितने कारगर तरीक़े से पेश किया गया है तो ज़ाहिर है, वह बहुत हद तक कथाकार के निजी अभिव्यक्ति-कौशल पर निर्भर है। कहानी-कला आख़िरकार अपने बुनियादी रूप में सर्जक के अभिव्यक्ति-कौशल का परिणाम है। दूसरे शब्दों में, कहानी को उसकी भाषिक संरचना में ही पहचाना जाता है। सामाजिक वास्तविकता को भाषा के माध्यम से व्यक्त करते हुए लेखक जिस संवेदन-व्यापार से परिचालित होता है, वह वास्तविकता और भाषा दोनों से स्वतंत्र नहीं है। इसलिए कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति कौशल या भाषिक कुशाग्रता का सम्बन्ध वास्तविकता को देखने या वास्तविकता के साथ रिश्ता बनाने की विशिष्ट पद्धति से है।

कहानी की पहचान अगर वास्तविकता के अधिग्रहण और उसकी अभिव्यक्ति की पद्धति अर्थात् वास्तविकता के साथ रिश्ता बनाने के लेखकीय तौर-तरीक़ों पर आधारित है तो इसी आधार पर आज के कहानी-परिदृश्य में सक्रिय कुछ कथा-पद्धतियों को चिह्नित किया जा सकता है और कहानी के विकास की विभिन्न दिशाओं की पड़ताल की जा सकती है।

कहानी जीवन के घटित होने के दरम्यान उत्पन्न होने वाले अन्तर्विरोधों को संवेदना के स्तर पर पकड़ती है। ये अन्तर्विरोध मानवीय नियति के उन संकेतों को उजागर करते हैं जो जीवन के भीतर विपर्यय या विडम्बना के रूप में छिपे होते हैं और घट्यमान वास्तविकता की गति में से छिटक पड़ते हैं। यह सारा कारोबार भाषा में घटित होता है। यह कहना ग़लत न होगा कि कहानी में वास्तविकता के घटित होने की क्रिया उसके भाषिक व्यवहार पर निर्भर है इसलिए वास्तविकता की पहचान भाषिक व्यवहार से निर्धारित होती है।

यह धारणा संदेहास्पद है कि कथ्य अपना शिल्प स्वयं खोज लेता है। क्या वजह है कि चारों तरफ़ फैली एक ही वास्तविकता अलग-अलग कथाकारों के यहाँ अलग-अलग रूपों और शैलियों में व्यक्त होती है? ज़ाहिर है, प्रत्येक की अनुभव-ग्रहण की पद्धति और उसका भाषिक व्यवहार भिन्न होगा। भिन्नता का निर्धारण ही भाषिक व्यवहार से होता है। इसलिए कहानी की पहचान का सबसे महत्वपूर्ण कारक वह भाषिक प्रारूप है जिसमें उसे रचा जाता है।

आज परिदृश्य में जिस तरह की कहानियाँ छाई हुई हैं, उनकी चपलता और

वाचालता के चलते उनके भाषिक व्यवहार की तरफ़ ख़ास तौर पर ध्यान जाता है। जान पड़ता है कि नया कथाकार अपने यथार्थ का सामना होते ही मारे उत्तेजना के उस पर झपट पड़ा है और उसे लेकर यूरेका-यूरेका शैली में दौड़ रहा है। कहानियाँ उनकी उतावली का साक्ष्य बनती हैं। यथार्थ के प्रति स्मार्ट प्रतिक्रियाओं से बनी इन कहानियों की शिल्प-चेतना प्रायः सफलता के चालू प्रतिमानों से किसी-न-किसी तरह जुड़ जाती है। बावजूद इस शिल्प-चेतना के, ये कहानियाँ शिल्प के सुगठित रूपों में नहीं ढल पातीं, बल्कि बेतरतीब और प्रायः अराजक गठन में आकार लेती हैं। कभी-कभी तो कथ्य की उदग्रता और शिल्प की आत्मसजगता इतनी घातक हो उठती है कि कहानी की विधागत बनावट छिन्न-भिन्न होने लगती है। प्रयोगशीलता को संयत भाषिक व्यवहार के बाहर जाने दिया जाये तो वह भाषिक एडवेंचरिज़्म का रूप ले लेती है।

इन दिनों लिखी गई अनेक कहानियों में यह एडवेंचरिज़्म तेज़ी से बदल रहे यथार्थ के भीतर घुसने की हड़बड़ी और उसके अप्रत्याशित झटके बर्दाश्त करने की आकस्मिकता का नतीजा जान पड़ता है। बदलाव को लेकर अफरातफरी बहुत है। शोरशराबा तो है ही। इसलिए बदलाव के प्रति इतनी सजगता है। ऐसी सजगता नई कहानी के दौर में भी नहीं थी, जहाँ यथार्थ बदला नहीं था (तात्विक रूप से पुराना यथार्थ ही था) लेकिन कहानी के बदल जाने (अर्थात् उसके नई होने) पर ज़ोर था। आज तो यथार्थ बदला हुआ है और कहानी भी अपने को बदलना चाहती है। नई कहानी की तुलना में यहाँ शोर ज़रा कम है। लेकिन जितना भी है, कहानी के बाहर से, बदलते यथार्थ के परिसर से आ रहा है, जबकि नई कहानी में बड़बोले कथाकार के कण्ठ से फूट रहा था। तब नयेपन के प्रति अतिशय उत्साहवश पुराने मानदण्डों को नकारा गया। लेकिन नये कथ्य और शैली के प्रति सारे आग्रह के बावजूद कहानी की बुनियादी आख्यान-प्रविधि और उसके प्रचलित भाषिक प्रारूप में कोई उल्लेखनीय बदलाव नहीं आया। उस दौर में संघटित हो रही आधुनिकता को उसके जड़मूल सहित पकड़ने के बजाय यथार्थ की सतह पर हो रहे बदलावों को ही आधुनिकता के साक्ष्य की तरह पेश करने की सुविधा थी, जिसके चलते नई कहानी अपने समय के मूलगामी परिवर्तनों की तरफ़ उन्मुख होने और उसके तनाव को भाषिक व्यवहार के स्तर पर अनुभव करने से बची रही। मगर आज यथार्थ के बदल जाने का हो-हल्ला इतना ज़्यादा है कि मूलगामी बदलावों की तरफ़ उन्मुख हुए बिना कहानी उसके तनाव को भाषा में चरितार्थ करने से रह नहीं पाती।

अनेक कथाकार अपने चारों तरफ़ फैले यथार्थ से घिरे होने के अहसास से इस क़दर आक्रान्त हैं कि उसके लपटों को वे कथावस्तु के चयन की प्रक्रिया में प्रशमित नहीं कर पाते। इसलिए भाषिक व्यवहार के स्तर पर भी उस आँच को झेलते दिखाई देते हैं। नये पाठ की कहानियों में यह स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन कहानियों की अनुभव-ग्रहण की पद्धति (मोड ऑव एक्स्पीरिएन्स) में समय से टकराने का तनाव मौजूद है। वही कथाकार की भाषिक अभिव्यक्ति (मोड ऑव एक्प्रेशन) को भी निर्धारित

करने लगता है। नये पाठ के भाषिक प्रारूप में यह तनाव फैल कर उसे निरन्तर उत्तेजनापूर्ण बनाये रखता है।

लेकिन नये पाठ से इतर के कथाकारों के यहाँ यथार्थ के साक्षात्कार से उत्पन्न यह तनाव अतिक्रामक रूप ग्रहण नहीं कर पाता; इसलिये उनके यहाँ सहज-संयत भाषिक प्रारूप में कहानी सम्भव होती है—हालाँकि यथार्थ के बदल जाने की चेतना से वे भी मुक्त नहीं हैं। कहा जा सकता है कि आज का प्रायः समूचा कहानी-परिदृश्य इसी चेतना से परिचालित है इसलिए ज़्यादातर वैश्वीकरण और उसके सामाजिक प्रभाव पर इधर की कहानियाँ एकाग्र हैं। यही आज कहानी का प्रमुख एजेंडा है। नया यथार्थ इस वैश्वीकरण की गहरी छाया में साकार हो रहा है।

उत्तर-पूँजी द्वारा निर्मित यह नया यथार्थ अपनी बहुस्तरीय, जटिल और बहुरंजक प्रकृति के कारण उससे टकराने वाले संवेदनशील और परिवर्तन-सजग कथाकारों को अतिरंजित भाषिक व्यवहार के लिए प्रेरित करता है। वे नये यथार्थ के संवेदनात्मक और अनुभवमूलक रूपों की पड़ताल करने की अपेक्षा उसके साभ्यतिक और समाजशास्त्रीय आयामों के परीक्षण में अधिक रुचि लेते हैं। कहानी को वे एक जटिल और अन्तर्गुम्फित पाठ में उतारते हैं जो यक़ीनन अत्यन्त विचारोत्तेजक, सनसनीख़ेज, तेज़ गति से चलती फ़िल्म की तरह दिलचस्प पाठ है। उदय प्रकाश, योगेन्द्र आहूजा, मनोज रूपड़ा के यहाँ अथवा नये कथाकारों में नीलाक्षी सिंह, पंकज मित्र, राकेश मिश्र, गीत चतुर्वेदी आदि की कुछ कहानियों में नये पाठ के इस सम्मोहक प्रभाव को देखा जा सकता है। यहाँ नये यथार्थ का सीधा असर कथाभाषा की चुस्त-चौकन्नी और चुहल-भरी भंगिमाओं में या वैचारिक गद्य की प्रखरता से दिपदिपाते वाक्यों में अथवा प्रदीर्घ वृत्तान्त और भव्य या भयावह दृश्य खड़ा करने के भाषिक कौशल में परिलक्षित होता है। यथार्थ जितना बहुरूपिया है, नया पाठ उतना ही बहुरंजक और विविधरूपात्मक। नये पाठ में भाषा अपनी निर्मिति के प्रति नहीं, यथार्थ की निर्मिति के प्रति चौकस हुई है। वह पूर्व-प्रचलित प्रारूप, वर्णन-पद्धति और उसकी ऐंद्रिकता को प्रायः निरस्त करने की चेष्टा करती है; शिल्प की बेपरवाही में अनायास ही नया शिल्प गढ़ने लगती है, मीडियाजनित यथार्थ की संगति में नई ऐंद्रिकता का प्रस्ताव करती है। वह अपने को तोड़ती है, सहेजती है और निरन्तर अपने को एक ख़ास तरह की उत्तेजना में बनाये रखती है; नये यथार्थ को व्यक्त करने के लिये वह बराबर बेचैन रहती है। यह बेचैनी ही क़िस्साग़ोई की पारम्परिक पद्धति, यानी कहानी के वृत्तात्मक पाठ, में विक्षेप पैदा करती है और एक नये भाषिक प्रारूप की तलाश करती है।

नये पाठ से इतर भी, क़िस्साग़ोई की सरल प्रविधि से हट कर कहानी का एक भिन्न प्रारूप रचने की स्पृहा में कुछ कथाकारों ने कहानियाँ लिखी हैं। यहाँ नये यथार्थ को अपकूटित करने की जी-तोड़ बेचैनी नहीं है, न ही ग़ैर-यथार्थवादी शिल्प में वास्तविकता को समेटने का सायास उद्यम है। अगर ऐसा होता तो शशांक, ब्रजेश्वर मदान, प्रियंवद, हरीचरन प्रकाश, नवीन कुमार नैथानी, आनन्द हर्षुल, जयशंकर आदि

की कहानियों के भाषिक प्रारूप को, और उसके नयेपन को, नये पाठ की कहानियों से अलगाना मुश्किल होता। इन कथाकारों के भाषिक प्रारूप यद्यपि एक-से नहीं हैं, लेकिन कथात्मक गद्य का अपूर्व सौष्ठव इन सबके यहाँ समान रूप से देखने को मिलता है। सुगठित गद्य रचने और सजग प्रेक्षण से अर्जित वस्तुजगत को उसमें ढालने की आत्म-सजगता के बिना इस क़िस्म की कहानियाँ नहीं लिखी जा सकतीं। आज जबकि घटनात्मक वास्तविकता को वृत्तान्त में ढालने की उतावली और उत्तेजना में कहानी की क़ामयाबी तलाशी जाने लगी है—ज़रा थम कर जब वास्तविकता को सहेजने-गढ़ने और गद्य की देह में उसे धैर्यपूर्वक उतारने की कला विरल हो गई है—शशांक, आनन्द हर्षुल, नवीन कुमार नैथानी, प्रियंवद आदि का गद्य एक भिन्न पाठ का आस्वाद देता है। इनकी कहानियों में यथार्थ के बदलाव को पहचानने की न तो वैसी बेलगाम उत्कण्ठा है, न वैसा शिल्पगत अतिचार, जैसा कि नये पाठ की कहानियों में है। उल्टे, वे धीरज के साथ कथानुभव को अक्सर एक कसे हुए ढाँचे में (जो आनन्द हर्षुल के यहाँ कभी-कभी, मगर नवीन कुमार नैथानी की कहानियों में अक्सर ही संकेत, फैंटेसी या रूपक में ढल जाया करता है) उतारती हैं। चीज़ों को बारीक नज़र से देखने और संवेदनशील भाषिक प्रारूप में उन्हें चित्रित करने का कौशल कहानी के प्रचलित पाठ को बदल देता है। ये कहानियाँ यथार्थ को उसकी ऊपरी तथ्यपरकता में नहीं, उसकी आन्तरिक गतिशीलता में पकड़ती है। इसलिए इनमें घटनात्मक वास्तविकता की बजाय चरित्रों को उनके भीतरी संसार की संवेदनात्मक वास्तविकता में देखने की कोशिश होती है; प्रियंवद-जैसे कथाकार तो पात्रों के अबूझ मनोलोक की गहराइयों में जाने का जोखिम उठाते हैं। सधी-सतर्क पर्यवेक्षणशीलता और उसके अनुरूप अत्यन्त वस्तुप्रवण संयोजन में रची गई ये कहानियाँ उत्तर-पूँजी के दृश्य-प्रपंच के प्रति प्रायः उदासीन हैं, लेकिन जीवन के अन्तर्विरोधों और अलक्षित विडम्बनाओं के प्रति अत्यन्त सजग। गम्भीरता से विचार करें तो जान पड़ेगा कि कहानी-कला के विकास की सर्वाधिक सम्भावनाएँ इन्हीं कहानियों के भाषिक प्रारूप में है। इन सम्भावनाओं का आधार सजग-संवेदनशील भाषिक व्यवहार और संयत गद्य-सृजन तो है ही, यथार्थ की मुखर तात्कालिकता को संवेदना के सघन केन्द्र में विलीन कर लेने की निपुणता भी है जो कहानी को सपाट, वृत्तान्तपरक और इकहरा पाठ बन जाने से बचाती है। भाषा यहाँ यथार्थ की तनावपूर्ण मुद्रा की बजाय संवेदना की तरलता को प्रकट करने का उपकरण बनती है।

नये यथार्थ के प्रति एक भिन्न प्रतिक्रिया रमाकांत श्रीवास्तव, पंकज बिष्ट, देवेन्द्र, भालचन्द्र जोशी, अखिलेश या नये कहानीकारों में रवि बुले, शशिभूषण द्विवेदी, चन्दन पाण्डेय, मनोज कुमार पाण्डेय आदि के यहाँ लक्षित की जा सकती है। ये नये यथार्थ के प्रति कमोबेश पर्युत्सुक तो हैं लेकिन उसे लेकर अतिरिक्त रूप से सजग या उससे आक्रांत नहीं जान पड़ते। वे उतावलेपन और उत्तेजना के शिकार नहीं हैं इसलिए नये यथार्थ को सायास कहानी का विषय नहीं बनाते। उसे वे अनुभव की

स्वाभाविक निर्मिति में स्वायत्त करते हैं। नये पाठ की कहानियाँ जिस वस्तुनिष्ठता से प्रेरित होकर समकालीन सामाजिक विमर्श के क़रीब जाती हैं, उससे अछूती रह कर इन कथाकारों की कहानियाँ सघन संवेदनात्मक प्रभाव उत्पन्न करती हैं। नये यथार्थ को वे सनसनी का विषय नहीं बनातीं। इसलिए उनमें अनुभवों, दृश्यों, घटनाओं, कथा-युक्तियों का उत्तेजक संयोजन नहीं, अनुभव की अनुशासित समग्रता देखने को मिलती है। इनमें वाचाल शिल्प और अनियंत्रित भाषिक व्यवहार नहीं मिलता। इसकी बजाय क़िस्साग़ोई की प्रचलित पद्धति में किंचित ढाँचागत तब्दीली कर वृत्तान्त गढ़ा जाता है। नये यथार्थ को ये कहानियाँ प्रायः पुराने पाठ में सँजोने की चेष्टा करती हैं। इनमें सीमित स्तर पर शिल्पगत दुस्साहस और प्रयोगशीलता मिलती है और प्रायः दीर्घ वृत्तान्तों का प्रयोग किया गया है। ये कहानियाँ कथन-वक्रता और वाग्मिता को कुशलता से भाषा में पिरो कर वृत्तान्त को रंजक और आकर्षक बनाती हैं। भाषिक व्यवहार की दृष्टि से ये ख़ासी चुस्त भंगिमा की कहानियाँ हैं। रमाकांत श्रीवास्तव और रवि बुले की कथाभाषा में तो किंचित् चुहलबाज़ी भी है जो वृत्तान्त को रोचक और व्यंग्यात्मक बनाने की तरक़ीब है।

ज़ाहिर है, नया यथार्थ इन कथाकारों के भाषिक व्यवहार को नियन्त्रित नहीं करता, जैसा कि नये पाठ की कहानियों में परिलक्षित होता है। इसके बावजूद उनकी कहानियों में भाषा का सचेष्ट-सतर्क प्रयोग और शिल्प की नवीनता का पर्याप्त आग्रह मिलता है। इनकी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ये कहानियाँ ठेठ समाजशास्त्रीय औज़ार लेकर नये यथार्थ के क़रीब नहीं जातीं, लेकिन सामाजिक वास्तविकता के जिन अनुभव-प्रारूपों को कहानी में रूपांतरित करती हैं, वे कमोबेश तात्कालिकता और प्रत्यक्षवाद की पद्धति से ही निर्मित होते हैं।

इन सबसे अलग और अविशिष्ट क़िस्म की कथा-पद्धति वह है, जिस में न यथार्थ के बदल जाने का धूम-धड़ाका है, न शिल्प के अनूठे प्रयोगों से पाठक को चमत्कृत कर देने का उत्साह। नये यथार्थ के प्रति ये कहानियाँ कोई अतिरिक्त उत्साह प्रकट नहीं करतीं, लेकिन नये यथार्थ से बचना मुमकिन नहीं है। इसलिए ये कहानियाँ यथार्थ की तासीर और बनावट में हुए बदलावों को यत्नपूर्वक नहीं, अनायास ही लक्ष्य करती हैं। वे नये पाठ की कहानियों की तरह बदलावों के प्रक्रिया को नहीं, उसकी मूर्त सामाजिक परिणतियों को आख्यान का विषय बनाती हैं। परिपाटीबद्ध क़िस्साग़ोई में वे सामाजिक अन्तर्विरोधों और जीवन-विडम्बनाओं को चित्रित करती हैं। बहुसंख्यक कहानीकार इसी तरह की कहानियाँ लिख रहे हैं। तथाकथित संघर्षशील आम जन की कहानियाँ हों या दलित विमर्श और स्त्री-विमर्श की कहानियाँ—बहुधा सरलीकृत रूप-बंध और इकहरे वस्तु-विन्यास में लिखी गई कहानियाँ हैं। इनकी आख्यान-संरचना पारम्परिक और भाषिक व्यवहार अत्यन्त सहज है। इनमें भाषा से उतना ही काम लिया गया है जितने में सहज बोधगम्य वास्तविकता का विवरण दिया जा सके; उसका लक्ष्य वास्तविकता का प्रतिनिधान करना है, न कि वास्तविकता का सृजन करना। यह प्रायः

पुराने ढंग की आख्यान-शैली है जिसमें कभी प्रेमचन्द, यशपाल, अमरकान्त की पीढ़ी के लेखक उत्कृष्ट कहानियाँ लिख चुके हैं और स्वयं प्रकाश, जयनन्दन, कैलाश बनवासी-जैसे अनेक लेखक आज लिख रहे हैं। इसमें कहानी अपना कहानीपन पाने के लिये भाषा के ट्विस्ट का प्रयोग करने की बजाय यथार्थ के ट्विस्ट की खोज करती है। भाषा के अतिरिक्त उद्यम में नहीं, उसके सहज संयम में कहानी साकार होती है। इस शैली की कहानी का सौन्दर्य उसके सादगीपूर्ण इंटिरियर में होता है, शिल्पावरण में नहीं। यह कहानी की सबसे ज़्यादा आज़मायी गई प्रविधि है।

सामान्यतः इन चार प्रारूपों में आज कहानियाँ रची जा रही हैं। समकालीन वास्तविकता को आख्यान की भाषा में स्वायत्त करने की ये अलग-अलग पद्धतियाँ हैं। ये साँचाबद्ध (स्टीरिओटाइप) प्रणाली नहीं हैं; सच पूछा जाये तो प्रत्येक लेखक अपनी निजी शैली अर्जित करने की प्रक्रिया में सृजनरत होता है और अपना वैशिष्ट्य (इडिऑसिंक्रेसी) प्राप्त करता है। वैशिष्ट्य का आग्रह यानी अपना निजी स्वर खोजने की स्पृहा तीव्र होने पर भाषिक पैटर्न कभी-कभी टूट जाता है और कथा-भाषा अनूठी-अपारम्परिक हो उठती है। अपने-अपने दौर में मुक्तिबोध, ज्ञानरंजन, मलय या कृष्ण बलदेव वैद ने कहानी के प्रचलित भाषिक पैटर्न में सर्जनात्मक विक्षेप उत्पन्न किये हैं। ऐसे प्रयोग प्रायः अपवाद के रूप में हमेशा होते हैं; आज भी होंगे। इन्हीं से नयी राहें फूटती हैं।

———————